आधुनिक हिन्दी साहित्य चिन्तन में मूल्यदृष्टि का अन्तर्भाव

(भारतीय और पाश्चात्य साहित्य चिन्तन में निहित मूल्यदृष्टि के आधार पर)

इलाहाबाद विश्वविद्यालय की डी०फिल् उपाधि हेतु प्रस्तुत

शोध प्रबन्ध

•

प्रस्तुतकर्त्री

तेज इंदर पाल कौर सोही

•

निर्देशक

प्रोफेसर रघुवंश

•

हिन्दी विभाग

इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

१९७७

प्राक्कथन

सदैव मानव-मन में उत्पन्न जिज्ञासा एवं ज्ञान पिपासा ही अनुसन्धान की मूल प्रेरणा रही है। अनुसन्धान के अन्तर्गत किन्हीं विस्मृत अथवा अल्पज्ञात तथ्यों के आधार परसर्जक कल्पना एवं प्रतिभा के माध्यम से किसी तथ्य, सिद्धान्त या तात्त्विक विषय की खोज की जाती है। प्रस्तुत शोधप्रबन्ध भी मूल्यों की दिशा में अनुसन्धान का एक विनम्र प्रयास है, जिसमें साहित्य - चिन्तन को आधार मानकर पाश्चात्य, प्राचीन भारतीय एवं मध्ययुगीन हिन्दी साहित्य चिन्तन में निहित मूल्य दृष्टियों की विवेचना करते हुए आधुनिक हिन्दी साहित्य चिन्तन में मूल्य दृष्टियों का अन्तर्भाव कहाँ तक हुआ है, इस पर प्रकाश डालने का प्रयत्न किया गया है। यों तो हिन्दी साहित्य चिन्तन में मूल्यों के क्षेत्र में अब तक पर्याप्त कार्य हो चुका है, परन्तु पाश्चात्य एवं भारतीय साहित्य चिन्तन में निहित मूल्य दृष्टियों के आधार पर आधुनिक हिन्दी साहित्य चिन्तन में मूल्यों का अन्तर्भाव कहाँ तक और किस परिमाण में हुआ, इसपर अलग से कोई पुस्तक अभी तक प्रकाश में नहीं आई है। साहित्य चिन्तन में निहित मूल्यों की व्याख्या करना तथा उन मूल्यों के विषय में अन्तर्दृष्टि देना ही इस शोध-प्रबन्ध का मुख्य उद्देश्य है।

शोध के क्षेत्र में जहाँ विषय अपनी महत्ता रखता है, वहाँ विद्वान निर्देशक का निर्देशन भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं होता। मैं आभारी हूं श्रद्धेय गुरुवर्य डॉ० हरदेव बाहरी जी की, जिन्होंने मुझे डॉ० रघुवंश जी जैसे विद्वान् प्रोफेसर के निर्देशन में शोधकार्य करने की सम्मति दी। अपनी अत्यधिक व्यस्तता के मध्य डॉ० रघुवंश जी ने अपने निर्देशन में कार्य करने की अनुमति प्रदान कर मेरी इच्छा को साकार बनाने का प्रयत्न किया तथा विषय चयन जैसी जटिल समस्या

को सुलझाते हुए आधुनिक हिन्दी साहित्य चिन्तन में मुल्यदृष्टि का अंतर्भाव भारतीय और पाश्चात्य साहित्य चिन्तन में निहित मुल्यदृष्टि के आधार पर विषय पर कार्य करने की प्रेरणा दी । परिणामत: मैंने अपने शोधकार्य हेतु यही विषय चुना ।

सर्वप्रथम मैं प्रस्तुत विषय का स्पष्टीकरण करना उचित समझती हूँ । इस विषय में आधुनिक, साहित्य चिन्तन तथा मुल्यदृष्टि शब्द किंचित् व्याख्यासापेक्ष्य हैं ।

आधुनिक शब्द अर्थ विस्तार एवं कार्यक्षेत्र की दृष्टि से अत्यन्त व्यापक शब्द है । साधारणतया इस शब्द से यही अभिप्राय लिया जाता है कि उसमें पुरातन के प्रति विद्रोह और नवीन के प्रति आकर्षण होता है, परन्तु इस प्रबन्ध में आधुनिक शब्द को इस अर्थ में न लेकर एक विशेष कालावधि के लिए प्रयुक्त किया है । हिन्दी साहित्य के इतिहास में आधुनिक युग का आरम्भ ु उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य से माना जाता है । यह युग अभी तक निरन्तर साहित्य सर्जना करता जा रहा है । इस (युग) के साहित्य चिन्तन को चार कालखण्डों में विभाजित किया है-- भारतेन्दु युग, द्विवेदी युग, शुक्ल युग तथा शुक्लोत्तर युग । शुक्लोत्तर युग का काल बहुत विस्तृत है,अत: इसके अन्तिम चरण को नवलेखन की संज्ञा प्रदान कर दी है । भारतीय साहित्य चिन्तन की मौलिक परम्परा,जो पंडितराज जगन्नाथ के बाद लुप्त हो गई थी, आधुनिक हिन्दी साहित्य-चिन्तन में पुनरुज्जीवित हो उठी-- भारतीय और पाश्चात्य साहित्य सिद्धान्त हिन्दी साहित्य चिन्तन में नये रूप में ढले । साहित्य चिन्तन का तात्पर्य सम्पूर्ण साहित्य से नहीं है,क्योंकि साहित्य के अन्तर्गत तो सम्पूर्ण साहित्यिक विधाएँ आ जाती हैं, परन्तु चिन्तन का क्षेत्र मुख्यत: निबन्ध और आलोचना ही है । मैंने प्रस्तुत शोधप्रबन्ध में साहित्य-चिन्तन को ही आधार बनाते हुए मुल्यों की चर्चा की है ।

मुल्य जो वस्तुत: अर्थशास्त्र की अवधारणा है, साहित्य चिन्तन के क्षेत्र में केवल अर्थ तक सीमित नहीं रह गया है । मनुष्य में सौन्दर्य,

ज्ञान, नैतिकता एवं सुख समृद्धि की प्रवृत्तियाँ, तुष्टियाँ तथा आवश्यकताएँ स्वाभाविक रूप से वर्तमान रहती हैं । ये इच्छाएँ एवं आवश्यकताएँ उसकी ज्ञानेन्द्रियों एवं कर्मेन्द्रियों को चिन्तन तथा कर्म में प्रवृत्त करती हैं, जिसके फलस्वरूप मनुष्य कुछ निश्चित लक्ष्यों की ओर अग्रसर होता है,जो चाहे सुख, भोग, उपयोगिता, आदर्श या श्रम के रूप में ही साध्य क्यों न हो । ये लक्ष्य अपने आदर्श तथा उपयोगी रूप में मूल्य कहलाते हैं । साहित्य चिन्तन में मूल्य केवल उपयोगितावादी दृष्टिकोण ही नहीं रखते,अपितु कलावादी दृष्टि से भी सम्पन्न हैं । सृजनात्मक मूल्यों का भी साहित्य चिन्तन में अपना अलग महत्त्व है । अत: साहित्य चिन्तन में यदि मूल्यों के विस्तार पर दृष्टि डालें तो ये सामाजिक,नैतिक,मानवीय, सांस्कृतिक, धार्मिक, कलात्मक,सृजनात्मक आदि के रूप में प्रतिष्ठित दिखायी देते हैं ।

बहुत प्राचीनकाल से ही साहित्य चिन्तन में उपर्युक्त मूल्यों का अन्तर्भाव होता रहा है । देश-विदेश के अनेक आचार्यों ने अपने-अपने साहित्य-चिन्तन में विभिन्न प्रकार से मूल्यदृष्टियों की विवेचना की है । उन सभी विवेचनाओं के विस्तार में न जाकर, संक्षिप्त वर्णन करते हुए,आधुनिक हिन्दी साहित्य चिन्तन के सीमित परिवेश में ही उपलब्ध मूल्य दृष्टियों का आकलन एवं विवेचन प्रस्तुत प्रबन्ध में अभीष्ट है ।

यहाँ एक बात और स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि प्रस्तुत शोधप्रबन्ध में आधुनिक हिन्दी साहित्य चिन्तन के अन्तर्गत सन् १८५७ से १९५५ई० तक के ही प्रमुख साहित्य चिन्तकों की मूल्य दृष्टियों की विवेचना की है तथा ऊपर पड़े विदेशी एवं भारतीय प्रभाव को स्पष्ट करने का प्रयास किया है । यद्यपि इस समय के भी सभी साहित्य चिन्तक इस शोध प्रबन्ध में नहीं आ सके हैं, परन्तु मुझे इस बात का सन्तोष है कि जितने आये हैं, उतने ही इस काल के साहित्य चिन्तन के स्वरूप और उसमें निहित ■ मूल्य दृष्टियों को स्पष्ट कर देने के लिए पर्याप्त हैं । आधुनिक हिन्दी साहित्य चिन्तन में सन् ५५ के पश्चात् जिन प्रमुख साहित्य चिन्तकों की मूल्य दृष्टियाँ विकसित हुई हैं, दिशा-

निर्देशन के लिए ही उनकी चर्चा करना इस प्रबन्ध में अपेक्षित है ।

आधुनिक हिन्दी के साहित्य चिन्तकों, पाश्चात्य साहित्य चिन्तकों तथा भारतीय साहित्य शास्त्र के आचार्यों की उपलब्ध कृतियों को आधार सामग्री मानकर उनमें निहित मूल्य दृष्टियों का विश्लेषण करते हुए यह शोधप्रबन्ध प्रस्तुत किया गया है ।

प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध पाँच अध्यायों में विभाजित है ।प्रथम अध्याय में साहित्य की सर्जनशीलता एवं मूल्य प्रक्रिया पर प्रकाश डालते हुए विभिन्न विद्वानों, चिन्तकों (पाश्चात्य एवं भारतीय) द्वारा दी गई मूल्यों की परिभाषा एवं अर्थ को स्पष्ट करके, मूल्यों का वर्गीकरण किया गया है। सृजनात्मक मूल्य एवं दर्शनशास्त्र में मूल्य को अलग से व्याख्यायित किया है तथा मूल्यों के क्रम की चर्चा करते हुए इनमें होने वाले परिवर्तन पर भी विचार किया है ।

द्वितीय अध्याय में पाश्चात्य साहित्य चिन्तन, प्राचीन भारतीय साहित्य चिन्तन तथा हिन्दी के मध्ययुगीन साहित्य चिन्तन की परम्पराओं में मूल्यदृष्टियों का अन्तर्भाव दिखाने का प्रयास किया गया है । पाश्चात्य साहित्य चिन्तन के अन्तर्गत प्लेटो से इलियट पर्यन्त प्रमुख साहित्य-चिन्तकों की मूल्य दृष्टियों को प्रकाश में लाने का प्रयास किया है ।प्राचीन भारतीय साहित्य चिन्तन में प्रमुख साहित्यशास्त्रियों (भरत से जगन्नाथ तक) के काव्यसिद्धान्तों की विवेचना करते हुए, उनकी उपयोगितावादी एवं कलावादी मूल्यदृष्टियों को व्याख्यायित किया है । हिन्दी के मध्ययुगीन साहित्य चिन्तन में भक्तिकालीन साहित्यचिन्तन में निहित मूल्यदृष्टियों को मुख्यत: तथा रीति-कालीन साहित्य चिन्तन में निहित मूल्यदृष्टियों को गौणत: विवेचित किया है। भक्तिकालीन साहित्य चिन्तन को प्रमुखत: इसलिए दी गई है,क्योंकि उसमें रीति-काल की अपेक्षा बहुत अधिक विकास हुआ है ।

शोधप्रबन्ध के तृतीय अध्याय में आधुनिक हिन्दी साहित्य-चिन्तन का विकास दिखाया है । इस साहित्य चिन्तन में पाश्चात्य एवं भारतीय प्रभाव कहाँ तक तथा किस मात्रा में पड़ा है, इसका विवेचन करना ही प्रस्तुत

अध्याय का उद्देश्य है । नवीन दृष्टि शीर्षक के अन्तर्गत यह स्पष्ट करने का प्रयत्न किया गया है कि आधुनिक हिन्दी साहित्य चिन्तकों ने साहित्य के क्षेत्र में कहाँ तक अपनी मौलिक मान्यताएँ स्थापित की है ।

चतुर्थ अध्याय में साहित्य चिन्तन में मूल्यों के विभिन्न स्तरों की चर्चा हुई है । इसमें मूल्यों का स्तर उपयोगितावादी जैसे स्थूल स्तर से सर्जनात्मक प्रक्रिया के सूक्ष्म स्तर तक विकसित होता दिखाया है ।

शोधप्रबन्ध का अंतिम अध्याय आधुनिक हिन्दी साहित्य चिन्तकों की मूल्यदृष्टियों से सम्बन्धित है । इस अध्याय में सन् ६५ तक जिन साहित्य चिन्तकों की मूल्यदृष्टियाँ पूर्णत: विकसित हो गई थीं, उन प्रमुख साहित्यचिन्तकों की मूल्यदृष्टियों को अलग-अलग विवेचना की गई है ।साहित्य चिन्तकों को कालक्रमानुसार न रखकर उनकी प्रवृत्तियों के आधार पर आगे-पीछे रखा गया है । अन्त में अन्यान्य साहित्य चिन्तक शीर्षक में सन ६५ के पश्चात के मूर्धन्य साहित्य-चिन्तकों को मूल्यदृष्टियों की विवेचना, संक्षेप में, दिशा-निर्देशन के लिए कर दी गई है ।

प्रस्तुत शोध प्रबन्ध में साहित्य चिन्तन के अथवा मूल्य दृष्टियों के कुछ प्रबंध विश्लेषण में यदि किन्हीं साहित्य चिन्तकों की विवेचना के कुछ प्रसंग अनालोचित रह गये हों तो उन्हें मेरे शोध-विषय की सीमा को दृष्टिगत रखते हुए उदार दृष्टि से ही ग्रहण किया जाना समीचीन है ।

यों तो प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध मेरा मौलिक प्रयास है,परन्तु इस प्रयास को लक्ष्य तक पहुँचाने का श्रेय मेरे निर्देशक डॉ० रघुवंश जी को है,क्योंकि यह प्रबन्ध प्रारम्भ से अन्त तक उन्हीं के निर्देशन में लिखा गया है । अपनी व्यस्तता के ~~होते हुए~~ मध्य अपने बहुमूल्य क्षणों को देना उनके उदारमना स्वभाव का परिचायक है । यह उनके असीम स्नेह एवं आत्मीयता का ही परिणाम है कि मैं उनके निर्देशन में शोधप्रबन्ध प्रस्तुत कर सकने में समर्थ हुई हूं । अत: प्रणत हूँ आदरणीय गुरुदेव डॉ० रघुवंश जी के सम्मुख, जिन्होंने विषय चयन से लेकर

शोध-प्रबन्ध का समाप्ति तक निरन्तर प्रेरणा,प्रोत्साहन और दिशा निर्देश दिया ।

प्रस्तुत प्रबन्ध के प्रणयन में मुझे हिन्दी, संस्कृत और अंग्रेज़ी के अनेकानेक ग्रन्थों तथा पत्र-पत्रिकाओं से यथोचित सहायता मिली है, जिनकी सूची शोधप्रबन्ध के अन्त में दे दी गई है । इलाहाबाद विश्वविद्यालय के पुस्तकालय, हिन्दी साहित्य सम्मेलन,प्रयाग के संग्रहालय द्वारा भी मैं अपनी अनुशीलन-विषयक सामग्री का संचयन करने में यथेष्ठ लाभान्वित हुई हूँ । अत: उपर्युक्त संस्थाओं के पदाधिकारियों एवं कर्मचारियों के प्रति अपनी कृतज्ञता प्रकट करती हूँ । विशेषरूप से इलाहाबाद विश्वविद्यालय पुस्तकालय के राय साहब एवं गुप्ता जी की मैं आभारी हूँ, जिन्होंने समय-समय पर पुस्तकें उपलब्ध कराकर मुझे परेशानी से बचाया । साहित्य के मर्मज्ञ विद्वानों की कृतियों ने भी मेरा अनेक बार पथ प्रदर्शन किया है ।

विश्वविद्यालय अनुदान आयोग ने मुझे जूनियर फैलोशिप प्रदान कर शोधप्रबन्ध के पूरा करने में बहुत सहूलियत दी,अत: प्रबन्ध के पूरा होने पर मैं उसे धन्यवाद देती हूँ ।

अन्त में, मैं प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध के टंकक महोदय श्री रामहित त्रिपाठी जी के प्रति हार्दिक आभार प्रकट करती हूँ,जिन्होंने अत्यधिक व्यस्त रहने पर भी,समयाभाव को देखते हुए मेरे कार्य को प्राथमिकता प्रदान की ।

तेज इंदर पाल कौर सोही

(कु०) तेज इंदर पाल कौर सोही

विषयानुक्रम

विषयानुक्रम

विषय | पृष्ठसंख्या

-0-

प्रथम अध्याय

-0-

साहित्य की सर्जनशीलता एवं मूल्य प्रक्रिया

साहित्य क्या है ?

साहित्य की सर्जनशीलता

मूल्य : अर्थ एवं परिभाषा

मूल्यों के प्रकार

दर्शनशास्त्र में मूल्य

मूल्यों का वर्गीकरण

मूल्यों का क्रम (विकास)

सृजनात्मक मूल्य

मूल्यों में परिवर्तन

-0-

साहित्य क्या है ?

`साहित्य` शब्द बहुत ही विस्तृत है । इससे समस्त जीवन की अभिव्यक्ति एवं सम्पूर्ण ज्ञान की चेतना का बोध होता है । समस्त जीवन अथवा सम्पूर्ण ज्ञान को आत्मसात् करके प्रत्यक्ष शब्दों में व्यक्त करने की शक्ति ही साहित्य कहलाती है, किन्तु यह शक्ति किसी एक व्यक्ति, समाज अथवा जाति के पास नहीं होती । इसीलिए विभिन्न देशों में विभिन्न जातियाँ व्यक्ति एवं समाज होने से एक ही प्रकार के साहित्य की सृष्टि नहीं हुई । इस वैषम्य के कारण ही साहित्य की एक परिभाषा भी निरूपित नहीं की जा सकती ।

जैसे किसी मूल्यवान वस्तु को विभिन्न प्रकार से देख-समझकर हम उसके विषय में भिन्न- भिन्न निष्कर्ष निकालते हैं एवं उसका मूल्य आँकते हैं । उसी प्रकार साहित्य को भी विद्वानों ने भिन्न-भिन्न दृष्टिकोणों से देखा है एवं कई लक्षण देते हुए परिभाषाएँ बनाई हैं, परन्तु इन सभी परिभाषाओं में विभिन्न दृष्टियों के अन्तर्गत भी साहित्य में निहित मूल्य प्रक्रिया किसी न किसी दृष्टि से व्यंजित हुई है । विद्वानों द्वारा साहित्य के विषय में निर्मित लक्षण अधिकतर उनकी अपनी-अपनी भावनाओं के अनुरूप होने के कारण एक-पक्षीय एवं एकांगी है, तब भी साहित्य के स्वरूप का परिचय पाने के लिए इनका उल्लेख करना आवश्यक है--

संस्कृत में साहित्य का व्युत्पत्तिमूलक विग्रह `सहितस्य भाव: साहित्यम्` लिखकर किया जाता है । इसमें प्रयुक्त `सहित` शब्द से ही कुछ विद्वानों ने `साहित्य` शब्द की व्युत्पत्ति मानी है । `साहित्य` शब्द की व्याख्या करते हुए `हिन्दी साहित्य कोश` के रचयिताओं ने लिखा है कि सहित में यत् प्रत्यय लगाने से `साहित्य` शब्द बना है, जिसका अर्थ शब्द और अर्थ का यथावत् सहभाव अर्थात् साथ होना है । इस प्रकार सार्थक शब्दमात्र साहित्य है । साहित्य शब्द से सहभाव तो ध्वनित होता है, किन्तु यह सहभाव किसका ? शब्द और अर्थ का ही यह सहभाव

हो, ऐसा तो कहीं भी इस शब्द में दिखाई नहीं देता । इसके अनुसार तो साहित्य उस रचना को कहेंगे, जिसमें एक में ही अनेक वस्तुएँ समाहित की गई हों, क्योंकि इसके साहित्य में सह या साथ का ही तो भाव होता है ।

कुछ विद्वान इसका अर्थ कल्याण सहित भी करते हैं-- 'हितेन सह सहितम्' । वे साहित्य में से सहित (अर्थात स + हित के साथ) को पृथक् करके हितकारक रचना को साहित्य कहते हैं । यह लक्षण साहित्य के बहुत ही व्यापक अर्थ के ग्रहण का परिणाम है तथा सर्वांश में सत्य सिद्ध भी नहीं होता ।

'साहित्य' शब्द के व्यापक अर्थ में इसका एक पर्याय वाङ्मय भी प्रयुक्त हुआ है । विचार करने पर ज्ञात होता है कि वाङ्मय एवं साहित्य में अत्यधिक भेद है, क्योंकि जहाँ वाङ्मय श्रुत अर्थात् मौखिक परम्परा से प्राप्त समस्त ज्ञान को अपने में समेट लेता है, वहां साहित्य, ज्ञान और अनुभव का लिपिबद्ध रूप ही कहा जा सकता है --

'ज्ञान राशि के संचित कोश का नाम साहित्य है ।'[१]

अंग्रेजी में साहित्य शब्द का वाङ्मय के समान ही व्यापक अर्थ ग्रहण किया गया है-- क्योंकि अंग्रेजी शब्द लिट्रेचर (Literature) वर्णों या अक्षरों (Letters) से बना है । अत: इस व्यापक अर्थ में अक्षरों का सारा विस्तार ही साहित्य कहा जायेगा ।

साहित्य शब्द का प्रचलन सातवीं-आठवीं शती से माना जाता है, क्योंकि इससे पहले संस्कृत में तो अधिकतर साहित्य के स्थान पर काव्य शब्द का ही प्रयोग किया जाता था एवं संस्कृत के विद्वान् शब्द और अर्थ के सहभाव को ही काव्य कहते थे[२] । इसी प्रसंग में उन्होंने सहितो, सहभाव आदि का उल्लेख किया । बाद में आहिस्ता-आहिस्ता शब्द और अर्थ के सहभाव(साहित्य) का तो लोप

---

१ महावीर प्रसाद द्विवेदी

२ साहित्य विज्ञान, प्रथम खण्ड, पृ०सं०१६-२० ।

हो गया और रह गया केवल मात्र सहभाव (साहित्य) अर्थात् शब्द और अर्थ के साहित्य के स्थान पर केवल साहित्य शब्द चल पड़ा ।

आधुनिक युग में साहित्य शब्द का प्रयोग दो अर्थों में होता है-- (१) ज्ञान का साहित्य और (२) भावना का साहित्य । ज्ञान के साहित्य के अन्तर्गत बुद्धिपक्ष की प्रधानता रहती है एवं भावना के साहित्य में हृदय पक्ष प्रधान होता है । हम अपने विवेचन में ऐसे साहित्य को लेंगे, जिसमें बुद्धिपक्ष की अपेक्षा हृदयपक्ष की प्रधानता रहती है । इसके अन्तर्गत अधिकतर काव्य, नाटक, उपन्यास, कहानी, निबन्ध एवं समीक्षा सम्बन्धी ग्रन्थों की गणना की जाती है ।

साहित्य की सर्जनशीलता

साहित्य की सर्जनशीलता से तात्पर्य उसकी गत्यात्मकता एवं रचनाशीलता से है । सर्जनशीलता में विषय का उतना ही महत्व होता है, जितना उसपर क्रियाशील विधि का । क्योंकि मनुष्य अपने सर्जनात्मक अनुभवों को प्रत्ययों, प्रतीकों, बिम्बों आदि में अभिव्यक्त करता है । सर्जन की अन्तर्वृत्ति क्रियाशील है । मानव समाज की रचना विभिन्न भागों के समूह से हुई है,जो कि समाज की समष्टि में एकसाथ क्रियाशील होते हैं । फिर समाज की यह संरचना अपनी आन्तरिक शक्ति से अथवा बाह्य तत्वों की प्रतिक्रिया से आन्तरिक परिवर्तन में सक्षम होती है । इस प्रकार एक समाज अपने स्थायी मूल्यों के साथ सर्जनात्मक विकास करने में समर्थ होता है । इस परिवर्तन एवं गत्यात्मकता में ही सर्जन है तथा रचनाशीलता के कारण ही साहित्य में कल्पना का महत्व है । कल्पना यथार्थ की नई सृष्टि करती है एवं कल्पना के सहारे ही मनुष्य का अनुभव प्रतीकात्मक सर्जन कर्म में समर्थ होता है ।

साहित्य सर्जना के मूल में आत्माभिव्यक्ति एवं मानव की सौन्दर्योपासना की प्रवृत्ति वर्तमान रहती है । यह साहित्यसर्जना बहुत कुछ मानव की सत्यनिष्ठा से भी प्रबोधित होती है तथा अनुभूति की भूमिका पर मनुष्य सौन्दर्य, सत्य, शिव और आनन्द जैसे सर्जनात्मक मूल्यों का साक्षात्कार करता

साहित्य में सर्जन तथा मूल्य अभिन्न हैं। सर्जन कर्म स्वतः चालित निरपेक्ष और मूल्यबोध का ऐसा स्तर है, जो अपना लक्ष्य स्वयं है। मूल्य को सर्जन से अलग करके उसके सही महत्त्व को आँका नहीं जा सकता अर्थात् सर्जनशीलता के साथ ही मूल्य की महत्ता को प्रतिपादित किया जा सकता है। साहित्य में मूल्यों की स्थिति अलग और स्वतंत्र नहीं है। सर्जन की पूर्णता और निरन्तरता के अतिरिक्त मूल्य का कोई रूप या स्थिति नहीं है। मानव जीवन के प्रवाह को मनुष्य ने सदा अपनी मूल्य दृष्टि से देखा है एवं अपनी सर्जनशीलता के आधार पर ही विवेचित किया है। मानव-बुद्धि भी प्रकृति की गत्यात्मक रचनाशीलता के साथ ही उच्चतम मूल्यों का अनुसंधान करती है। इस प्रकार साहित्य की सर्जनशीलता से मूल्यों का अभिन्न सम्बन्ध है।

मूल्य : अर्थ एवं परिभाषा

साहित्य चिन्तन की परम्परा पर दृष्टि डालने से ज्ञात होता है कि मूल्य सम्बन्धी मानवीय दृष्टि का विकास निरन्तर होता चला गया है। साधारण बोलचाल की भाषा में मूल्य शब्द का अर्थ समझने-समझाने का प्रयत्न किया जाये तो हम उसका अर्थ दो प्रकार का मानते हैं--पहला तो मूल्य का लक्षण अथवा गुण ही मूल्य का अर्थ है और दूसरा अर्थ वे वस्तुएँ हैं, जो मूल्य रूपी गुण अथवा लक्षण रखती हैं।

मूल्य शब्द मूल + यत् से बना है, जिसका अभिप्राय है, किसी वस्तु के विनिमय में दिया जाने वाला धन, दाम अथवा बाजार भाव आदि।[१] अतः मूल्य शब्द वस्तुतः अर्थशास्त्र की अवधारणा है। व्यावहारिक जीवन में भी मूल्य शब्द का सम्बन्ध क्रय-विक्रय की मनोवृत्ति से माना जाता है। यदि हम किसी साधारण (कम पढ़े-लिखे) व्यक्ति से मूल्य शब्द का अर्थ पूछें तो

---

१ आप्टे वामन शिवराम : 'संस्कृत हिन्दी कोष', पृ०सं०८१२।

वह कहेगा कि मूल्य वही है, जो हमारी किसी आवश्यकता की पूर्ति करता है-- जैसे भोजन एक मूल्य है,क्योंकि वह हमारी भूख को तृप्त करता है अथवा इसी प्रकार की और भी कोई वस्तु जो मानवीय इच्छाओं को तृप्त करे, मूल्य कहलाती है, किन्तु यह परिभाषा साधारण व्यक्ति के लिए ही उपयोगी हो सकती है, एक साहित्यिक के लिए नहीं । वैसे तो सभी मूल्यों का उद्भव किन्हीं आवश्यकताओं से ही होता है एवं वे उन आवश्यकताओं को पूरा भी करते हैं,परन्तु इसके साथ ही वे हमारे संवेगों एवं इच्छाओं को भी उत्तेजित करते हैं । `हम कभी भी किसी बात के लिए इच्छा,अभिलाषा, चेष्टा इसलिए नहीं करते,क्योंकि हम उसे अच्छा मानते हैं, प्रत्युत, हम उसे अच्छा इसलिए मानते हैं क्योंकि हम उसकी इच्छा करते हैं ।`[1] ये मूल्य हमारी कामनाओं की भी तुष्टि करते हैं,किन्तु साहित्यिक मूल्य कामनाओं से अधिक तत्वों की भी तुष्टि करते हैं ।

साहित्य में मूल्य का विशिष्ट अर्थ है । यहां पर मूल्य शब्द समाज-कल्याण या मानव हित वाले अर्थ तक ही सीमित नहीं है । यदि इसप्रकार की स्थिति होती तो सभी धार्मिक ग्रन्थ श्रेष्ठ साहित्य के अंग स्वीकार किए जाते परन्तु साहित्य में सुन्दर और सत्य की भी उतनी ही महत्ता है,जितनी कि शिव की ।

अंग्रेजी के में मूल्य (Value) शब्द का अर्थ हिन्दी की अपेक्षा कहीं अधिक व्यापक हो गया है,किन्तु फिर भी वह आर्थिक व्यंजना से पूर्णतया मुक्त नहीं हो पाया है । भारतीय साहित्य में मूल्य के स्थान पर प्रयोजन एवं पुरुषार्थ (धर्म,अर्थ,काम,मोक्ष) शब्दों का प्रयोग किया जाता रहा है तथापि यह प्रयोजन शब्द भी मूल्य का ही आन्तरिक रूप है । `कला कला के लिए` सिद्धान्त का प्रतिपादन करने वाले विचारकों ने साहित्य के प्रयोजन को अस्वीकार किया है । परन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि प्रयोजन को अस्वीकार करके

---

१ स्पिनोजा : एथिक्स, ३.६.

इन साहित्यशास्त्रियों एवं साहित्यकारों ने साहित्य से मूल्यों को बहिष्कृत कर दिया है। सामान्यतया इन्होंने प्रयोजन के रूप में साहित्य में किसी आचरणात्मक या सामाजिक मूल्य की स्वीकृति नहीं दी है। जबकि संस्कृत में तो इसे मूल्य के अर्थ में प्रयुक्त किया जाता रहा है।

इसके अतिरिक्त मूल्य के अर्थ वाला एक शब्द 'मान' भी संस्कृत भाषा में प्रयोग में लाया जाता है। मान के अर्थ-- मापने,तौलने के साधन, अहंकार आदि हैं। हिन्दी भाषा में मूल्य और मान दोनों ही शब्द प्रयुक्त होते हैं।

मूल्य और प्रतिमान भी समानार्थी शब्द हैं।

डॉ० मेघ मूल्य के अर्थ-निर्धारण के दो पहलू मानते हैं -- (क) मूल्य की विशिष्टता एवं (ख) उन वस्तुओं का परिचय जिनमें मूल्यों की स्थिति है।[1] मूल्यों की गुणात्मकता को वे अन्तर्मुखी मानते हैं।

क्रमश: मूल्य पद के अर्थ में विस्तार हुआ है और यह मानदंड के अर्थ की भी अभिव्यक्ति करने लगा है। यही नहीं संस्कृति जैसे सूक्ष्म भाव के आधारभूत तत्वों को भी मूल्य कहा जाने लगा है।

मूल्यों का निर्माण मानव निर्मित धारणाओं से होता है। पहले मनुष्य चिन्तन करता है, चिन्तन से विचार बनते हैं, विचार धारणाओं को जन्म देते हैं एवं इन धारणाओं द्वारा ही मूल्यों का निर्माण सम्भव होता है।

मूल्यों को एक धारणा या मान के रूप में परिभाषित किया जा सकता है,जो कि सांस्कृतिक हो सकता है या केवल व्यक्तिगत और जिसके द्वारा चीजों की एक-दूसरे के साथ तुलना की जा सकती है, स्वीकार या अस्वीकार की जाती है--एक दूसरे की तुलना में उचित या अनुचित, अच्छा या

---

१ डॉ० रमेशकुन्तल मेघ : 'सौन्दर्य मूल्य और मूल्यांकन',पृ०सं०२।

बुरा, ठीक या गलत माना जाता है[1]। समाज में मानव जीवन एवं व्यवहार के सम्बन्ध में कतिपय धारणाएँ होती हैं, जो कि स्थिर होकर मूल्य पद पर प्रतिष्ठित होती हैं । किसी वस्तु या विषय के प्रति अनुकूल धारणा ही मूल्यों को जन्म देती है ।

मूल्यों का निर्माण सापेक्ष स्थिति में होता है,क्योंकि एक के समक्ष अनेक की सत्ता का निर्माण होता है,। तो वस्तुओं में गुण-अवगुण का आरोप होता है । यह गुण अवगुण के रूप में हुआ परीक्षण ही कालान्तर में मूल्य का रूप धारण कर लेता है । अत: मूल्यों के निर्माण के लिए द्वैत का होना भी अनिवार्य है । क्योंकि एक के होने से मूल्यों का निर्धारण संभव नहीं होता । महावीर दधीच ने भी अपनी पुस्तक में लिखा है--

`मूल्य की उत्पत्ति के लिए द्वैत अनिवार्य है .... एक ही ब्रह्म हो तो मूल्य प्रक्रिया के लिए अवकाश ही नहीं होगा । एक अर्थात् पूर्ण । पूर्णता में मूल्यों की स्थिति तो दूर मूल्यीय चेतना भी नहीं हो सकती । मतलब यह है कि अपूर्ण में पूर्णता की लालसा मूल्य चेतना अर्थात् तत्सम्बद्ध प्रक्रिया का मूल है[2]।`

मूल्यों का क्षेत्र बहुत ही व्यापक है । मनुष्य की बोध क्रिया सहित समस्त विधाओं का लक्ष्य मूल्यों का उत्पादन है । मूल्यांकन मानव व्यवहार की सार्वभौम विशेषता है एवं मूल्यान्वेषण की जिज्ञासा उसमें युग-युगान्तर से रही है । दार्शनिकों एवं साधकों ने हमेशा ही यह जानने की कोशिश की है कि वह कौन-सी कसौटी है, जिसपर कसकर हम किसी वस्तु की धातु को पहचान सकते हैं । इस प्रकार मनुष्य का व्यवहार एवं प्रत्येक अनुभव मूल्यभावना से अनुप्राणित रहता है । उसकी जिन तथ्यों में रुचि होती है वे अर्थों या मूल्यों के वाहक होते हैं।

---

१ एच०एम०जॉनसन : `सोशियोलॉजी: ए सिस्टेमैटिक इण्ट्रोडक्शन` ।

२ महावीर दधीच : `आधुनिकता और भारतीय परम्परा`,पृ०सं० ६ ।

जिस-जिस वस्तु में मनुष्य की रुचि होती है, वह-वह वस्तु उसके लिए मूल्यवान् होती है । पाश्चात्य विचारक जॉन, डेवी एवं सैमुएल अलेक्जेंडर भी मूल्यों को रुचि की तृप्ति करने वाले ही मानते हैं अथवा संतुष्टि को ही मूल्य कह देते हैं। मूल्य ज्ञान की क्रियात्मकता की या सर्जना की रुचि की भी तृप्ति करते हैं ।

विभिन्न विद्वानों ने मूल्यों के विषय में भिन्न-भिन्न परिभाषाएँ दी हैं,जो कि ध्यातव्य हैं--

निकोलाई हार्टमान कहते हैं--'मूल्य न सिर्फ वस्तुतंत्र नहीं है, वे मूल्यवान वस्तुओं की संभावना की पूर्वावश्यक शर्त है ।'[1]

'मूल्य स्वयंभू है.... उनका भाव मूल्यचेतना पर अवाश्रित है । चेतना उनका ग्रहण कर सकती है, उन्हें बना नहीं सकती ।'[2] इसप्रकार हार्टमान ने मूल्यों को वस्तुओं से प्रकट होते नहीं बताया और न ही चेतना को उनकी जलदात्री ही कहा है बल्कि वे उनको स्वयंभू मानते हैं ।

पेरि ने अत्यधिक उदार वृत्ति अपनाते हुए मूल्य को विस्तृत आकार प्रदान किया है । वे प्रत्येक वस्तु छोटी-छोटी क्रियाएं, सृजन,मनोविकार आदि सभी को मूल्य मानते हैं ।[3] कुछ विद्वान मानते हैं कि पसंद, राग,द्वेष आदि भावानुभूति में ही मूल्य की उपलब्धि होती है ।

मैकेंजी ने दर्शनशास्त्र के किसी भी व्याख्यात्मक शब्द,उद्देश्य, लक्ष्य,शुभ, आदर्श के लिए मूल्य की संज्ञा दे दी है तथा सौन्दर्य और हर्ष को मूल्य के केन्द्रीय तत्व माना है ।[4]

इस प्रकार इन विद्वानों ने मूल्यों का सम्बन्ध मानव से काफी हद तक स्वीकार किया है ।

---

१ निकोलाई हार्टमान : एथिक्स,पृ०सं० १८६ ।

२ निकोलाई हार्टमान : एथिक्स,पृ०सं० २१८ ।

३ पेरि : जनरल थियरी ऑव वैल्यु ।

४ जे०एस०मैकेंजी : नीति प्रवेशिका,अनुवा० गोवर्धन भट्ट ।

हमारे वर्तमान युग की आवश्यकताएं अनेक एवं विविध प्रकार की हैं। हमारी सबसे बड़ी आवश्यकता है-- जीवन सम्बन्धी मुल्यों के प्रति भावात्मक दृष्टिकोण का होना। इसलिए मुल्यों का अनुसंधान वहीं तक महत्त्वपूर्ण है,जहां तक वह हमें जीवन के तथ्यों की अवगति देता है। वस्तु भी वही मुल्यवान समभी जाती है जो मनुष्य के विकास में योग दे वही वस्तु अंतिमरूप से तथा स्वलक्ष्य दृष्टि से मुल्यवान् हैं, जो कि व्यक्तियों को विकास अथवा आत्म-विकास की और ले जाती है।[1] जहाँ मनुष्य मुख्यत: मुल्यों के उत्पादन के लिए व्यावृत होता है वहाँ वह कभी-कभी ऐसे काम भी कर डालता है जो मुल्यों के उत्पादक न होकर विनाशक होते हैं। अत: मनुष्य ऐसी क्रियाएँ भी करता है जो निषेधात्मक मुल्यों को उत्पन्न करती है। मूल्य किसे कहते हैं ? यह प्रश्न अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है, जैसा कि उपर्युक्त विवेचन से ज्ञात होता है,परन्तु इस प्रश्न का उत्तर 'मनुष्य किन वस्तुओं को अपने जीवन में मुल्यवान समझते हैं अथवा महत्त्व देते हैं ?' इस दूसरे प्रश्न के उत्तर से सम्बन्धित है। अन्तत: मुल्यवान वस्तु वह है जिसकी मनुष्य कामना करता है। मनुष्य द्वारा किये गये मुल्यात्मक निर्णय न तो कल्पनात्मक ही होते हैं और न केवल शौक की वस्तु, वास्तव में वे मानव प्रकृति की अनिवार्य आवश्यकता हैं।

जॉन लॉक के प्रसिद्ध सिद्धान्त का वर्तमान काल के मुल्य संबंधी अनुशीलन पर गहरा प्रभाव देखा जा सकता है।[2] जॉन लॉक ने गुणों के दो विभाग माने हैं -- (१) मुल गुण, (२) गौण गुण। वस्तुत: मूल गुणों की स्थिति तो वस्तुओं में ही होती है,किन्तु गौण गुणों की अनुभूति विशेष बनावट या रचना के कारण होती है। मुलगुण वस्तुनिष्ठ होते हैं एवं गौण गुणों को आत्मनिष्ठ की संज्ञा से अभिहित किया जाता है।

श्री स्टेस ने आत्मनिष्ठ और वस्तुनिष्ठ में इस प्रकार से भेद किया है --

---

१ अर्बन : फंडामेंटल्सऑव एथिक्स,पृ०सं० १८।

किसी मूल्य को हम आत्मनिष्ठ कहेंगे यदि उसकी सत्ता पूर्णतया अथवा अंशत: किन्हीं मानवीय इच्छाओं, संवेदनाओं, सम्मतियों अथवा दूसरी मनोदशाओं पर निर्भर करती है। एक वस्तुनिष्ठ मूल्य इसके विपरीत होगा। वह एक ऐसा मूल्य होगा, जो मनुष्य की किसी इच्छा, संवेदना अथवा दूसरी मनोदशा पर निर्भर नहीं करता[1]। इस प्रकार वस्तुनिष्ठ मूल्य स्वयं पर निर्भर करते हैं, जबकि आत्मनिष्ठ मूल्य दूसरे की मनोदशाओं पर निर्भर करते हैं।

मूल्य का अर्थ एवं परिभाषा देने के पश्चात् अब यह प्रश्न उठता है कि साहित्य में मूल्यों की अभिव्यक्ति किस प्रकार होनी चाहिए ? इस विषय में भी विद्वानों में मतभेद है, क्योंकि जहां एक ओर विद्वानों ने साहित्य में मूल्यों की स्थापना की है, वहां दूसरी ओर कुछ ने साहित्य में मूल्यों के विषय में विशेष जागरूकता हानिकर मानी है। अत: मूल्यों की अभिव्यक्ति के विषय में प्रचलित विचारों को हम मुख्यत: चार वर्गों में विभाजित कर सकते हैं--

(१) साहित्य में मूल्यों की स्थापना की एक सीमा है-- प्रचारात्मक दृष्टिकोण का होना अर्थात् प्रत्येक मूल्य नैतिक, राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक अथवा आध्यात्मिक आदि का प्रचार होना चाहिए। इससे तात्पर्य है कि मूल्यों का विवेचन साहित्य में परोक्षरूप से न हो। इस प्रचारात्मक दृष्टिकोण को मानने वाले विचारक साहित्य के सौन्दर्य का अनिष्ट मूल्यों की स्थापना में नहीं देखते हैं।

(२) दूसरा अतिवाद पहले प्रचारात्मक दृष्टिकोण से एकदम विपरीत पड़ता है, इसमें मूल्यों के विषय में विशेष जागरूकता लेखक के लिए तथा उसकी कृति के लिए अच्छी नहीं मानी जाती। इस दृष्टिकोण वाले विचारकों के मत से साहित्य में मूल्यों के विषय में जागरूक रहने वाला साहित्यकार अपनी कृति में सौन्दर्य नहीं ला सकता, क्योंकि जब वह साहित्य में भी नैतिक एवं सामाजिक आदि मूल्यों की स्थापना के विषय में ही सचेत रहेगा तो वह साहित्य में स्वाभाविक सौन्दर्य सृष्टि करने में असमर्थ ह रहेगा।

---

१ डब्लू०टी० स्टैस : रिलीजन एण्ड द माडर्न माइण्ड, पृ०सं०२६।

(३) तीसरे वर्ग में ऐसे विचार आते हैं,जो अभिव्यक्ति के माध्यम से साहित्य में मूल्यों का आगमन सम्भव मानते हैं ।

(४) चौथे वर्ग के विचारकों का मत है कि साहित्य में मूल्य अन्तर्निहित होते हैं न कि किसी प्रयत्न से लाये जाते हैं ।

वास्तव में, कहीं तो साहित्य में मूल्य अन्तर्निहित होते हैं और कहीं अभिव्यक्ति के माध्यम से उनकी स्थापना करनी पड़ती है । वैसे अधिकांशत: मूल्यों की स्थापना से साहित्य के सौन्दर्य के अनिष्ट की संभावना नहीं रहती, परन्तु ऐसा हो भी सकता है । अत: साहित्य में मूल्यों की अभिव्यक्ति इन चारों प्रकारों से हो सकती है ।

मूल्यों के प्रकार

मूल्यों के विषय में प्रचलित परिभाषाओं के आधार पर मूल्यों के दो प्रकार निश्चित होते हैं--

(१) आंतरिक या साध्यात्मक मूल्य

(२) साधनात्मक मूल्य

मतभेदों का सम्बन्ध इन दोनों कोटियों के मूल्यों से हो सकता है । भिन्न-भिन्न प्रसंगों में एक ही मूल्य साध्यात्मक अथवा साधनात्मक हो सकता है,किन्तु ~~साधनात्मक~~ साधारणतया साध्यात्मक मूल्य उन वस्तुओं तथा स्थितियों में पाया जाता है,जो उस दशा को उत्पन्न करती है । साधनात्मक मूल्य अपने साधनों एवं परिणामों के कारण मूल्यवान होते हैं,जब कि साध्यमूल्य अपने कारण ही मूल्यवान होते हैं । इनमें युग-युग तक देश काल की जिज्ञासाएँ,आदर्श,चरमोत्कर्ष और श्रेष्ठता प्रतीक हो जाती है ।

जे०एस० मैकेंजी ने भी मूल्यों के यही दो वर्ग साधनमूल्य (Instrumental Value) और स्वत: मूल्य (Intrinsic Value) माने हैं । जहां भोजन ~~और~~ का मूल्य प्राणी की भूख पीड़ा को शांत करने के लिए तथा वस्त्र का मूल्य तन ढाँकने के लिए एवं सुन्दरता बढ़ाने के साधन के रूप में होता है, वहाँ दूसरी ओर कुछ ऐसे मूल्य हैं,जो साधन के रूप में ही नहीं,वरन्

स्वयं अपने-आपमें मूल्यवान होते हैं, जैसे-- सौन्दर्य, सत्य, ज्ञान, स्वाधीनता आदि। भारतीय विद्वानों ने भी चतुर्वर्ग सिद्धि नामक धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष की अपनी व्याख्या की जिसका पालन तत्कालीन विद्वानों ने सौन्दर्यरंजन में किया। ग्रीक विद्वानों ने प्रकृत मूल्यों को अर्थात् साध्यात्मक मूल्यों को चुनकर सत्य, सौन्दर्य और शिवत्व के चरम मूल्य माने।

साधन मूल्यों के आधार मनुष्य, प्रकृति और समाज है परन्तु जब मनुष्य अपने सामाजिक अहं की तृप्ति के साथ अपने आदर्शों तथा आत्म की पूर्ति में संलग्न हो जाता है तो साध्य मूल्यों की प्रतिष्ठा होती है। साधनात्मक मूल्यों को साध्यात्मक मूल्यों की अपेक्षा में ही समझा जा सकता है, क्योंकि वस्तुओं के साधनात्मक मूल्य उन प्रयोजनों के सापेक्ष होते हैं, जिनकी वे पूर्ति करते हैं। हमारे मन में आन्तरिक या साध्यात्मक मूल्य जीवन या सचेत अनुभव की वांछनीय स्थिति में रहता है।

मूल्यों को वस्तुनिष्ठ कहने से तात्पर्य है कि सामान्य संवेदना तथा कल्पना से सम्पन्न सभी मनुष्य उन्हें चेतन जीवों के सुख के साधनों अथवा उपादानों के रूप में ग्रहण कर सकते हैं। अर्थशास्त्र नामक विज्ञान की सत्ता यह सिद्ध करती है कि वस्तुओं का मूल्य व्यक्तियों के निजी पक्षपातों के बावजूद वस्तुओं का मूल्य होता है। इसी प्रकार पाक-शास्त्र यह सिद्ध करता है कि विभिन्न खाद्य पदार्थों का मूल्य वस्तुगत होता है। कला-कौशल के वे सब तंत्र और तरीके जिनके द्वारा मनुष्य अपनी मूल इच्छाओं तथा जरूरतों को सरलतापूर्वक पूरा करता है, सभ्यता कहलाते हैं। हम सभ्यता को एक साधनात्मक मूल्य कह सकते हैं, जब कि स्वतन्त्रता, सुरक्षा, स्वास्थ्य आदि साध्यात्मक या चरम मूल्य हैं। साध्य या साधनों का यह अंतर एक सापेक्ष वस्तु है। स्वतन्त्रता और स्वास्थ्य जहां अपने में साध्य है वहां दूसरे मूल्यों के उपयोग का साधन भी है। साध्य मूल्य स्वयं अपने लिए कामना का विषय होते हैं, इसलिए इनको चरम मूल्य भी कहा जाता है। जीवन का साध्य या चरम मूल्य जीवन ही होता है। गौण रूप में वे वस्तुएं तथा प्रवृत्तियां जो हमारे अंदर में मूल्यवती सचेत दशाओं को उत्पन्न करती हैं,

स्वयं मूल्यवान मानी जा सकती हैं। चरम अर्थ में हमारी सचेत जीवन दशाएँ ही साध्य होती है, लेकिन गौण अर्थ में वे स्थितियां जो उन जीवन-दशाओं को जन्म देती हैं, मूल्यवान कही जा सकती हैं।

चरम मूल्य चेतन अनुभव के कुछ रूपों के समानात्मक होते हैं। आचारशास्त्र के इतिहास में चरम आदर्श या मूल्य के सम्बन्ध में हम अनेक धारणाएँ पाते हैं। इनका अधिष्ठान वस्तुएँ नहीं, अपितु वस्तुओं द्वारा आनन्द लेने की क्रियाएँ एवं वस्तुओं का अनुचिन्तन ही है। सुन्दर वस्तु का मूल्य भी एक नैतिक कर्म की भांति साधनात्मक होता है। साध्य अथवा चरम मूल्य वे अनुभूतियां हैं, जो सुन्दर वस्तुओं तथा नैतिक कर्मों द्वारा जगायी जाती हैं। चरम मूल्य या श्रेय स्वयं जीवन का नाम, जीवन की विशेषता है, जो वांछनीय समझा जाता है। वस्तुत: मूल्यों का अनुचिन्तन आत्मचिंतन का ही एक रूप है, क्योंकि ये चरम मूल्य जो सब प्रकार के मूल्यांकन का आधार हैं, अंतत: हमारे मस्तिष्क के ही वास्तविक या कल्पित रूप हैं। जीवन के चरम मूल्यों को जानने के लिए हमें किसी प्रकार का प्रयत्न नहीं करना पड़ता, क्योंकि वे जीवन से अत्यधिक अंतरंग ढंग से जुड़े होते हैं, इसलिए वे जाने नहीं जाते, अपितु पहचाने जाते हैं।

किसी उपयोगी वस्तु का मूल्य भी इसलिए होता है, क्योंकि उसमें मानव-श्रम जोड़ दिया जाता है। मूल्य तथा श्रम के सम्बन्धों पर विचार करते समय कार्ल मार्क्स के दर्शन एवं जॉन लेयर्ड के इस कथन को नहीं भूलना चाहिए कि 'आर्थिक मूल्यों के समावेश से ही नवलतर मूल्य सिद्धान्तों का उदय होता है।'[१] क्योंकि किसी भी सुन्दर वस्तु के लिए उपभोक्ता की इच्छा तथा उपयोगिता जितना महत्त्व रखती है, उतना ही उस वस्तु के निर्माण में श्रम भी आवश्यक होता है। अत: किसी सुन्दर वस्तु का विशेष तत्त्व उपयोगिता ही नहीं है।

---

१ जॉन लेयर्ड : दि आइडिया ऑव वैल्यू।

साध्य साधन, मूल्य प्रकारों के अतिरिक्त विद्वानों ने मूल्यों के और भी कई प्रकार किए हैं। जैसे जो मूल्य शुभ अथवा श्रेयस की प्राप्ति कराने वाले हैं, उन्हें धनात्मक (Positive) मूल्य तथा अशुभ मूल्यों को ऋणात्मक (Negative) मूल्य कहा गया है[1]।

मूल्यों में परिवर्तन की स्थिति को देखते हुए मूल्यों को दो प्रकारों में विभाजित किया जा सकता है-- प्रथम स्थिर मूल्य एवं द्वितीय गतिशील मूल्य। मूल्यों में परिवर्तन तो होता रहता है, परन्तु फिर भी ऐसा कोई आमूल परिवर्तन नहीं होता, जिससे कि पिछले समस्त सांस्कृतिक उपादान पूर्णतया विलुप्त या परिवर्तित हो जावें। स्थिर मूल्यों के अन्तर्गत वे मूल्य आते हैं, जिनमें परिवर्तन बहुत कम होता है और अगर होता भी है तो दीर्घ कालावधि के बाद। इनमें सत्य इत्यादि नैतिक मूल्य, सांस्कृतिक तथा धार्मिक मूल्य आ जाते हैं। कुछ सामाजिक मूल्यों की गणना भी उनके अन्तर्गत की जाती है। गतिशील मूल्यों के अन्तर्गत वे मूल्य आते हैं, जिनमें स्थिर मूल्यों की अपेक्षा परिवर्तन कुछ शीघ्र हो जाता है। इनमें आर्थिक एवं राजनीतिक इत्यादि मूल्य आते हैं, जो कि देशकालानुसार परिवर्तित होते रहते हैं। इसी प्रकार मूल्यों के यथार्थपरक एवं भावपरक दो विभाग और बनते हैं। इन समस्त मूल्य-प्रकारों को देखते हुए हम साहित्य के मूल्यों को दो विभागों में बांट सकते हैं--

(१) स्थूल मूल्य।

(२) सूक्ष्म मूल्य।

स्थूल मूल्यों के अन्तर्गत मानव-व्यवहार से सम्बन्धित मूल्य, नैतिक मूल्य, सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक मूल्यों की गणना की जा सकती है तथा सूक्ष्म मूल्यों में धार्मिक, आध्यात्मिक, सौन्दर्यात्मक, आनन्दपरक तथा सृजनात्मक मूल्य आ जाते हैं।

---

१ जे०एस० मैकेंज़ी : नीति प्रवेशिका, अनुवादक गोवर्धन भट्ट, पृ०सं०१९० ।

मूल्य वस्तुत: सत्य और महत्त्वपूर्ण के प्रति अनजान मान्यताएँ हैं। मूल्यभावना कहीं विदेश से अनुकरण द्वारा प्राप्त नहीं होती, क्योंकि मूल्यों का अध्ययन या विज्ञान मानवीय विधाओं का ही एक अंग है। मनुष्य का बौद्धिक विकास उसके अनुभव जगत को समृद्ध और व्यापक बनाता गया है। मनुष्य की राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक व्यवस्थाएँ सृजनात्मक मूल्यों पर परिचालित हुईं और उसके (मनुष्य के) ऊंचे सर्जनात्मक मूल्यों की अभिव्यक्ति उसके दार्शनिक, कलात्मक, साहित्यिक और धार्मिक प्रयत्नों में लक्षित हुई। मानव इतिहास केवल मनुष्य की रचनात्मक मूल्य प्रक्रिया के रूप में समझा जा सकता है। मानवीय विधाएँ मानव व्यवहार को भौतिक गतियों का समूह मानकर नहीं चलतीं, इनकी अभिरुचि का विषय वे गतियाँ न होकर उनमें निहित अर्थ या मूल्य होते हैं, अर्थात् वे अर्थ जिनकी कर्ताओं के प्रयोजनों की अपेक्षा में प्रासंगिकता होती है। मनुष्य एक लक्ष्यान्वेषी प्राणी है, वह विश्व की असंख्य वास्तविकताओं को साध्यों और साधनों, मूल्यों और मूल्याभावों के रूप में ग्रहण करता है ताकि वह उन्हें पाने अथवा दूर रखने की कोशिश कर सके। उसे विभिन्न साध्य तथा मूल्य सुपरिचित जान पड़ते हैं इसलिए उसकी दृष्टि में वे साधन भी सुपरिचित बन जाते हैं, जो उन साध्यों से अक्सर सहचरित होते हैं। वे पदार्थ जिनमें सौन्दर्य आदि मूल्य अनुस्यूत हैं, मानव संवेदना के साथ क्रिया-प्रतिक्रिया करते हुए ही उन मूल्यों को प्रकट कर सकते हैं।

दर्शनशास्त्र में मूल्य

दर्शनशास्त्र के में मूल्यों की विवेचना बहुत ही विस्तृत पैमाने पर की गई है। दर्शन का कार्य ही मनुष्य या मानव जीवन से सम्बन्धित चरम मूल्यों की प्रकृति का अन्वेषण या उद्घाटन करता है। हम कोई काम किस प्रयोजन से करते हैं? किस मूल्य के लाभ या प्राप्ति के लिए करते हैं? अथवा हमें किन मूल्यों की प्राप्ति के लिए व्यापृत होना चाहिए? यह बताना स्वयं दर्शन के अनेक कार्यों में से एक है। दर्शन मनुष्य की सौन्दर्य, नैतिकता तथा धार्मिक आध्यात्मिक अनुभूतियों पर भी उसी प्रकार विचार

करता है, जिस प्रकार कि विज्ञानों से प्राप्त होने वाले ज्ञान पर ।

दर्शन सांस्कृतिक प्रतीति का विश्लेषण, व्याख्या और मूल्यांकन करने का प्रयत्न करता है । दर्शन जिसका विषय विविध प्रकार के मूल्य हैं यह जानने की कोशिश करता है कि महत्त्व के हिसाब से विभिन्न मूल्यों अर्थात् महत्त्वपूर्ण जीवन धारणाओं को साध्यसाधन क्रम में किस प्रकार व्यवस्थित किया जा सकता है । वह यह भी देखता है कि प्रामाणिकता कितने प्रकार की होती है तथा जीवन में किन मूल्यों का कहाँ और क्या स्थान होना चाहिए । मूल्यविज्ञान, होनेके नाते दर्शन की समन्वय क्रिया का विषय जीवन के मूल्य हैं जिनका एकीकरण एवं समन्वय करने की वह चेष्टा करता है । मूल्यों के सामान्य विज्ञान के रूप में दर्शन में उतनी ही अविच्छिन्नता मिलेगी जितनी कि किसी दूसरे शास्त्र के इतिहास में मिल सकती है । अन्त में यही कह सकते हैं कि दर्शन का कार्य मनुष्य जीवन से सम्बन्धित चरम मूल्यों की प्रकृति का अन्वेषण करना है ।

मूल्यों का वर्गीकरण

कला या साहित्यिक कृति के मूल्य अनेक प्रकार के होते हैं । जहाँ तक इन मूल्यों के वर्गीकरण का प्रश्न है, इस सम्बन्ध में कई कठिनाइयाँ सामने आती हैं । इसका कारण यह है कि मूल्यों की सत्ता अमूर्त है, अतः मूल्यों के वर्गीकरण के सम्बन्ध में भी कोई निश्चित आधार नहीं अपनाया जा सकता फिर भी विभिन्न विद्वानों ने मूल्यों के पृथक -पृथक वर्गीकरण प्रस्तुत किए हैं । भारतीय विद्वानों द्वारा निर्मित मूल्य सूचियाँ भारतीय दर्शन में प्रतिपादित चार पुरुषार्थों के अन्तर्गत ही आ जाती है । कुछ विद्वान कलात्मक या साहित्यिक कृति के पांच प्रकार के मूल्य मानते हैं--

(१) सांस्कृतिक मूल्य

(२) कलात्मक मूल्य

(३) आनन्दवादी मूल्य

(४) नैतिक और धार्मिक मूल्य

(५) व्यावहारिक मूल्य

प्रत्येक संस्कृति के निजी आदर्श तथा मूल्य होते हैं, जिससे उसकी नैतिकता, व्यवस्था, न्याय पद्धति और धर्म, दर्शन, साधना, साहित्य तथा कला में अभिव्यक्ति के रूप में अनुप्राणित होते हैं। संस्कृति, सामाजिक, नैतिक और धार्मिक मूल्यों के साथ दार्शनिक, साधनापरक, साहित्यिक तथा कलात्मक मूल्यों को विकसित करने में समर्थ होती है। संस्कृतियों के अध्ययन में मूल्य दृष्टियों की अपेक्षा करके बहुत दूर तक चला नहीं जा सकता। नैतिक मूल्य, राजनीति के आदर्श, आर्थिक व्यवस्थाओं में निहित आदर्श कल्पनाएँ, धर्मसाधना, अध्यात्म दर्शन, साहित्य कला आदि के मूल्यों को संस्कृति के अन्तर्गत स्वीकार किया जाना चाहिए। बौद्धिक, नैतिक तथा आत्मिक प्रगति की प्रतिष्ठा में संस्कृति की मूल्य दृष्टि निहित है। मैकाइवर और हुमायूँ कबीर ने संस्कृति का संबंध मूल्यों के क्षेत्र से माना है[१]। मूल्यों के इस तटस्थ एवं निर्वैयक्तिक अनुसंधान के बिना जिसे हम संस्कृति कहते हैं, न तो सभ्यता अस्तित्व में ही आ सकती है और न वह अपना अस्तित्व बनाए रख सकती है। किसी कलात्मक या साहित्यिक कृति के मूल्य कई प्रकार के हो सकते हैं। एक सांस्कृतिक क्रिया के रूप में भी कला का हमारे लिए विशेष महत्व नहीं है कि उसमें मूल्य निहित होते हैं। अरस्तू ने लिखा है कि 'कवि का उद्देश्य जो घटित हुआ है उसका चित्रण करना नहीं, बल्कि ऐसी संभावनाओं को अभिव्यक्ति देना होता है जो घटित हो सकती हैं[२]।' कला जीवन और विश्व के उन पक्षों को अभिव्यक्ति देती है जिनका मानव जाति के लिए आवेगात्मक मूल्य होता है। कला का सम्बन्ध उन सामाजिक और नैतिक प्रेरणाओं से ही नहीं होता, जिनकी विशिष्ट अभिव्यक्तियाँ एक युग को दूसरे से भिन्न करती हैं बल्कि उन मनोवैज्ञानिक दार्शनिक और आध्यात्मिक प्रवृत्तियों से भी होता है, जो युग-युग से प्रायः वही रहती है और जिनके कारण विभिन्न युग दूसरे को समझना संभव पाते हैं।

---

१ मैकाइवर : सोशल काजेशन एवं हुमायूँ कबीर : आवर हेरिटेज हेरिटेज

२ पोएटिक्स, पृ०सं० ६

पाश्चात्य विचारक नार्थ्रोप ने भी कलात्मक मूल्यों को महत्त्व प्रदान किया[१]।

सांस्कृतिक एवं कलात्मक मूल्यों की चर्चा करने के पश्चात् अब हम आनन्दवादी मूल्यों को लेते हैं। साहित्य के मनीषियों ने आनन्दवादी अर्थात् रसात्मक मूल्यों का निर्वचन विशेषरूप से किया है। उनके अनुसार किसी काव्य या साहित्य का अध्ययन करते समय विशेषरूप से आनंद की अनुभूति होनी चाहिए। जो कृति वक्ता अथवा श्रोता को आनन्द की अनुभूति नहीं कराती उसका ये किंचित मात्र भी महत्त्व नहीं स्वीकार करते। कई तो यहाँ तक कहते हैं कि नैतिक और साहित्यिक मूल्यों का महत्त्व ही इसलिए होता है, क्योंकि वे रसात्मक बोध में स्थिरता लाते ही कलात्मक मूल्य तो रससिद्धि के माध्यम ही होते हैं।

भारतीय संस्कृति में विशेषत: आत्मिक या आध्यात्मिक मूल्यों को सबसे ऊंचा स्थान दिया गया है। मूल्यों की गुणात्मक चेतना का सर्वोच्च रूप मोक्ष धर्म या आध्यात्मिक मनोवृत्ति है। आत्मनियंत्रण, आत्मत्याग, आत्म बलिदान, पाप चेतना, तटस्थता और आत्मपरिवर्तन आदि का विचार आध्यात्मिक मूल्यों के प्रसंग में किया जाता है। टवायनबी समन्वय प्रधान धर्म को मूल्य के स्तर पर मानव भविष्य की आशा और संभावना के रूप में स्वीकार करते हैं। धार्मिक तथा आध्यात्मिक अनुभूति हमारे मत में मूलत: एक रहस्यपूर्ण परिणति, लक्ष्य अथवा उपस्थिति की प्रतीति है जो जीवन के समस्त मूल्यों का मूल या आधार समझी जाती है। धार्मिक आध्यात्मिक जीवन में चरम मूल्य के प्रति एक व्यावहारिक मनोभाव विद्यमान रहता है। धार्मिक साधक का अनुराग उन निर्वैयक्तिक मूल्यों से होता है, जिनका उसकी कल्पना में परम श्रेय से सम्बन्ध है। मानवीय स्थितियों में उत्पन्न होने वाला भेदया अंतर सदैव किसी अर्थ या मूल्य का अंतर होता है। बंधुत्व, बराबरी, स्नेह सम्बन्ध, सहयोग जैसे मानवीय मूल्य होते हैं।

---

१ एफ० एस०सी० नार्थ्रोप : द मीटिंग ऑव ईस्ट एण्ड वेस्ट।

जीवन मूल्य साहित्य के मूल्य होते हैं। जीवन के मूल्यों की उपलब्धि का प्रयत्न करते हुए ही हममें उनके प्रति उदासीनता की भावना जगती है। ब जीवन के प्रति मूल्यों के प्रति वैराग्य वास्तव में उच्चतर मूल्यों के प्रति आसक्ति का द्योतक है। जब तक मनुष्य अनुसन्धान करता रहेगा तब तक वह दार्शनिक, आध्यात्मिक खोज से विरत नहीं होगा। दार्शनिक होने के नाते मनुष्य संपूर्ण मूल्य क्रम को समझ लेना चाहता है। धार्मिक होने के नाते वह उच्चतर मूल्यों की उपलब्धि कर लेना चाहता है।

जिन मूल्यों में हमारी रुचि होनी चाहिए वे मानव मूल्य हैं, उनका आधार एवं अभिव्यक्ति का माध्यम मानव जीवन है। धर्मभावना से मुक्त चिन्तन ने मानव जीवन की गति में सामाजिक भावबोध को आत्मसात् कर नैतिक मूल्यों को प्रतिफलित किया। सामाजिक व्यवस्था के रूप में मानव इतिहास को स्वीकार करने वाली दृष्टि किन्हीं नैतिक मूल्यों का आधार ग्रहण करती है, परन्तु जिन समाजों ने धर्मभावना को आध्यात्मिक साधना के रूप में विकसित किया है, उनके नैतिक मूल्य भी आध्यात्मिक मूल्य-बोध के उपकरण या साधन बन जाते हैं--[1] भारत में सदा ही नैतिक मूल्यों को धर्म और दर्शन के अंग के रूप में स्वीकार किया गया है। इनके पृथक अध्ययन की आवश्यकता भी अनुभव नहीं की गई।

नैतिक जीवन से सम्बन्धित मूल्यों के दो स्तर होते हैं। नैतिक कर्म अपने आप में मूल्य हैं, क्योंकि वह जीवन को उपयोगी और सार्थक बनाते हैं। यहाँ मूल्य का साधन रूप है परन्तु इन कर्मों के नैतिक पक्ष की मूल्य रूप में अर्थात् सर्जनात्मक अनुभूति के रूप में उपलब्धि नैतिकता का भिन्न स्तर है जहाँ श्रेयस स्वत: जीवन के लिए वांछनीय हो जाता है। औचित्य की दृष्टि से नैतिक कर्म की स्थिति केवल साधनपरक मूल्य तक सीमित है। नैतिक मूल्य अपने

---

१ आई०सी० शर्मा : एथीकल फिलॉसफी ऑफ इण्डिया, पृ०सं० २९

अधिक से अधिक सर्जनात्मक रूपमें व्यक्ति के माध्यम से समष्टि को सुख,शांति और आंतरिक समृद्धि की ओर उन्मुख करते हैं। नैतिक पैमानों की सापेक्षता यह सिद्ध करती है कि नैतिक मूल्य तथा पैमाने वस्तुनिष्ठ नहीं हैं। श्री वैस्टर मार्क ने लिखा है--"नैतिक मूल्यों की तथाकथित वस्तुनिष्ठता का अर्थ यह होगा कि वे मूल्य मानवीय मस्तिष्क की निरपेक्षता में अस्तित्त्ववान हो सकते हैं[1]। नैतिक,सांस्कृतिक,कलात्मक मूल्यों का काव्य के महत्त्व का निर्णय करने में योगदान असंदिग्ध है किन्तु ये मौलिक तथा आत्यंतिक नहीं हैं या तो आनुषंगिक हैं या माध्यमिक।

व्यावहारिक मूल्य आदर्श या सात्त्विक मूल्यों के आश्रय,विषय और स्थूल निदर्शन बनते हैं। बुद्धिक्षेत्र के मूल्य व्यवहार क्षेत्र के मूल्यों को अपना विषय बनाते हैं अथवा अपने विषय में अन्तर्भुक्त करते हैं।

धर्म के अन्तर्गत सभी सामाजिक और नैतिक मूल्यों की गणना की जाती रही है एवं अर्थ का सम्बन्ध भौतिक मूल्यों से माना जाता है।काम में सौन्दर्य और कला सम्बन्धी सभी मूल्य सम्मिलित हैं और मोक्ष में आध्यात्मिक मूल्यों की गणना की जाती है। यद्यपि ये सभी मूल्य अपना पृथक्-पृथक् महत्त्व रखते हैं तथापि इनमें से किसी भी मूल्य की उपेक्षा नहीं की जा सकती। यहाँ तक कि आध्यात्मिक मूल्य भौतिक मूल्यों से ऊँचे होने पर भी उनकी उपेक्षा नहीं कर सकते। जो साहित्य हमको इन धर्म,अर्थ,काम, मोक्ष सम्बन्धी मूल्यों की ओर ले जाता है वही सत्साहित्य है, वही ज्ञानवृद्धि कर सकता है एवं जीवन के लिए उपयोगी सिद्ध होता है।

डॉ० रमेश कुन्तल मेघ ने नीचे की तालिका में अपना मूल्यों का वर्गीकरण इस प्रकार दिया है --

---

१ वैस्टर मार्क : एथीकल रिलेटिविटी,वैस्ट,पृ०सं० ३।
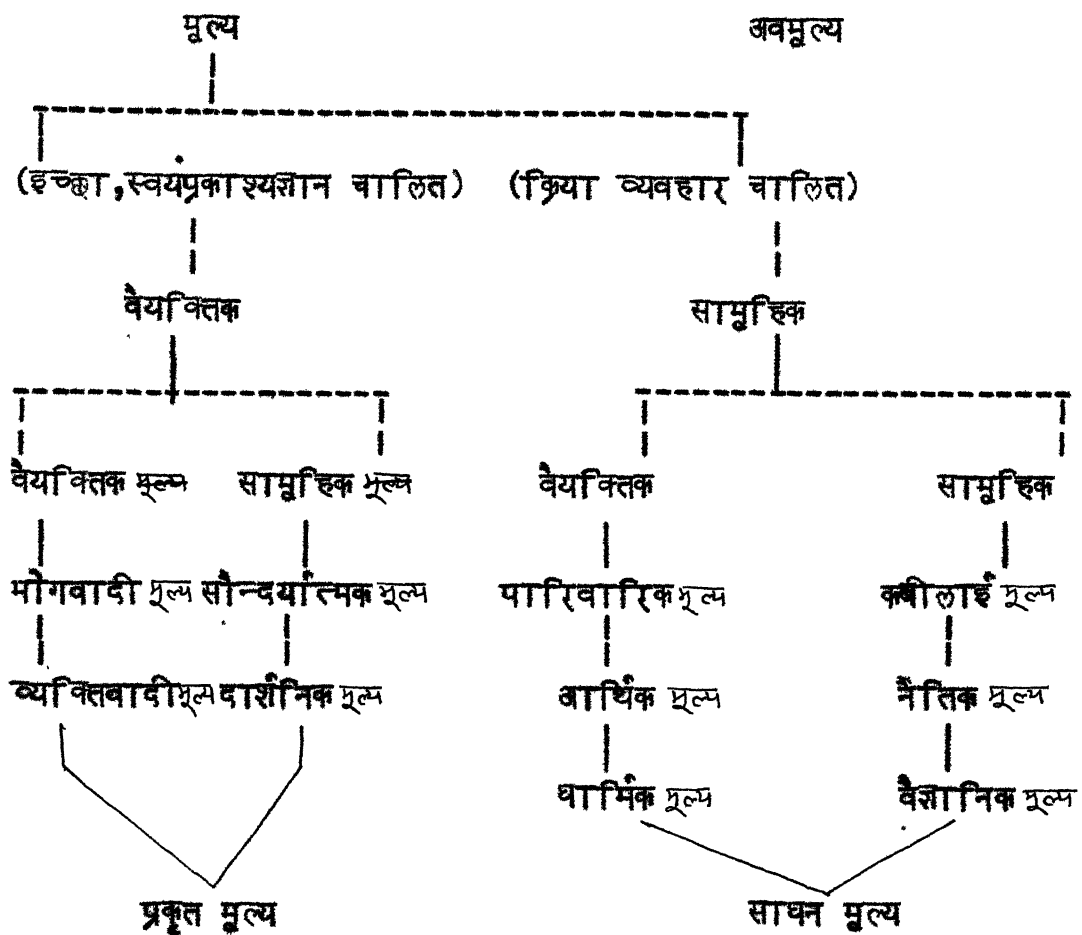
डॉ० मेघ कहते हैं कि मूल्यों[1] में परस्पर विनिमय होता रहता है,इसलिए इनमें स्पष्ट विभाजक रेखाएँ नहीं खींची जा सकतीं । कुमार विमल ने मूल्यों को दो वर्गों में विभाजित किया है[2]-- शाश्वत और सामयिक । यह तो हुई भारतीय साहित्य की बात । पाश्चात्य साहित्य में भी मूल्यों की भिन्न-भिन्न सूचियाँ निर्मित की गई हैं । पश्चिमी दार्शनिक विश्लेषणात्मक, विधि अपनाने के कारण, चार-पाँच मूल्यों के स्थान पर आठ मूल्यों की सूची प्रस्तुत करते हैं :--

---

१ डॉ० रमेश कुन्तल मेघ: सौन्दर्य मूल्य और मूल्यांकन, पृ०सं० ४१ ।

२ कुमार विमल : आलोचना,अक्तूबर-दिसम्बर,१९६७ ।

१- शरीरात्मक मूल्य

२- आर्थिक मूल्य

३- मनोरंजनात्मक मूल्य

४- सामाजिक मूल्य

५- चरित्रात्मक मूल्य

६- सौन्दर्यात्मक मूल्य

७- बौद्धिक मूल्य

८- धार्मिक मूल्य[१]

उपर्युक्त सूची अर्बन की पुस्तक में मिलती है। अर्बन ने इन आठ मूल्यों की सूची में भी तीन प्रमुख विभाग किए हैं, जिसके अनुसार वह पहले तीन मूल्यों को शरीर विषयक मूल्य कहते हैं और दूसरे मूल्यों को सामाजिक। बौद्धिक, सौन्दर्यात्मक तथा धार्मिक मूल्यों को समकक्ष मानकर आध्यात्मिक मूल्यों के अन्तर्गत रखते हैं। अर्बन के शब्दों में --'सम्पूर्ण आत्मानुभूति अथवा आत्मा की एक ही कर्म में सहसा अनुभूति नाम की कोई वस्तु नहीं है। जीवन एक प्रक्रिया है एवं अपने स्वभाव से ही निर्वाचनों की एक शृंखला है। वह अनिवार्य रूप से एक मूल्य का दूसरे मूल्य के लिए बलिदान है।'[२]

किन्तु कुछ विद्वानों ने इससे भिन्न भी मूल्य-सूचियाँ निर्मित की हैं,क्योंकि कतिपय विचारक मूल्यों को सामान्य श्रेणी में रखना चाहते हैं तो कुछ मूल्यों को विशिष्ट वर्ग प्रदान करना चाहते हैं। पैरि ने मूल्यों को नकारात्मक सकारात्मक,विकासवादी और वास्तविक आदि श्रेणियों में विभाजित किया है[३]।

एक विभाजन सुखवादी, सौन्दर्यवादी, धार्मिक, आर्थिक एवं तार्किक का भी है।

---

१ अर्बन, वेल्यूएशन इट्स नेचर एण्ड लॉ

२ वही

३ पैरि, जनरल थियरी ऑफ वैल्यू

कुछ ने मूल्यों को सैद्धान्तिक, आर्थिक, सौन्दर्यात्मक, सामाजिक, राजनैतिक तथा धार्मिक श्रेणियों में विभक्त किया है। परन्तु इन वर्गीकरणों पर यह आरोप लगाया जाता है कि वे सभी संस्कृति के बंधनों में जकड़े हुए हैं अर्थात् इनकी अपनी कोई स्वतन्त्र सत्ता नहीं है। शेलर मूल्यों का ग्रहण भाव से मानते हैं तथा वस्तुओं को केवल मात्र मूल्यों की वाहक कहते हैं। शेलर ने सुख से पवित्रता की भावना तक मूल्यों का एक क्रम निर्धारित किया है। उन्होंने मूल्यों का निम्नतर स्तर संवेद्य सुख दुख का माना है, उससे ऊपर प्राणिक स्तर को रखा है। तीसरे स्थान पर आध्यात्मिक मूल्यों को तथा सर्वोपरि स्थान धार्मिक मूल्यों को दिया है, जिसका केन्द्रबिन्दु पवित्रता है।[१]

ई० एस० ब्राइटमैन ने मूल्यों की सूची भिन्न प्रकार से दी है--

(१) धार्मिक मूल्य

(२) पूर्णतया साधनपरक मूल्य

(क) प्राकृतिक मूल्य

(ख) आर्थिक मूल्य

(३) साध्यात्मक मूल्य

(क) शारीरिक मूल्य

(ख) रचनात्मक मूल्य

(ग) कार्य मूल्य

(४) उच्च साध्यात्मक मूल्य

(क) सामाजिक मूल्य

(ख) चरित्रात्मक मूल्य

(ग) सौन्दर्यात्मक मूल्य

(घ) बौद्धिक मूल्य

(ङ०)धार्मिक मूल्य[२]

---

१ उद्धृत फ्रौन्डिजी, व्हॉट इज वैल्यू, पृष्ठ०१००-१०२।

२ ई०एस० ब्राइटमैन : ए फिलॉसफी ऑव रिलीजन।

इन्होंने समस्त धार्मिक मूल्यों को एक वर्ग के अन्तर्गत रखा है एवँ अन्य मूल्यों के तीन वर्ग बना दिए हैं । साधनपरक मूल्य एक वर्ग में तथा साध्यपरक मूल्यों की दो श्रेणियाँ बना दी हैं । इस प्रकार ब्राइटमैन ने मूल्यों का क्षेत्र अर्बन द्वारा सूचित मूल्य क्षेत्र से भी विस्तृत है ।

सुरक्षा के मूल्यों को महत्व देते हुए जे०एम० फिण्डले ने भिन्न-भिन्न प्रकार के मूल्य निश्चित किये हैं--

सुरक्षा के मूल्य

(क) संतोष एवं असंतोष संबंधी मूल्य

(ख) भय ,समझ एवं गंभीर चिंतन संबंधी मूल्य

(ग) विश्वास एवं ज्ञान सम्बन्धी मूल्य

(घ) शक्ति एवं स्वतंत्रता सम्बन्धी मूल्य[1]

नार्थ्रोप ने कलात्मक एवं सौन्दर्यपरक मूल्यों का ही अधिक वर्णन किया है[2]।

एडम स्मिथ ने दो प्रकार के मूल्य माने हैं --

१- वैल्यू इन यूज

२- वैल्यू इन एक्सचेंज[3]

इन दोनों उपयोगी रत मूल्य तथा विनिमय रत मूल्यों का अन्तर स्पष्ट करते हुए उन्होंने कहा है कि एक का प्रयोजन क्रयशक्ति तथा दूसरे का अर्थ उपयोगिता है । जैसे पानी की अत्यधिक उपयोगिता है, किन्तु उसकी क्रयशक्ति नहीं के बराबर है । इसी तरह अन्य वस्तुओं में भी वे इन दोनों मूल्यों को ही लेते हैं ।

मार्क्स ने इन दोनों मूल्यों को स्वीकार करते हुए आर्थिक मूल्यों पर अत्यधिक बल दिया है । उन्होंने अपने दर्शन में समाज के मंगल और व्यक्तित्व के चरम उत्थान को ही सर्वोपरि माना है ।

---

१ जे०एम० फिन्डले : वैल्युज एण्ड इण्टेन्शन्स

२ एफ०एस०सी० नार्थ्रोप : द मीटिंग ऑव ईस्ट एण्ड वेस्ट

वस्तुत: आर्थिक मूल्यों की भित्ति पर ही दार्शनिक एवं सौन्दर्यात्मक मूल्य कायम होते हैं। जॉन लेयर्ड के निम्नलिखित कथन से यूरोपीय मूल्य सम्बन्धी दार्शनिक चिन्तन का एक सम्बद्ध रूप हमारे सामने स्पष्ट हो जाता है--

'मैं सोचता हूं कि मूल्य के नवलतर सिद्धान्तों का अभ्युदय आंशिक रूप से तो आर्थिक मूल्यों के समावेश से और आंशिक रूप से दार्शनिकों द्वारा होता है।'[1] इन्हीं कारणों से मूल्यों का वर्गीकरण भिन्न-भिन्न प्रकार से किया गया है। किसी ने आर्थिक दृष्टिकोण अपनाया, किसी ने व्यक्तिवादी, किसी ने भोगवादी, किसी ने नैतिकतावादी तथा किसी ने रहस्यवादी। इसी खोज में व्याख्याकार उच्च से उच्चतर मूल्यों की ओर अग्रसर होते है रहे।

अन्तत: मूल्यों के क्षेत्र के विषय में यह कहा जा सकता है कि मूल्यों का क्षेत्र विस्तृत है। किसी ने उसे सीमित दृष्टिकोण से ग्रहण किया एवं किसी ने उसका विस्तृत वर्णन किया।

आधुनिक हिन्दी के विचारकों एवं पाश्चात्य विचारकों द्वारा निर्मित उपर्युक्त समस्त सीमित एवं विस्तृत मूल्य सूचियों को दृष्टि में रखते हुए हम एक व्यवस्थित मूल्य-सूची बना सकते हैं, जिसके अन्तर्गत लगभग सभी मूल्यों का समावेश हो जाता है। सूची इस प्रकार है--

१- आर्थिक मूल्य

२- मानवीय एवं मांगलिक मूल्य

३- नैतिक मूल्य

४- सामाजिक मूल्य

५- दार्शनिक मूल्य

६- धार्मिक एवं आध्यात्मिक मूल्य

७- कलात्मक मूल्य (सौन्दर्यवादी एवं आनन्दवादी)

८- सृजनात्मक मूल्य

---

१ जॉन लेयर्ड : दि आइडिया ऑव वेल्यु, भूमिका।

उपर्युक्त मूल्य-सूची के आधार पर साहित्य में मूल्यों का विवेचन सुचारु ढंग से किया जा सकता है ।

मूल्यों का क्रम(विकास)

मूल्यों के विकास में जन्मजात प्रवृत्तियाँ ही उत्तरदायी नहीं हैं, पर्यावरण भी समानरूप से महत्त्वपूर्ण है । मनुष्य समाज का अवयव होने के कारण उनमें प्रचलित मूल्यों को भी स्वाभाविक रूप से स्वीकार कर लेता है । यही नहीं, वह उन्हें अपने जीवन में भी उतारने का प्रयत्न करता है । मूल्यों का एक चक्र होता है जो जैविक आवश्यकताओं से लेकर सौन्दर्यानुभव तक विकसित होता चला जाता है । सर्वप्रथम जीवन में अर्थ का प्रश्न उठता है ।इस अर्थ सेइ प्रत्येक प्राणी परिचित होता है तथा इसके सम्पर्क में आता है,अत: व जीवन में आवश्यकताओं को पूरा करने वाले इस अर्थ को हम साहित्य में स्थूल मूल्य के रूप में लेते हैं, क्रमश: अन्य मूल्य इससे सूक्ष्म होते चले जाते हैं । अत: हम आर्थिक मूल्यों से ऊंचे मानव जीवन से सम्बन्धित मानवीय एवं मांगलिक मूल्यों को तथा आर्थिक एवं इन मानवीय मांगलिक मूल्यों की बुनियाद पर दार्शनिक, नैतिक और सौन्दर्यात्मक मूल्यों को रखते हैं । मूल्यों का यह चक्र साधन साध्य सोपानों तथा विषय विषयि को एक करता हुआ कुछ निष्कर्ष देता है । कुछ तथ्यों का निर्णय करके ही हम मूल्यों को पहचानते हैं । व इस चक्र-परिवर्तन के केन्द्र में मनुष्य इकाई की तरह है ।

मूल्यों की व्यवस्था अर्थात् विकास क्रम में के लिए सुचारु ढंग से विद्वानों ने अत्यधिक उपयोगी तीन नियम स्वीकार किए हैं--

(१) साध्यात्मक मूल्य साधनात्मक मूल्यों की अपेक्षा उच्चतर है ।

(२) शाश्वत एवं स्थायी मूल्य क्षणिक मूल्यों की अपेक्षा उच्चतर है ।[1]

(३) सृजनात्मक मूल्य असृजनात्मक मूल्यों की अपेक्षा श्रेष्ठहै ।

---

१ डॉ० ईश्वरचन्द्र शर्मा : पाश्चात्य आचार विज्ञान का आलोचनात्मक अध्ययन, पृ०सं० २०१ ।

इन नियमों के आधार पर हम मूल्यों के विषय में निष्पक्ष विवेचन कर सकते हैं। जैसे शरीर विषयक मूल्यों में अर्थ सम्बन्धी मूल्य एवं आर्थिक मूल्य तथा श्रम निस्संदेह स्वलक्ष्य मूल्य न होकर निमित्त मूल्य है। अत: इन विभिन्न मूल्यों को सामाजिक और आध्यात्मिक मूल्यों की अपेक्षा गौण ही स्वीकार करना पड़ेगा। इसी प्रकार विषय भोग आदि कुछ ही समय के लिए सुख देते हैं, जब कि आध्यात्मिक अनुभव स्थायी,आनंद प्रदान करता है। असृजनात्मक मूल्यों की अपेक्षा सृजनात्मक मूल्यों का निर्वाचन भी मूल्यों की व्यवस्था का सिद्धान्त है। निमित्त मूल्य समाप्त हो जाते हैं जब कि स्वलक्ष्य मूल्यव्यक्ति तथा समाज के लिए अधिक से अधिक प्रगत्यात्मक एवं सृजनात्मक होते हैं।ज्ञान, कला, धर्म आदि आध्यात्मिक मूल्य ~~सबके~~ हैं ऐसे हैं जो कि भौतिक वस्तुओं की भाँति नष्ट नहीं होते,अपितु सदैव सृजनात्मक रहते हैं। जिस प्रकार वैयक्तिक मूल्यों को सामाजिक मूल्यों के अधीन करना आवश्यक है, उसी प्रकार सामाजिक मूल्यों को भी आध्यात्मिक मूल्यों के अधीन करना होता है। इस प्रकार मूल्यों के क्रम में आध्यात्मिक मूल्यों का स्थान नि:संदेह उच्च है एवं सदैव शाश्वत सृजनात्मक मूल्य भी महत्त्वपूर्ण है।

सृजनात्मक मूल्य

जहाँ तक मनुष्य मूल्यों की खोज करता है,वहाँ तक उसकी प्रकृति की प्रमुख विशेषता सृजनशीलता है। मनुष्य की सृजनशीलता स्वयं मनुष्य की ज्ञानशक्ति का अतिक्रमण करती है। रचनात्मकता स्वयं अपने आप में एक मूल्य है,क्योंकि मनुष्य की सृजनात्मक क्रिया के ही परिणामस्वरूप सभ्यता और संस्कृति का जन्म होता है। जब यह क्रिया मूल्य चेतना को प्रबुद्ध करने की ओर अग्रसर होती है तभी संस्कृति का उदय होता है। सृजन में लगा हुआ कलाकार इस भाँति व्यवहार करता है,मानो सबसे ऊँचा निर्णायक,मानवीय अत: प्रकृति का श्रेष्ठतम प्रतिनिधि या प्रवक्ता स्वयं उसी की अन्तरात्मा में पैठकर उसे उचित निर्देश दे रहा हो। जीवन की अभिलाषा, जीवन की अतिरेक की कामना को ही हम सृजनशीलता कहते हैं। आत्मिक सृष्टि के धरातल पर हमारी सृजनक्रिया रहस्यमय मूल्यों अथवा रहस्यमय रूप में मूल्यवान

अनुभूतियों को प्रदीप्त करती है । सृजन की पूर्णता और निरन्तरता के अतिरिक्त मूल्य का कोई रूप या स्थिति नहीं है । साहित्य में सृजन के अन्तस में निहित प्रतिभा तथा कल्पना का अत्यधिक महत्त्व है ।

मनुष्य अपने अर्जित अनुभवों द्वारा कल्पना और प्रतिभा के माध्यम से सृजनात्मक मूल्यों का निर्माण करता है । किसी एक जाति, व्यक्ति अथवा अनेक व्यक्तियों के समूहों के अनुभव अनेक प्रकार के रूप धारण करने वाले जादूगर के खेल के समान होते हैं । कुछ अनुभव व्यक्ति के अन्तर्जगत के निर्णय होते हैं तो दूसरे उसके बहिर्जगत से सम्बन्धित होते हैं । कुछ एकदम अपनी प्राथमिक अवस्था में होते हैं और कुछ विकसित हो जाने के कारण कई घटनाओं के फल भी साबित होते हैं । प्रत्येक व्यक्ति अपने अनुभवों अर्थात् मन में उत्पन्न हुई अनुभूति के आधार पर ही कोई कार्य करने के लिए उत्सुक होता है,जिससे आत्मतुष्टि योग्य कोई रूप बन सके । अनुभव का सम्प्रेषण ही रचना होती है अर्थात् व्यक्ति जो कुछ अनुभव द्वारा अर्जित करता है, उसी के आधार पर विचारों को व्यक्त करता है, परन्तु यह भी आवश्यक नहीं है कि व्यक्ति जो कुछ अनुभव करे उसी के अनुरूप उसे रूप दे । कभी-कभी ये रूप विकृत भी हो जाते हैं,क्योंकि सभी व्यक्तियों के अनुभव परिपक्व नहीं हो सकते,इसलिए कहीं-कहीं ये त्रुटियाँ अथवा विकृतियाँ रह जाती हैं । अधिक अनुभवी एवं बुद्धिमान व्यक्ति को ये विकृतियाँ स्पष्ट दिखाई दे जाती हैं । व्यावहारिक जीवन में ये रूप विकृत होने पर भी उपयुक्त ही होते हैं, किन्तु परिस्थितियों के बदल जाने पर इनमें परिवर्तन होना सम्भव है-- बदलाव होने से व्यक्ति नए अनुभव प्राप्त करता है, जिससे इन नए और पुराने अनुभवों में संघर्ष होता है तथा एक नया रूप जन्म लेता है । ये अनुभव ही वास्तविक मूल्य हैं जो कि रचनात्मकता को जन्म देते हैं ।

मूल्यों में परिवर्तन

इतिहास में जब भी परिवर्तन आया तभी मूल्यों में भी परिवर्तन हुआ । सामाजिक विघटन के साथ मूल्य टूटे हैं और टूटते रहते हैं ।

यह मुल्य संक्रमण की क्रिया अनवरत है । समय एवं परिस्थिति के अनुरूप ही मुल्यों ने भी अपना रूप परिवर्तित किया है । हम पहले कह चुके हैं कि मुल्य उपयोगिता, सुख, श्रम तथा चरमोत्कर्ष आदि से आयोजित होते हैं तथा मनुष्य की रुचियाँ/ एवं प्रवृत्तियाँ मुल्यों की बीज होती हैं । वे सांस्कृतिक प्रतिमान भी होते हैं, जिनका हम अनुभव एवं सृजन करते हैं ।

अपने अनुभवों के आधार पर ही व्यक्ति विभिन्न धार्मिक सामाजिक,आर्थिक, राजनीतिक आदि मुल्यों के क्षेत्रों की ओर अग्रसर होता है,किन्तु एक समय ऐसा आता है, जब कि ये मुल्य आपस में टकराते हैं और नए मुल्य स्थापित होते हैं । वे नए मुल्य मनुष्य की बढ़ती हुई आकांक्षाओं, व्यक्तिगत पराजय एवं निराशा आदि द्वारा ही रूप प्राप्त करते हैं परन्तु यह नहीं कहा जा सकता कि ये नए अकस्मात् ही उत्पन्न हो जाते हैं,इन्हें उत्पन्न होकर स्थापित होने में काफी समय लगता है । क्रमशः इनको उत्पन्न करने की सामग्री जुड़ती रहती है, एक समय ऐसा आता है कि वह काफी मात्रा में एकत्रित हो जाने के कारण इतनी शक्तिशाली एवं दृढ़ हो जाती है कि नए मुल्यों को स्थापित करने को बाध्य करती है ।

इन्हीं सम्बन्धों के परिवर्तित होने से मुल्यों में भी परिवर्तन होता है । मुल्यों का अपना कोई स्वतंत्र अस्तित्व नहीं होता । वे शाश्वत नहीं परिवर्तमान हैं । मानव के उत्थान -पतन के साथ मुल्यों ने भी नया जीवन देखा है । हम यह नहीं कह सकते कि जिन मुल्यों की एक बार प्रतिष्ठा हो चुकी है वे परिवर्तित नहीं हो सकते,क्योंकि जब मानव स्वयं बदलता है तो समाज में भी परिवर्तन आता है और तब मुल्यों में भी परिवर्तन होना स्वाभाविक है । यह परिवर्तन पुराने मुल्यों के साथ परम्परा से संलग्न भी होता है तथा उनकी अपेक्षा तुलनात्मक ढंग से भी घटित होता है,परन्तु यह परिवर्तन ऐसे नहीं आता कि पुराने समस्त सांस्कृतिक उपादान विलुप्त हो जावें अथवा साहित्य में स्थापित पुराने सभी मुल्य एकदम नष्ट हो जावें तथा उनका स्थान एकदम से नवीन मुल्य ग्रहण कर लें ।अपितु इतना अवश्य होता है

कि कुछ मान मूल्य पिछड़कर पुराने पड़ जाते हैं एवं उनका स्थान नवीन प्रेरणाएँ ले लेती हैं ।

आर्थिक आधार एवं सामाजिक सम्बन्धों के परिवर्तित होने से भी मूल्यों में परिवर्तन होता है, क्योंकि बदलते हुए सामाजिक सम्बन्धों के फलस्वरूप मानव समाज में कुछ नए जीवन मान स्थापित करने की उत्सुकता होती है और जब दर्शनशास्त्री, विद्वज्जन उन जीवन मानों की ओर ध्यान देते हैं तथा मानव समाज की आवश्यकताओं को समझते हैं तब नवीन मूल्यों का जन्म होता है । अत: सामाजिक, संबंधों में परिवर्तन के फलस्वरूप भी मूल्यों में परिवर्तन होता है ।

इस प्रकार यह मूल्य प्रक्रिया अनन्त है । समाज के आरम्भ के साथ ही मूल्य प्रक्रिया का सूत्रपात हुआ है । यह प्रक्रिया समाज के साथ निरन्तर चलती रहती है तथा इसका ह्रास- विकास भी समाज के साथ ही होता है ।

-0-

द्वितीय अध्याय

-0-

साहित्य चिन्तन की परम्परा में मूल्य दृष्टियों का अन्तर्भाव

(क) पाश्चात्य साहित्य चिन्तन --

१- साहित्य का विकास काल, २- ग्रीक रोमनकाल, ३- मध्यकाल, ४-पुनर्जागरण काल, ५- नव्य क्लैसीसिज्म, ६- स्वच्छन्दवादी काल, ७- आधुनिक काल ।

पाश्चात्य साहित्य चिन्तन में निहित मूल्य दृष्टियाँ--

१- आर्थिक मूल्य, २- मानवीय एवं मांगलिक मूल्य, ३- नैतिक मूल्य, ४-सामाजिक मूल्य, ५- दार्शनिक मूल्य, ६- धार्मिक एवं आध्यात्मिक मूल्य, ७-कलात्मक मूल्य, ८- सृजनात्मक मूल्य ।

(ख) प्राचीन भारतीय साहित्य चिन्तन--

प्राचीन भारतीय साहित्य चिन्तन की परम्पराएँ--

रस सम्प्रदाय, अलंकार सम्प्रदाय, रीति सम्प्रदाय, वक्रोक्ति सिद्धान्त, ध्वनि सम्प्रदाय, औचित्य सिद्धान्त ।

प्राचीन भारतीय साहित्य चिन्तन में निहित मूल्य दृष्टियाँ--

१- उपयोगितावादी मूल्य, २- कलावादी मूल्य ।

(ग) हिन्दी का मध्ययुगीन साहित्य चिन्तन --

हिन्दी के मध्ययुगीन साहित्य चिन्तन की परम्पराएँ--

भक्तिकालीन, रीतिकालीन ।

हिन्दी के मध्ययुगीन साहित्य चिन्तन में निहित मूल्य दृष्टियाँ --

१- उपयोगितावादी मूल्य

२- कलावादी मूल्य ।

-0-

मनुष्य स्वभाव से ही संवेदनशील और जिज्ञासु होने के कारण प्रकृति और मानव के आपसी सम्बन्धों को जानने के लिए उत्सुक रहता है। वह चिर कार्यरत प्रकृति को जब अपने नेत्रों से देखता है तो प्राप्त अनुभवों को व्यक्त भी करना चाहता है। इन अनुभवों को व्यक्त करने का माध्यम वह अपने हाव-भाव तथा भाषा इत्यादि को बनाता है। सम्पूर्ण ज्ञान को अपने में आत्मसात् कर स्पष्ट शब्दों में व्यक्त करने की शक्ति ही साहित्य कहलाती है। साहित्य शब्द बहुत ही व्यापक तथा विस्तृत है, इसके द्वारा सम्पूर्ण जीवन की अभिव्यक्ति तथा ज्ञान की चेतना का बोध होता है।

कुछ विद्वानों का कहना है कि साहित्य समाज का दर्पण है, किन्तु कभी-कभी दर्पण की भाँति समाज का (युग का) प्रतिबिम्ब अंकित करने के स्थान पर यह एक ऐसा चित्र भी हो सकता है, जिसके अनुरूप बनने की युग चेष्टा करे। प्रत्येक देश का साहित्य वहाँ की जनता की चित्तवृत्ति, जो कि राजनीतिक, धार्मिक आदि परिस्थितियों के अनुरूप होती है, का ही स्थायी प्रतिबिम्ब होता है। वास्तव में हमारे अध्ययन की सामग्री भी मनुष्य ही है,इसलिए ज्यों-ज्यों मनुष्यों की रुचियाँ अथवा चित्तवृत्तियाँ बदलती जाती हैं,त्यों-त्यों साहित्य के स्वरूप में भी परिवर्तन आने लगता है। प्रारम्भ से अन्त तक इन्हीं चित्तवृत्तियों को परखते हुए साहित्य का निर्माण होता है। साहित्यकार पर अपने चारों ओर के वातावरण का अत्यधिक प्रभाव पड़ता है,इसलिए उसकी चेतना समाज-सापेक्ष कही जाती है तथा वह जनता की चित्तवृत्तियों के अनुरूप रचनाएँ प्रस्तुत करता है। परन्तु यह सम्भव नहीं है कि साहित्यकार प्राचीन को एकदम विस्मृत कर नितान्त नए साहित्य का निर्माण करे, प्राचीन की पृष्ठभूमि पर ही नवीन की स्थापना होती है। नया साहित्य निर्मित करने में प्राचीन साहित्य का प्रभाव किस मात्रा में ग्रहण किया जाये, यह लेखक की रुचि पर निर्भर करता है। अधिकतर साहित्यकार प्राचीन साहित्य की महनीय परम्पराओं द्वारा प्रकाश तो

ग्रहण करते हैं, किन्तु पूर्णतया उनको अपना आधार न बनाकर नए रस-बोध और नए मूल्यों को स्थापित करते हैं।

साहित्य एवं चिन्तन शब्दों का आपस में अटूट सम्बन्ध है, क्योंकि साहित्य द्वारा ही चिन्तन परम्पराएँ विकसित होती हैं। मोटे तौर पर सम्पूर्ण चिन्तन परम्पराओं के आधार पर हम साहित्य चिन्तन को तीन वर्गों में विभाजित करते हैं, जिनसे आगे चलकर हमारा हिन्दी साहित्य चिन्तन बहुत प्रभावित रहा है--

(१) पाश्चात्य साहित्य चिन्तन।

(२) प्राचीन भारतीय साहित्य चिन्तन।

(३) मध्ययुगीन हिन्दी साहित्य चिन्तन।

उपर्युक्त तीनों वर्गों के साहित्य-चिन्तन में मूल्य दृष्टियों का अन्तर्भाव किस सीमा तक हुआ है, इसका विवेचन भी हम साहित्य चिन्तन की परम्पराओं के साथ ही करते चलेंगे।

(क) पाश्चात्य साहित्य-चिन्तन

पाश्चात्य साहित्य अर्थात् यूरोपीय साहित्य के अन्तर्गत अनेक देशों का साहित्य सम्मिलित किया जाता है, जिसमें यूरोप के सभी प्रमुख देश,-- रूस तथा अमरीका आदि आते हैं। इन देशों के साहित्यकारों के अपने-अपने सिद्धान्त तथा मान्यताएँ रही हैं, किन्तु पश्चिमी सभ्यता में संस्कृति एवं साहित्य का मूल स्रोत यूनान देश ही रहा है। कानून, शासनतंत्र, राजनीतिक और सामाजिक संस्थाओं के पीछे रोमन विचारधारा रही है। इस प्रकार यूनान और रोम, इन दोनों देशों की संस्कृतियाँ एवं दार्शनिक परम्पराएँ पश्चिमी सभ्यता के भवन की नींव है। प्लेटो से बहुत पहले (पाँचवीं चौथी शताब्दी ई०पू०) ग्रीस में रचनात्मक साहित्य की रचना हो रही थी, किन्तु तत्कालीन साहित्य का अधिकांश भाग विस्मृति के गर्त में विलीन हो चुका है, अतः हम पाश्चात्य साहित्य का चिन्तन का विवेचन प्लेटो के काल से करेंगे।

प्लेटो (ई०पू०४२८-३४७ के लगभग) से लेकर अब तक (बीसवीं-शताब्दी) पाश्चात्य साहित्य चिन्तन के क्षेत्र में विभिन्न विद्वानों ने पदार्पण किया तथा अपने-अपने अमूल्य सिद्धान्तों की प्रतिष्ठापना कर पाश्चात्य साहित्य को समृद्ध करने का गौरव प्राप्त किया । इस सम्पूर्ण पाश्चात्य साहित्य की परम्परा को, उसमें विकसित हुई विचारधाराओं के आधार पर कुछ कालों में विभाजित कर सकते हैं--

१-साहित्य का विकास काल(पाँचवीं-चौथी शताब्दी ई०पू०)

२- ग्रीक रोमन काल(चौथी शताब्दी ई०पू०- ईसा की पहली शताब्दी)

३- मध्यकाल(लगभग ५वीं शताब्दी से १५वीं शताब्दी तक)

४- पुनर्जागरण काल (१५वीं- १६ वीं शताब्दी)

५- नव्य क्लैसीसिज्म (१७ वीं- १८ वीं शताब्दी)

६- स्वच्छन्दतावादी काल(१९ वीं शताब्दी)

७- आधुनिक काल (बीसवीं शताब्दी)

१- साहित्य का विकास काल (पाँचवीं-चौथी शताब्दी ई०पू०)

प्लेटो से बहुत पहले ग्रीस में आध्यात्मिक, सामाजिक, राजनीतिक, साहित्यिक तथा धार्मिक जीवन का प्रारम्भ हो चुका था, किन्तु वह कालगति के साथ अन्धकार के गर्त में विलीन हो गया,क्योंकि ग्रीक चिन्तन सत्य को खण्ड-खण्ड रूप में देखने लगे थे तथा उनमें उच्छृंखलता का आगमन दिन-प्रतिदिन तीव्रता से होता जा रहा था । ऐसी संकटकालीन परिस्थिति में प्लेटो तथा उनके शिष्य अरस्तु (ई०पू०३८४-३२२) का साहित्यिक क्षेत्र में आविर्भाव हुआ । प्लेटो ने अपनी सूक्ष्म अन्तर्दृष्टि द्वारा अपने आदर्शवादी दृष्टिकोण का परिचय दिया । प्लेटो मूलत: रहस्यवादी था । वह न्याय अथवा श्रेष्ठत्व चाहता था और उसे व्यक्ति से लेकर राज्य के सर्वोच्च रूप तक चाहता था । कला में भी उसकी वहीं तक रुचि थी,जहाँ तक उसमें उदात्त नैतिक सिद्धान्तों की स्थापना हो सकती हो[1]।

१ डॉ० निर्मला जैन : प्लेटो के काव्य-सिद्धान्त,पृ०सं० ८६-९१ ।

काव्य-कला का प्लेटो ने खण्डन किया है, क्योंकि कविता उसके विचार में एक ओर तो अनैतिकता को आश्रय देती है, दूसरी ओर मिथ्या का प्रचार करती है।[1] प्लेटो ने कला को अनुकरणमूलक भी कहा है अर्थात् वह संसार की पार्थिवता के पीछे छिपी अपार्थिवता का अनुकरण कर उसे अभिव्यक्ति प्रदान करती है। कुछ विद्वानों ने प्लेटो के अनुकरण सिद्धान्त को दोषी ठहराया है, क्योंकि उनकी सम्मति में प्लेटो ने अपनी नैतिकता और दार्शनिकता की कठोरता से कला और सौन्दर्य को नष्ट कर दिया है। हो सकता है यह दोष किसी हद तक सही हो, परन्तु यह भी निश्चित है कि प्लेटो ने अपने अनुकरण सिद्धान्त द्वारा कला और नैतिकता जैसी समस्या को उत्पन्न किया जो कि आज तक चिन्तकों को विचलित करती रही है।

प्लेटो के सिद्धान्तों के मूल में नैतिकता, सीमित कल्पना, अनुशासन एवं व्यवस्था आदि वाला दर्शनज्ञान निहित है। प्लेटो ने कवि तथा उसके काव्य के अस्तित्व को ललकारा था किन्तु उनके शिष्य अरस्तू ने उसका उत्तर भी दिया। अरस्तू प्लेटो का समकालीन था, उसने प्लेटो की दर्शन-पद्धति का विरोध कर अपने स्वतंत्र मार्ग का निर्माण किया। प्लेटो का दृष्टिकोण अध्यात्ममूलक था, अरस्तू का विज्ञानवादी। प्लेटो ने जहाँ काव्य के अस्तित्व को एकदम नकार दिया था वहाँ अरस्तू ने काव्य का विविवत् विश्लेषण कर उसे समाज के लिए उपयोगी बनाया। उसने प्लेटो के विपरीत यह माना है कि काव्य-प्रतिमा जन्मजात एवं नैसर्गिक होती है, वह ईश्वरप्रदत्त है।[2] वह प्लेटो की भाँति दार्शनिक गुत्थियों में न उलझकर काव्य को मानवात्मा का स्वतंत्र कार्य मानता था तथा कविकर्म भी सौन्दर्य की प्रतिष्ठापना में ही मानता था। अरस्तू का दृष्टिकोण विशुद्ध सौन्दर्यवादी है।[3] वह नैतिकता,

---

१ डॉ० निर्मला जैन : प्लेटो के काव्य सिद्धान्त, पृ०सं० १८।

२ डॉ० नगेन्द्र : अरस्तू का काव्य शास्त्र, पृ०सं० ५५-६०।

३ 'सौन्दर्य वह शिव है, जो कि सुखदायक इसीलिए है, क्योंकि वह शिव है'
—रहेटोरिक

शिक्षा और काव्य का अप्रत्यक्ष सम्बन्ध (मानता) था ।

अरस्तू का सौन्दर्यानुभूति सम्बन्धी सिद्धान्त भी अनुकरण के सिद्धान्त पर आ जाता है । पोएटिक्स के अनुसार अनुकरण जीवन का वस्तुनिष्ठ चित्रण है । प्लेटो ने अनुकरण सिद्धान्त की स्थापना की थी और उसे अरस्तू ने अपनाया भी, किन्तु प्लेटो के अनुकरण सिद्धान्त और अरस्तू के अनुकरण सिद्धान्त में बहुत अन्तर है । जहाँ तक प्रकृति के अनुकरण करने की बात है,वहाँ तक तो अरस्तू प्लेटो से सहमत है, किन्तु आगे नहीं । प्लेटो अनुकृति की अनुकृति कहकर[१] चित्रकला अथवा काव्य कला को सत्य से बहुत दूर हटा मानता था,किन्तु अरस्तू का कहना है कि कवि प्रकृति को ज्यों-का-त्यों स्वीकार नहीं करता,बल्कि उसमें अपनी कल्पना, ज्ञान तथा प्रतिभा द्वारा बहुत सौन्दर्य ला देता है । अत: काव्य कला में हमें जो सज्ञानता मिलती है, वह प्रकृति में नहीं मिलती ।

अरस्तू ने विरेचन सिद्धान्त का प्रतिपादन भी समाज-कल्याण[२] को ध्यान में रखकर किया ।

२- ग्रीक रोमन काल(चौथी शताब्दी ई०पू०-ईसा की पहली शताब्दी)

ई०पू० चौथी शताब्दी के बाद ग्रीक जीवन विशृंखल और शिथिल होने लगा । साहित्य और कला में, सामाजिक जीवन में तथा दर्शन इत्यादि सभी में क्षीणता आ गई । रोम ने ग्रीस पर विजय पाई । इस विजय के फलस्वरूप अर्थात् रोम के विजयी होने के पश्चात् ग्रीस और रोम की संस्कृतियों का, महान सभ्यताओं का आपस में आदान-प्रदान होना स्वाभाविक था । राजनीतिक दृष्टि से रोम चाहे विजयी अवश्य हुआ था, किन्तु ग्रीस के दर्शन, साहित्य,कला और विज्ञान से अप्रभावित नहीं रह सका था । उसने ग्रीक की साहित्य-सौन्दर्य सम्बन्धी भावना को ग्रहण किया । रोमन आचार्यों ने

---

१ डॉ० निर्मला जैन : प्लेटो के काव्य- सिद्धान्त,पृ०सं०१७-२४
(गणतंत्र के दसवें अध्याय में)

२ अरस्तू के दो ग्रन्थों-- राजनीति और काव्य-शास्त्र में विरेचन सिद्धान्त का उल्लेख मिलता है ।

काव्य की आत्मा पहिचानने का पवित्र कार्य किया, किन्तु तब भी वे ग्रीक आचार्यों की महानता को भूल न सके थे । ऐसा प्रतीत होता है कि रोम ग्रीस की श्रेष्ठता से इतना अधिक प्रभावित हो चुका था कि अपनी मौलिक प्रतिभा का प्रदर्शन न कर ग्रीक सिद्धान्तों को अपने ढंग से पोषित करता रहा । इस काल में दो प्रमुख आचार्य हुए-- होरेस, लोंगिनुस(लोंजाइनस)।

होरेस ने कोई सिद्धान्त प्रतिपादित नहीं किया । सिद्धान्त उसका वही है जो अरस्तू का था । होरेस दार्शनिक न होकर व्यावहारिक था । उसने अपने ग्रन्थ में अनेक नियम दिये हैं, जिनके मूल्य में औचित्य और कलापूर्ण सामंजस्य है । उसने अरस्तू की दार्शनिकता को व्यावहारिक रूप प्रदान किया तथा अपनी सौन्दर्य मीमांसा का मुख्य उद्देश्य सुरुचि को बनाया । काव्य को होरेस ने सज्ञान रचना क्रिया माना तथा कलाकार को उसकी कृतियों का स्वयं साहित्यिक मूल्य आँकने का ढंग बताया। होरेस ने एक नए मत की स्थापना भी की कि कालगति के साथ-साथ कवि की जीवन दशाएँ भी बदलती जाती हैं, जिससे नए अनुभवों के कारण उसकी अभिव्यक्तियों में परिवर्तन आता जाता है, जो कि भाषा के द्वारा स्पष्ट होता है, इसलिए कवि को नए और पुराने शब्दों को ग्रहण करने में हिचकिचाना नहीं चाहिए । होरेस की प्रसिद्ध पुस्तक 'आर्स-पोएटिका' (काव्य कला) में ही उनके बहुमूल्य विचार संकलित हैं, जिन्होंने अरस्तू की पोएटिक्स का प्रचार किया । होरेस के अतिरिक्त दूसरे प्रमुख आचार्य लोंगिनुस थे । लोंगिनुस यूनानी आचार्य थे । अत: औचित्य को स्वीकार करने में वे अपने पूर्वज ग्रीक आचार्यों के पद-चिन्हों पर ही चले । लोंजाइनस की रचना के मूल में जो बात निहित है, वह है उसका शैली को अत्यधिक महत्व देना । वह मानता है कि शैली भाषा को उसके साधारण धरातल से बहुत ऊपर उठा देती है । वह भाषा की बाहरी

---

१ आर्स पोएटिका में कवियों को, काव्य में औचित्य का सदा ध्यान रखने का उपदेश दिया है ।

सज्जा मात्र नहीं है, बल्कि कृति की आत्मा तथा कृतिकार के व्यक्तित्व पर प्रकाश भी डालती है[1]। लोंजाइनस ने अपने ग्रन्थ 'ऑन द सब्लाइम' द्वारा अपने समय की रूढ़ता तथा सूक्ष्म रहस्यानुभूति को सुन्दर आवरण प्रदान कर उपयोगी बनाया। साहित्य में उदात्त तत्त्व रचयिता की शक्ति को क्षणभर में चमका देता है[2]। मनुष्य की आत्मा में अपने चारों ओर फैली प्रकृति से जब तादात्म्य होकर रस संचार होता है, वही श्रेष्ठता अथवा उदात्तता की भावना को जागृत करता है। इस प्रकार इस काल में ग्रीक रोमन सिद्धान्तों के सम्मिलन से कुछ सिद्धान्तों की स्थापना हुई।

३- मध्यकाल (लगभग ५वीं शताब्दी से १५ वीं शताब्दी तक)

यूरोपीय साहित्य की मजबूत नींव जो ग्रीक और रोमन आचार्यों के सम्मिलित प्रयास से पड़ी थी, मध्यकाल तक आते-आते उसका ह्रास होने लगा। साहित्य की दृष्टि से वास्तव में यह एकदम अंधकार युग ही सिद्ध हुआ। लोंजाइनस के पश्चात् चर्च की प्रधानता होने के कारण धार्मिक अनुशासन के अनुरूप रचनाओं को प्रधानता दी जाने लगी। पूरे काल में कैथोलिक चर्च की प्रधानता रही। चर्च ने मनुष्य की सार्वभौम एवं नैसर्गिक कलात्मक तथा रचनात्मक प्रवृत्ति को प्रोत्साहन प्रदान न कर उसे कुंठित एवं अवरुद्ध कर दिया। जो कला चर्च से सम्बन्धित थी, उसे ही वांछनीय समझा जाता था, किन्तु चर्च से असंबंधित सभी कलाएँ वर्जित थीं।

इस अंधकारपूर्ण युग में दाँते ही एकप्रकाश विकीर्ण करने वाली ज्योति के समान था। इस काल में साहित्य चिन्तन के क्षेत्र में किसी विशिष्ट सिद्धान्त की स्थापना नहीं हुई, बस दाँते ने भाषा पर अत्यधिक बल दिया है[3]। उसके विचार में काव्य रूपकात्मक होता है, अनुकरणात्मक नहीं।

---

१ लोंजाइनस- महान शैली-आत्मा की महत्ता की प्रतिध्वनि है-काव्य में उदात्त तत्त्व

२ डॉ० निर्मला जैन , उदात्त के विषय में, पृ०सं० ७८-७९ ।

३ डॉ० नगेन्द्र : भारतीय काव्यशास्त्र की भूमिका , पृ०सं० ८७-८८ ।

४- पुनर्जागरण काल (१५वीं-१६वीं शताब्दी)

१४ वीं - १५ वीं शताब्दी में चर्च से बंधी हुई विचारधाराओं की सुदृढ़ प्राचीरें टूट गई और उनमें से पुनर्जागरण की रोशनी छन-छन कर आने लगी। अब तक चर्च के कठोर बन्धनों में जकड़ा व्यक्ति स्वतन्त्रता की साँस लेने लगा। धर्म और परलोक चिन्तन की व्याख्या न कर इस युग के विद्वान् ने मानवाभिमुख दृष्टिकोण अपनाकर अध्ययन और चिन्तन की दृष्टि से नवीन चेतना और स्फूर्ति प्रदान की। रूढ़ियों के बंधन छिन्न-भिन्न हो गए और नवीन के साथ प्राचीनता के प्रति भी आदर के भाव उत्पन्न होने लगे।

पुनर्जागरणकाल में यद्यपि अरस्तू के सिद्धान्तों का प्रतिपादन ही विशेषरूप से किया गया है, किन्तु एक दृष्टि से उनका विकास भी किया गया है। प्रकृति के वास्तविक रूप और कवि द्वारा कल्पित अथवा वर्णित प्रकृति के रूप में आपस में क्या सम्बन्ध है ? प्रकृति की भावना क्या है ?आदि प्रश्नों का उत्तर पुनर्जागरण काल में दिया गया है। इस काल में काव्य को या तो उच्च नैतिक शिक्षा प्रदान करने के लिए एक माध्यम माना गया या उसे दैवी प्रेरणा प्रसूत मानवात्मा को रससिक्त करने वाला संगीतमय माध्यम। विशुद्ध आनंद प्रदान करना उसका मुख्य उद्देश्य माना गया[1]। सर फिलिप सिडनी इस काल में सर्वाधिक प्रसिद्ध हुए।

५- नव्य क्लैसीसिज्म (१७वीं-१८ वीं शताब्दी)

पुनर्जागरणकाल में जहां व्यक्ति-स्वातन्त्र्य का जन्म हुआ, वहां नव्य क्लैसीकल काल ने पुनर्जागरण की उमंग को नियन्त्रित किया तथा गद्य को विकसित किया। अधिकतर विद्वानों के द्वारा ग्रीक सिद्धान्तों का अनुसरण, अन्वेषण तथा मंथन होता रहा। यद्यपि प्राचीनता और नवीनता में संघर्ष तो छिड़ गया था, परन्तु फिर भी प्राचीनता के प्रति अत्यधिक निष्ठा अभी तक विद्वानों में बनी हुई थी--विशेषकर अरस्तू के सिद्धान्तों से

---

१ सर फिलिप सिडनी : एपालोजी फॉर पोयट्री, पृ०सं०२६-५१।

तो वे अत्यधिक प्रभावित थे[1]। परन्तु इसी काल में एक सर्वप्रमुख आलोचक जॉन ड्राइडन हुआ, जिसने अरस्तू के सिद्धान्तों को ज्यों-का-त्यों नहीं ग्रहण कर लिया, अपितु अपने देश की प्रतिभानुकूल तथा परिस्थितियों के अनुकूल उसमें परिवर्तन को भी आवश्यक माना[2]। वह कवि को स्रष्टा के रूप में देखता है जो कि प्रकृति का यथातथ्य चित्रण ही नहीं करता, अपितु अपनी कल्पना द्वारा उसमें और अधिक सौन्दर्य की सृष्टि करता है। साहित्य के तत्त्व, काव्य के उद्देश्य और कवि-धर्म की उसने नई व्याख्याएँ कीं। ड्राइडन के कल्पना सम्बन्धी दृष्टिकोण ने आगे आने वाली १८ वीं शताब्दी को अत्यधिक प्रभावित किया। ड्राइडन के अतिरिक्त जॉनसन, पोप आदि और भी प्रसिद्ध रचनाकार इस काल में हुए हैं। निष्कर्षत: हम कह सकते हैं कि नियम और नैतिकता को छोड़कर अब काव्य में आनंद तत्त्व खोजा जाने लगा था।

८- स्वच्छन्दतावादी काल (१९ वीं शताब्दी)

इस काल में एक ओर तो प्राचीन परम्पराएं थीं[3] किन्तु दूसरी ओर इन सब परम्पराओं के बंधनों से स्वतन्त्र नवीनता[4]। यह नवीनता ही आधुनिकता का मूल स्रोत भी बनी। उन्नीसवीं शताब्दी के नवीन भावों तथा विचारों का प्रभाव इतनी तीव्र गति से पड़ रहा था कि अठारहवीं शताब्दी की दुनियाँ एकदम सिकुड़ने लगी।

---

१ डेनियल हाइनसिअस, ब्वालो, रैसीन, ल बोसु, बेन जानसन

२ ड्राइडन ने जीवन को शास्त्र से अधिक प्रबल माना और घोषणा की "अरस्तू ने ऐसा कहा है वह काफी नहीं है, क्योंकि अरस्तू के दुखान्तकी सिद्धान्त सोफ़ोक्लीज और यूरिपाइडीज़ के नाटकों पर आधृत थे और यदि वे हमारे नाटक देखते तो अपना मन्तव्य बदल देते।"

३ प्राचीन परम्परा के प्रतीक, पोप, एडिसन, आस्टिन आदि।

४ आधुनिकता, नवीनता के प्रतीक- लेसिंग, गैटे, कॉलरिज, वर्ड्सवर्थ आदि।

व्यक्ति की महत्ता की प्रतिष्ठा इस स्वच्छन्दतावादी युग की विशेष देन है। प्राचीनता और नवीनता से यह तात्पर्य नहीं है कि नवीन कवि अथवा आलोचक प्राचीन कविताओं से आनन्द नहीं उठाते थे, वे तो बराबर उनसे आनन्द उठाते रहे, परन्तु काव्य के नवीन मानदंड स्थापित करते समय वे प्राचीन आदर्शों की सहायता आवश्यक नहीं मानते थे। इस काल में आधुनिकता तथा नवीनता के प्रतीक लेसिंग, गेटे, कॉलरिज, वर्ड्सवर्थ, बेलिंस्की, चर्निशेव्स्की, तॉलस्ताय आदि थे।

स्वच्छन्दतावादी बाह्य सौन्दर्य तक सीमित न रहकर उसकी अन्तरात्मा तक पहुंचना चाहते हैं। स्वच्छन्दता से उनका तात्पर्य उच्छृंखलता से नहीं है। ईसा की उन्नीसवीं शताब्दी में कवियों ने अपनी मर्यादा और साहित्यादर्श सम्बन्धी दृष्टिकोण एवं सिद्धान्तों की रक्षा का भार स्वयं अपने ऊपर उठा, गद्य का माध्यम ग्रहण कर काव्य को नवीन सज्जा प्रदान करने का प्रयत्न किया। उन्होंने काव्य को सीमित परिधि से निकाल कर जीवन की विस्तृत रूप राशि के दर्शन कराये तथा ग्राम्य जीवन[1] को भी काव्य-परिधि में स्थान दिया। साहित्य में आनन्द तत्त्व का होना, नैतिकता के प्रति अधिक आग्रह न होना, विषय पर अधिक ध्यान न देकर अभिव्यंजना शैली पर ध्यान देना, सिद्धान्तों के प्रति कट्टरता का अभाव, साहित्य में सुन्दर मार्मिक स्थलों का वर्णन करने का प्रयत्न उन्नीसवीं शताब्दी में पाया जाता है।

७- आधुनिक काल (बीसवीं शताब्दी)

उन्नीसवीं शताब्दी के जीवन ने बीसवीं शताब्दी में आकर बड़ी तेजी से परिवर्तन उपस्थित किए। बीसवीं शताब्दी के साहित्यकारों की रुचियों एवं पद्धतियों में परिवर्तन हुए। उन्नीसवीं शताब्दी के सिद्धान्तों, नियमों तथा आदर्शों को युग विपरीत समझ उनके स्थान पर

---

१ वर्ड्सवर्थ

नवीन मतों की स्थापना प्रवृत्ति ने बीसवीं शताब्दी को अपनी विशिष्टता प्रदान की है।

मनुष्य के भौतिक, भावनात्मक, मनोवैज्ञानिक, आध्यात्मिक, नैतिक आदि पक्षों में बीसवीं शताब्दी की घटनाओं ने जो परिवर्तन किए हैं, उनके फलस्वरूप नए-नए रूपों, रचना पद्धतियों, शैलियों, वादों आदि का जन्म हुआ। इन परिवर्तनों के कारण उन्नीसवीं शताब्दी के सिद्धान्तों को चोट पहुँची। इस काल के विविध वादों में सर्वप्रमुख वाद इटली के क्रोचे द्वारा प्रतिपादित अभिव्यंजनावाद माना जाता है। क्रोचे ने अभिव्यंजना और ललित कला दोनों को पर्यायवाची माना है[1]। रिचर्ड्स सौन्दर्य मीमांसा का प्रबल समर्थक है तथा नैतिकता को कलाकार के लिए स्वाभाविक रूप में मान्यता प्रदान करता है[2]। इलियट के अनुसार कवि अन्तर्वेग व्यक्त नहीं करता, उनसे मुक्ति प्राप्त करता है।

यूरोप, अमरीका तथा रूस जैसे देशों में वर्तमान युग को आलोचना का युग समझा जाता है, किन्तु वर्तमान काल के आलोचकों में से बहुत से स्वयं कलाकार भी हैं।

इस प्रकार पाश्चात्य साहित्य चिन्तन की परम्परा प्लेटो से आरम्भ होकर इलियट तक निरन्तर अबाधगति से प्रवाहित होती रही है।

<u>पाश्चात्य साहित्य चिन्तन में निहित मूल्य दृष्टियाँ</u>

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट ज्ञात होता है कि पाश्चात्य साहित्य प्लेटो से लेकर इलियट तक विभिन्न विचारधाराओं से जूझता हुआ निरन्तर आगे ही आगे की ओर बढ़ता रहा है। जिस प्रकार

---

१ 'All art is expression, therefore all expression is art.'

२ आई०ए० रिचर्ड्स : प्रिन्सिपुल्स आव लिट्रेरी क्रिटिसिज्म, पृ०सं० ६०-६१

साहित्यिक क्षेत्र में जनता की परिवर्तित मानसिक वृत्तियों के अनुरूप साहित्यिक रूप परिवर्तित होते जाते हैं, उसी प्रकार मूल्य सम्बन्धी नियम तथा सिद्धान्त भी परिवर्तनशील हैं। व्यावहारिक जीवन में किसी वस्तु का मूल्य व्यक्ति या समाज के लिए उसकी उपयोगिता के दृष्टिकोण से आँका जाता है। सुन्दर से सुन्दर वस्तु भी यदि उपयोगी नहीं है तो उसका मूल्य अधिक नहीं हो सकता। मानव मन निरन्तर मूल्यों की खोज में लगा रहता है। सत्य, विवेक, सौन्दर्य, प्रतिभा और अच्छाई -- इन सभी मूल्यों के अपने विशिष्ट स्वरूप और लक्षण होते हैं। साहित्यिक मूल्य भी इसी प्रकार जाने जाते हैं। ये मूल्य ही साहित्य को महत्त्व प्रदान करते हैं, किन्तु इन मूल्यों को हम केवल तर्क बुद्धि द्वारा नहीं जानते, अपितु अपने विश्वास द्वारा ही जान सकते हैं।

यूरोप, जिसको व्यापक रूप में पश्चिम की संज्ञा से विभूषित किया जाता है, की कला एवं चिन्तन का इतिहास यूनान प्रदेश से प्रारम्भ होता है, जो कि पाश्चात्य संस्कृति एवं सभ्यता का आदि स्रोत भी कहा जाता है। यूनान के दार्शनिकों, चिन्तकों, साहित्यकारों ने जिन सिद्धान्तों की स्थापना ईसा से चार-पाँच शताब्दी पूर्व कर दी थी, उन्हीं की झलक यूरोप के विभिन्न विचारकों की शब्दावली में दिखाई पड़ती है।

पश्चिम को यूनान की देन अपार है। यहाँ के साहित्यिक क्षेत्र में प्लेटो, अरस्तू और लौंगिनुस जैसे मनीषियों ने अपनी रचनाओं द्वारा विद्वत्समाज को चमत्कृत कर दिया। इनके अतिरिक्त पश्चिम के अन्य राज्यों में भी अनेक महानुभव (जिनका नामोल्लेख तथा सिद्धान्तों की चर्चा पहले की जा चुकी है) हुए, जिन्होंने अपनी कला द्वारा साहित्य को गौरवान्वित किया। पाश्चात्य साहित्य क्षेत्र में विद्वानों ने विभिन्न मूल्यों की स्थापना करते हुए अपने विचारों को व्यक्त किया। कुछ विद्वानों ने साध्यात्मक मूल्यों की चर्चा साधनात्मक मूल्यों की अपेक्षा अधिक की और किसी ने साधनपरक मूल्यों को ही अपने चिन्तन का विषय बनाया। इसी प्रकार स्थायी,

दार्णिक, सृजनात्मक-असृजनात्मक आध्यात्मिक तथा सामाजिक आदि व मूल्यों की विभिन्न कोटियों में से विद्वानों ने अपनी रुचि और विद्वा के अनुसार भिन्न-भिन्न को महत्व प्रदान किया।

अत: सम्पूर्ण पाश्चात्य साहित्य-चिन्तन में निहित मूल्यों को हम मुख्यत: निम्न वर्गों में विभाजित कर सकते हैं--

१- आर्थिक मूल्य
२- मानवीय एवं मांगलिक मूल्य
३- नैतिक मूल्य
४- सामाजिक मूल्य
५- दार्शनिक मूल्य
६- धार्मिक एवं आध्यात्मिक मूल्य
७- कलात्मक मूल्य(आनन्दवादी एवं सौन्दर्यवादी)
८- सृजनात्मक मूल्य

१-आर्थिक मूल्य

ये मूल्य अर्थ(धन) से सम्बन्धित होते हैं, इसलिए इनको आर्थिक मूल्य कहा जाता है। वैसे तो आर्थिक मूल्य सामाजिक मूल्य के साथ आ सकता है, परन्तु कार्ल मार्क्स ने साहित्य क्षेत्र में सर्वप्रथम आर्थिक मूल्य को अलग ढंग से प्रस्तुत किया है। उन्होंने अपने वैचारिक क्षेत्र में भी आर्थिक मूल्यों को ही उठाया है। वे आर्थिक एवं उपयोगी मूल्यों की चर्चा करते हैं। मार्क्स साधारण जनता का शोषण पूँजीपतियों द्वारा मानते हैं, जो कि आर्थिक दृष्टिकोण से ही प्रत्येक कार्य करने के लिए अग्रसर होते हैं। आर्थिक मूल्यों का वर्णन करते हुए मार्क्स ने समाज की उन्नति की ओर भी ध्यान दिया है, किन्तु अन्य पाश्चात्य आलोचकों ने साहित्य-क्षेत्र में आर्थिक मूल्यों पर अधिक ध्यान नहीं दिया है, अतएव साहित्य क्षेत्र में आर्थिक मूल्यों की चर्चा करने वाले सर्वप्रमुख विचारक कार्ल मार्क्स ही माने जाते हैं।

'द्रव्य को मार्क्स ने दैवी शक्ति कहा है,जो हमें मानव जीवन, समाज,प्रकृति और मनुष्य के साथ बांधकर रखती है।[1]'

मार्क्स ने ऐतिहासिक विकास भी आर्थिक परिस्थितियों पर ही माना है--

'राजनीतिक, बौद्धिक,दार्शनिक, धार्मिक, साहित्यिक और कलात्मक आदि विकास आर्थिक विकास पर निर्भर है। किन्तु इनकी एक दूसरे पर और आर्थिक आधार पर भी प्रतिक्रिया होती है। यह बात नहीं कि केवल आर्थिक स्थिति ही कारण हो तथा एकमात्र वही सक्रिय हो और दूसरी सब बातों का प्रभाव परोक्ष हो। वास्तव में आर्थिक आवश्यकता के आधार पर आपस में एक दूसरे पर प्रतिक्रिया होती है और अन्ततः यही प्रतिक्रिया सबसे अधिक प्रभावशाली हो जाती है।[2]'

इस प्रकार मार्क्स ने आर्थिक आवश्यकता को मुख्य माना है जिसके आधार पर ही दार्शनिक,धार्मिक, साहित्यिक आदि पर प्रतिक्रिया होती है।

२- <u>मानवीय एवं मांगलिक मूल्य</u>

मानव के सुख-दुःख एवं कल्याण इत्यादि की भावनाओं से सम्बन्धित होने के कारण इन दोनों मूल्यों को एक ही कोटि में रखा गया है। वैसे कुछ विद्वान् दोनों की अलग-अलग सत्ता भी प्रतिपादित करते हैं।

<u>मानवीय मूल्य</u>

विश्व में मानव के हर्ष-विषाद, शक्ति-दुर्बलता आदि से सम्बन्धित जितने भी मूल्य हैं, वे सभी मानवीय मूल्य कहलाते हैं। मानवीय मूल्यों के दृष्टिकोण से कोई भी रचना अथवा कलाकृति तभी श्रेष्ठ कहलायेगी

---

१ डॉ० जगदीशचन्द्र जैन : पाश्चात्य समीक्षा दर्शन,पृ०सं०२१० ।

२ सेलेक्टेड वर्क्स ऑफ कार्ल मार्क्स, पृ०सं० ३९१-३९२ ।

जब कि वह मानव की आत्मविभूति की वृद्धि करने में सहायक हो ।

पाश्चात्य साहित्य-चिन्तन में मानवीय मूल्यों की चर्चा बहुत विस्तृत पैमाने पर न होकर सीमित क्षेत्र में हुई । तॉलस्ताय ,फ्रायड, और युंग ने ही मानवीय मूल्यों पर प्रकाश डाला है । इनमें भी मुख्यत: तॉलस्ताय ही मानवीय मूल्यों के व्याख्याता हैं । इन्होंने सुख-दु:ख पर आश्रित करुणामूलक मानवीय मूल्यों को ग्रहण किया ।तॉलस्ताय मानते हैं कि "कला का महत्त्व एवं उसका मूल्य तब ही है, जब कि वह मनुष्य के दृष्टिकोण को व्यापक बनाने में आत्मविभूति की वृद्धि करने में सहायक हो, जो कि मानवता की सम्पत्ति है ।[१]" कला मनुष्यों के बीच एकता का साधन है,जो सबको समान भावनाओं में बांध देती है और व्यक्ति तथा मानवता के कल्याण की ओर अग्रसर होती है । तॉलस्ताय के धार्मिक विश्वासों का मूलभूत आधार भी मानव की अन्तरात्मा का प्रकाश ही है । उनके कला और सौन्दर्य सम्बन्धी विचार कतिपय आन्तरिक असंगतियों के बावजूद साहित्य में मानववाद, सत्य और यथार्थवाद के उच्चादर्शों का प्रतिपादन करते हैं । निष्कर्षत: तॉलस्ताय ने काव्य में मानवीय मूल्यों को ही सर्वाधिक महत्व दिया ।

मनोविश्लेषण शास्त्र के जन्मदाता फ्रायड तथा उनके अनुयायी युंग ने दमित कामवासनाओं जैसे प्रसंगों को उठाकर परोक्षरूप में मनुष्य को आत्मतुष्टि प्रदान करने का ही प्रयत्न किया है ।

मांगलिक मूल्य

मांगलिक मूल्यों की चर्चा सामान्य जन-जीवन के उन्नयन को दृष्टि में रखकर ही की गई है । मंगल का तात्पर्य शुभ है । अरस्तू ने जीवन के मांगलिक मूल्यों की प्रतिष्ठा और उनके द्वारा लोकमंगल को काव्य की सिद्धि माना है एवं जनकल्याण तथा सामान्य सामाजिक जीवन के

---

१ वॉन आर्ट- लियो टॉलस्ताय,पृ०सं० ४६-५६ ।

उन्नयन को दृष्टि में रखते हुए भी मांगलिक मूल्यों की स्थापना की है[1]। मांगलिक मूल्यों के विषय में ड्राइडन के विचार अरस्तू के विचारों से बहुत अधिक मिलते हैं। वे भी मांगलिक मूल्यों के द्वारा जनकल्याण को ही काव्य की सिद्धि मानते हैं[2]।

मैथ्यू आर्नल्ड(सन्१८२२-१८८८ई०तक) की चिन्ताधारा लोक-कल्याण के आदर्श से इतनी आक्रान्त थी कि वे साहित्य का आदर्श और कसौटी भी लोकमंगल को ही मानते थे। उनकी दृष्टि में काव्य का प्रयोजन आनन्दमात्र न होकर मानव जीवन की पूर्णता का ज्ञान कराना, मानव का आत्मविकास और समाज का उत्थान करना है--' मानव को कैसे सुखी बनाया जाये इससे महत्तर और गम्भीरतर और कोई भी समस्या नहीं है[3]।' इसके अतिरिक्त आर्नल्ड ने सांस्कृतिक पूर्णत्व की प्राप्ति के लिए भी लोक-मंगल की आवश्यकता महसूस की है--' मनुष्य को सांस्कृतिक पूर्णत्व की प्राप्ति में योग देने के लिए आलोचक के हृदय में भी लोकमंगल के प्रति नैतिक तथा सामाजिक उत्साह होना जरूरी है[4]।

वर्ड्सवर्थ की विचारधारा भी जनकल्याण के आदर्श से अत्यधिक प्रभावित थी। उन्होंने अपनी काव्यभाषा भी ग्राम्य भाषा ही स्वीकार की थी। काव्य की उपयोगिता के विषय में उनका कहना था --' वह मानव के हृदय पर सद् प्रभाव डाले, उसका ज्ञानवर्धन करे या उसके मानसिक तथा नैतिक स्वास्थ्य और सुख के लिए उपयोगी हो[5]।' इस प्रकार वर्ड्सवर्थ ने जनसाधारण के भावों और भाषा को महत्त्व प्रदान किया। लोकमांगलिक

----

१ डॉ० नगेन्द्र : अरस्तू का काव्य शास्त्र,पृ०सं० ४८।

२ ड्राइडन : डिफेन्स ऑफ दि एसे

३ डॉ० शान्तिस्वरूप गुप्त : पाश्चात्य काव्यशास्त्र के सिद्धान्त ,पृ०सं०१६७।

४ मैथ्यू आर्नल्ड : कल्चर एण्ड एनार्की(संस्कृति और अराजकता१९६६)

५ डॉ० शान्तिस्वरूप गुप्त : पाश्चात्य काव्यशास्त्र के सिद्धान्त,पृ०सं०१२८।

मूल्यों की भावना से प्रेरित होकर ही तॉलस्ताय ने उपयोगितावाद का विवेचन किया । मानसिक धरातल पर यही उपयोगितावाद का विवेचन मनोवैज्ञानिक मूल्यवाद कहा जाता है ।

अरस्तू एवं ड्राइडन की भांति बेलिंस्की ने जीवन के मांगलिक मूल्यों की प्रतिष्ठा की एवं उनके द्वारा लोकमंगल को काव्य का मुख्य लक्ष्य स्वीकार किया । उनके विचारानुसार --' कलाकार जनता की प्रेरणाओं, भावनाओं और विचारों को अभिव्यक्ति देता है एवं कला का सम्बन्ध जीवन, जनता के हितों और सामाजिक वास्तविकताओं से है ।'[1] बेलिंस्की ने युग और कला का अभिन्न सम्बन्ध स्थापित किया तथा कला की श्रेष्ठता की कसौटी की सामाजिक समस्याओं की अभिव्यक्ति मानी ।

जनकल्याण की भावना तो चर्निशेव्स्की के विचारों में भी सर्वत्र दृष्टिगोचर होती है । अपनी पुस्तक 'एस्थेटिक रिलेशन्स ऑफ आर्ट टू चर्निशेव्स्की रियलिटी (कला का वास्तविकता से सौन्दर्यात्मक सम्बन्ध)' में चर्निशेव्स्की ने कला का जीवन से घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित किया है--' कला का मूल उद्देश्य है जीवन में मानव की दिलचस्पी की हर वस्तु को पुन: मूर्त करना ।'[2] वास्तव में कला व्यक्तिगत जीवन का ही चित्रण करती है, वह किसी एक मानव को ही अपनाकर चलती है ।

इस प्रकार चिरकाल से जनकल्याण की भावना विद्वानों द्वारा साहित्य में मांगलिक मूल्यों की स्थापना करवाती चली आ रही है ।

नैतिक मूल्य

काव्य अथवा साहित्य में भावतत्त्व के स्थान पर बुद्धितत्त्व को प्रधान मानते हुए जिन विचारों को प्रकट किया जाता है, वे ही नैतिक मूल्य कहलाते हैं । नीति में औचित्य की महत्ता सर्वोपरि है । नीति से अर्थ धर्मोपदेश

---

१ राजेन्द्रप्रताप सिंह : सौन्दर्यशास्त्र की पाश्चात्य परम्परा ,पृ०सं०१७८।

२ चर्निशेव्स्की : एस्थेटिक रिलेशन्स ऑफ आर्ट टू रियलिटी (उद्धृत पाश्चात्य काव्यशास्त्र : मार्क्सवादी परम्परा ,पृ०सं०१७

से नहीं, बल्कि उचित एवं उदात्त विचारों से होता है। सर्वप्रथम प्लेटो ने ही काव्य में नैतिक मूल्यों की प्रतिष्ठा की और आनन्दवादी मूल्यों का निषेध किया, जो काव्य में बुद्धि तत्त्व की प्रतिष्ठा और भावतत्त्व का तिरस्कार ही है। यही उनका इष्ट भी था। 'वे एकमात्र नैतिक मूल्यों की प्रतिष्ठा करते हैं यदि साधन रूप में या आनुषंगिक रूप में आनन्दसिद्धि भी हो जावे तो काव्य ही है।'[1]

औचित्य की दृष्टि से नैतिक कर्म की स्थिति केवल साधन-परक मूल्य तक सीमित है। प्लेटो का प्रत्युपकार व्यवहार की औचित्यपरक व्याख्या करता है। नैतिक मूल्यों की स्थापना या अनिवार्यता का निर्देश प्लेटो ने काव्य के आदर्श रूप के निमित्त किया। उनकी चिन्ताधारा पर नैतिक मूल्यों का इतना अधिक आतंक था कि वे काव्य सम्बन्धी किसी भी विषय का विवेचन करते समय उनको आधारभूमि के रूप में अवश्य अपना लेते थे।

अरस्तू ने नैतिक और राजनीतिक मूल्यों से स्वतन्त्र कलागत मूल्यों की प्रतिष्ठा कर काव्य और कला को धर्म और राजनीति की दासता से मुक्त किया। उन्होंने विशिष्ट आनन्द एवं मानव सत्य की सिद्धि के लिए नैतिक भावना के परितोष को स्वीकार किया, किन्तु नैतिक मूल्यों का स्थूल रूप में प्रस्थापन वे काव्य के लिए अभीष्ट नहीं मानते थे। नैतिक मूल्यों में अरस्तू औचित्य को स्वीकार करते हैं-- 'पुरुष में एक प्रकार का शौर्य होता है, परन्तु नारी-चरित्र में शौर्य या नैतिक विवेकशून्य चातुर्य का समावेश अनुचित होगा।'[2]

अरस्तू की भाँति लोंगिनुस ने भी नैतिक मूल्यों में औचित्य पर बल दिया, किन्तु रूढ़ि अर्थ में नहीं। औचित्य से उनका तात्पर्य शैली, परिस्थिति, उद्देश्य आदि के बीच आंतरिक सामंजस्य था। उनका औचित्य महान

---

१ डॉ० निर्मला जैन : प्लेटो के काव्य सिद्धान्त, पृ०सं०६३।

२ अरस्तू : काव्यशास्त्र, पृ०सं०४० ।
(डॉ० नगेन्द्र : अरस्तू का काव्यशास्त्र, पृ०सं०११०)

३ डॉ० नगेन्द्र, नेमिचन्द्र जैन (अनु०): काव्य में उदात्त तत्व, पृ०सं०२४ ।

का ही अंग है, शुद्ध का वाचक नहीं । वे साहित्यिक प्रतिभा का उत्थान-पतन जनतंत्र या राजतंत्र पर निर्भर न मानकर चारित्र्य पर नैतिक आचार -विचार पर ही निर्भर मानते हैं ।[1]

होरेस ने साहित्य के दो निश्चित उद्देश्यों नैतिक शिक्षा और आनन्द की प्रतिष्ठा की ।[2] वे काव्य के प्रत्येक वर्ग का गुणात्मक मूल्य स्वीकार करते थे,इसीलिए नैतिक मूल्यों में उन्होंने औचित्य(साधनपरक मूल्य)को महत्ता दी । प्लेटो की भाँति होरेस ने कवियों का तिरस्कार तो नहीं किया, परन्तु उन्हें उचित कार्य करने का परामर्श अवश्य दिया ।

मैथ्यु आर्नल्ड प्राचीन यूनानी आलोचकों की भाँति साहित्य का मूल्यांकन सामाजिक एवं नैतिक प्रतिमानों पर करते थे । आर्नल्ड का नीति से अर्थ धर्मोपदेश से नहीं जीवन के लिए उदात्त, व्यापक विचारों को प्रस्तुत करने से है । वे नैतिकता और आनन्द में, शिव और सुन्दर में कोई विरोध नहीं मानते एवं नैतिक सौन्दर्य को काव्य का लक्ष्य मानते हैं--' नैतिक मूल्यों के प्रति विद्रोही काव्य जीवन के प्रति विद्रोही है, नैतिक मूल्यों के प्रति पराङ्०मुख काव्य जीवन के प्रति पराङ्०मुख है ।'[3] इलियट का कहना था कि प्रत्येक नया युग अपने साथ अनेकों अन्य परिवर्तनों के अतिरिक्त मूल्यगत क्रांतिकारी परिवर्तनों की उद्भावना की प्रवृत्ति लाता है । आरम्भ में नैतिक मूल्यों की ओर इलियट का ध्यान न था,[4] किन्तु धीरे-धीरे वे भी इस ओर बढ़े ।

एलैग्जेंडर पोप(सन १६८८-१७४४ई०) ने सामान्यत: होरेस के सिद्धान्त ग्रहण किये एवं[5] साहित्य का मुख्य प्रयोजन नैतिक विचारों की स्थापना तथा प्रसार को माना । प्रत्येक गंभीर आलोचक की भांति रिचर्ड्स भी नैतिकतावादी

---

१ डॉ० नगेन्द्र,नेमिचन्द्र जैन(अनु०) : काव्य में उदात्त तत्त्व,पृ०सं०३४-३६ ।

२ सम्पा० सावित्री सिन्हा : पाश्चात्य काव्यशास्त्र की परम्परा,पृ०सं०६१ (मूल पुस्तक --आर्स पोएतिका अनुवादक श्री प्रयागनारायण त्रिपाठी)

३ मैथ्यु आर्नल्ड : एसेज इन क्रिटिसिज्म(उद्धृत अरस्तू का काव्यशास्त्र,पृ०सं०५२)

४ टी०एस०इलियट : सिलेक्टेड एसेज, पृ०सं० ३८८ ।

५ पोप : ऐसे ऑन क्रिटिसिज्म

हैं । नैतिकता को वे कलाकार के लिए स्वाभाविक रूप में मान्यता प्रदान करते हैं[1]।
टॉल्स्ताय ने कला में नैतिकता, सौन्दर्य और यथार्थ का महत्व स्वीकार किया तथा सौन्दर्य को नैतिकता के अधीन माना । उनके विचार से सत्य,सुन्दर और शिव के संयोग से ही पूर्ण कलाकृति की सृष्टि सम्भव है--" जो रचना मनुष्यों की पारस्परिक एकता के आनन्द को प्रकाशित करने में योग दे, वही नैतिक है, सत है[2]।"
नैतिकता के साथ टॉलस्ताय ने सत् को भी ले लिया ।

२- सामाजिक मूल्य

समाज की विभिन्न व्यवस्थाओं(एकता, संगठन,अनुशासन, सहयोग, प्रेमभावआदि) को ध्यान में रखते हुए जिन मूल्यों की चर्चा की जाती है, वे सामाजिक मूल्य कहलाते हैं । पाश्चात्य साहित्य चिन्तन में प्लेटो से लेकर इलियट तक कई विचारकों ने इन मूल्यों की चर्चा विस्तार के साथ की है ।

प्लेटो ने काव्य का मूल्यांकन सामाजिक, नैतिक, दार्शनिक और सांस्कृतिक दृष्टिकोण से किया । उन्होंने काव्य के वस्तुपरक आधार की प्रतिष्ठा की । प्लेटो एक आदर्श राज्य की कल्पना करते थे, परन्तु समाज की विभिन्न व्यवस्थाओं से लेकर आदर्श राज्य की कल्पना तक में उन्होंने सहयोग,अनुशासन की अपेक्षा स्वीकार की तथा समस्त कलाओं की कसौटी सामान्य जनता के जीवन के उन्नयन को माना तथा कहा कि यह उन्नति भौतिक सुख-सुविधाओं तक सीमित न होकर नैतिक जीवन को समृद्ध करने,बौद्धिक और संवेदना के जीवन को सुन्दर बनाने की दिशा में भी प्रेरित है । प्लेटो की भांति अरस्तू ने भी सामान्य सामाजिक जीवन के उन्नयन को ध्यान में रखते हुए ही सामाजिक मूल्यों की चर्चा की थी ।

साहित्येतर मूल्यों के आधार पर साहित्य चिन्तन की जो परम्परा १६ वीं शताब्दी में अत्यधिक जोर पकड़ गयी थी,उसका सुव्यवस्थित

---

१ आई०ए० रिचर्ड्स : प्रिंसिपुल्स ऑफ लिटरेरी क्रिटिसिज्म
२ शिवदान सिंह चौहान : आलोचना के सिद्धान्त,पृ०सं०१४३
३ डॉ० निर्मला जैन : प्लेटो के काव्य सिद्धान्त ,पृ०सं०८ ।
४ आई०ए० रिचर्ड्स : प्रिंसिपुल्स आफ लिटरेरी क्रिटिसिज्म,पृ०सं०४८-४९।

विरोध आई०ए० रिचर्ड्स ने किया । उनका साहित्य चिन्तन वस्तुपरक आधार से अधिक सम्बन्धित है । सामाजिक नैतिकता को वे निर्णायक नहीं मानते । उनके अनुसार प्रबन्धकाव्य या महाकाव्य में सामाजिक मूल्यों को स्वीकार किया जा सकता है । सामाजिक मूल्यों में अनेक ऐसे मूल्य हैं जो देश और काल के अनुसार बदलते रहते हैं । इसीलिए वे गतिशील सामाजिक नैतिकता के पक्ष में हैं ।[१]

१८ वीं शताब्दी के कृत्रिम एवं रूढ़ काव्यमूल्यों के उन्मूलन और स्वच्छन्दतावादी प्रवृत्ति की प्रतिष्ठा में महत्त्वपूर्ण योगदान देने वाले प्रमुख आलोचक एवं दार्शनिक कॉलरिज ने काव्य में हृदय और मस्तिष्क दोनों का संयोग अपेक्षित माना है ।[२] उन्होंने आदर्श समाज की कल्पना करते हुए सामाजिक मूल्यों को भी काव्य में प्रश्रय दिया तथा सत्य के महत्त्व को स्वीकार किया ।[३]

मार्क्सवादी चिन्तकों ने आर्थिक व्यवस्था को समाज के आधार में मानकर मूल्य दृष्टि का निर्धारण किया है । जनहित एवं सामाजिक चेतना के विकास को अंतिम कसौटी माना है--' जनहित के लिए उपयोगी तथा सामाजिक चेतना के विकास में सहायक तत्व ही काव्य के सच्चे मान हैं ।[४]'

बेलिंस्की ने कला का निकष वास्तविकता को मानते हुए कहा--' कविता वास्तविक और सत्य विचारों की कला है न कि कृत्रिम संवेदनों को ।[५]' बेलिन्स्की ने युग और कला का अभिन्न सम्बन्ध स्थापित किया एवं कला की श्रेष्ठता की कसौटी सामाजिक समस्याओं की अभिव्यक्ति मानी ।मार्क्स ने भी साहित्य में सामाजिक मूल्यों को महत्त्व दिया । वे मानते हैं कि चेतना सामाजिक अस्तित्व से ही उत्पन्न होती है ।

----

१ आई०ए० रिचर्ड्स : प्रिंसिपुल्स ऑफ लिट्रेरी क्रिटिसिज्म,पृ०सं०४८-५२

२ मुख्य सम्पादक हजारीप्रसाद द्विवेदी : पुस्तक काव्यशास्त्र,पृ०सं०५००
लेख--पाश्चात्य समीक्षा सैद्धान्तिक विकास,लेखक-आचार्य नंददुलारे वाजपेयी

३ रस्किन, टॉलस्टाय,काडवेल

४ डॉ० नगेन्द्र : अरस्तू का काव्यशास्त्र,पृ०सं० ५०-५१ ।

५ शिवदान सिंह चौहान : आलोचना के सिद्धान्त,पृ०सं०१२६ ।

३- दार्शनिक मूल्य

आर्थिक मूल्यों के समान ही पाश्चात्य विचारकों ने दार्शनिक मूल्यों पर भी अपने विचार अधिक व्यक्त नहीं किये हैं । यूनानी दार्शनिक प्लेटो और अरस्तू ने ही क्रमशः प्रत्यय सिद्धान्त एवं विचार तत्त्व के द्वारा इन दार्शनिक मूल्यों की व्याख्या की । प्लेटो ने प्रत्यय सिद्धान्त को अनुकरण सिद्धान्त के साथ जोड़ा एवं सार्वभौम विचार (वास्तविक सत्य) के द्वारा इन दोनों में साम्य दिखाया । विचार तत्त्व में बुद्धितत्त्व का प्राधान्य होने पर ही भाव तत्त्व का अन्तर्भाव होता है । अरस्तू काव्य के तात्त्विक पक्ष और गंभीर प्रयोजन से अनवगत नहीं थे । 'काव्य में दर्शन तत्त्व अधिक होता है, उसका स्वरूप इतिहास से भव्यतर है, क्योंकि काव्य सार्वभौम की अभिव्यक्ति है और इतिहास विशेष की ।'[१] इस प्रकार प्लेटो और अरस्तू द्वारा ही पाश्चात्य साहित्य चिन्तन में दार्शनिक मूल्यों की स्थापना हुई ।

धार्मिक एवं आध्यात्मिक मूल्य

धार्मिक एवं आध्यात्मिक मूल्यों का सम्बन्ध बहुत ही घनिष्ठ है, क्योंकि वास्तव में धार्मिक मूल्यों का सूक्ष्म रूप ही आध्यात्मिक मूल्य होते हैं । आध्यात्मिकता का अर्थ न केवल सत्य है, न अच्छाई और न इन सब का मिश्रण अपितु उसका उद्देश्य मानवात्मा की उदात्त वृत्तियों का उत्कर्ष करना है एवं उसका अभीष्ट ईश्वर है, जिसमें से सब मूल्य निहित हैं । सर्जनात्मक मूल्योपलब्धि के क्षेत्र में प्लेटो ने दिखाया है कि 'मनुष्य सदैव उच्चतर लक्ष्य की ओर उन्मुख रहा है, वह जितना आगे बढ़ा है उसका चरम लक्ष्य व्यापक, गहन, विस्तृत, आंतरिक और सूक्ष्म होता गया है । वह भौतिक मूल्यों का अतिक्रमण करके आध्यात्मिक परम श्रेयस की ओर अग्रसर हुआ है । काव्य सृजन के समय भी वे आध्यात्मिक शक्ति को ही कार्यरत मानते हैं ।'[२]

---

१ अरस्तू : काव्यशास्त्र, पृ०सं० २६
डॉ० नगेन्द्र : अरस्तू का काव्यशास्त्र, पृ०सं०३८ ।
२ डॉ० निर्मला जैन : 'प्लेटो के काव्य सिद्धान्त', पृ०सं०४५ ।

काव्य की सार्थकता और मूल्यवत्ता रिचर्ड्स की दृष्टि में धार्मिक मूल्यों के सन्दर्भ में ही व्यंजित होती है। वे इनके बिना काव्यात्मक मूल्य का भी कोई अर्थ नहीं मानते। टॉलस्ताय तो मानव-कल्याण की भावना का अनुभव ही धार्मिक बोध के कारण मानते हैं--"हमारा भौतिक, आध्यात्मिक, वैयक्तिक, सामूहिक और शाश्वत कल्याण मनुष्यों में परस्पर भाई चारे की भावना के विकास में निहित है-- जिसका बोध धार्मिक बोध के कारण ही होता है।"[1]

कलात्मक मूल्य

कलात्मक मूल्यों के अन्तर्गत आनन्दवादी एवं सौन्दर्यवादी मूल्यों की श्रेणियाँ निहित हैं। सौन्दर्यबोध एवं आनन्द की भावना को जगाने वाले कलात्मक मूल्य अत्यधिक सूक्ष्म होते हैं। साहित्य में इन मूल्यों की चर्चा बहुत विस्तार के साथ हुई है। पहले हम आनन्दवादी मूल्यों पर विचार करेंगे।

आनन्दवादी

मनुष्य अत्यधिक परिश्रम करके अपने लिए अनेकों सुख-सुविधाएं जुटाता है, जिससे वह आनन्द प्राप्त कर सके, परन्तु कभी-कभी वह निस्वार्थ भाव से भी कार्य करता है,अर्थात् सुखोपलब्धि ही उसका दृष्टिकोण नहीं होता। काव्य या साहित्य बौद्धिक आनन्द प्रदान करने के साथ-साथ हमारी सामाजिक चेतना का परिष्कार करता हुआ हमें अपने व्यक्तिगत स्वार्थों के बन्धनों से मुक्त करता है। पश्चिमी साहित्य चिन्तन में कई विद्वानों ने आनन्दपरक मूल्यों की सत्ता को स्वीकार किया है।

सर्वप्रथम प्रसिद्ध यूनानी विचारक अरस्तू ने निर्भ्रान्त शब्दों में यह घोषणा की कि कला की सिद्धि आनन्द ही है --"काव्य का चरम

---

१ टॉलस्ताय : ह्वाट इज़ आर्ट, पृ०सं०२८६।

लक्ष्य उसके द्वारा उपलब्ध विशिष्ट आनन्द ही है, नैतिकता नहीं[1]।" विशिष्ट आनन्द तथा मानव सत्य की सिद्धि के लिए अगर नैतिक भावना का परितोष हो जाये तो अरस्तू को कोई आपत्ति नहीं थी। वे तो बस यही चाहते थे कि कला को किसी सांयोगिक नहीं, अपितु विशिष्ट आनन्द की सृष्टि करनी चाहिए।

पेरि ह्प्सुस नामक प्रसिद्ध निबन्ध के लेखक लौंगिनुस ने आनन्दवादी मूल्यों की स्थापना करते हुए कला के उन्हीं उदाहरणों को श्रेष्ठ और सच्चा माना है जो --" सब व्यक्तियों को सर्वदा आनन्द दे सकें[2]।" इस प्रकार शाश्वत और सार्वभौम आनन्द ही उनकी दृष्टि में काव्य का चरम मूल्य है। लौंगिनुस ने काव्य में आनन्दवादी मूल्यों की प्रतिष्ठा करके बुद्धितत्त्व के साथ भावतत्त्व को भी महत्ता प्रदान की।

प्रसिद्ध रोमी कवि होरेस तो काव्य का उद्देश्य ही आनन्द प्रदान करना अथवा उपयोगिता मानते हैं--"कवि का उद्देश्य या तो उपयोगिता होता है, या आह्लाद या फिर वह उपयोगी और आह्लाद-दायी का एक ही में समन्वय कर देता है.... जो कवि उपयोगी और मधुर का संश्लेषण करता है, वही सफल होता है, क्योंकि वह अपने पाठक को आह्लादित भी करता है और शिक्षित भी[3]।" नाटक में भी होरेस ने इन्हीं आनन्दवादी मूल्यों की स्थापना की।

प्राचीन के प्रति अत्यधिक निष्ठा रखते हुए नवीन के प्रति आकृष्ट प्रसिद्ध कवि एवं आलोचक जॉन ड्राइडन ने कला तथा काव्य की सिद्धि आनन्द को ही माना है। यह अवश्य है कि काव्य से शिक्षा की भी प्राप्ति होनी चाहिए, किन्तु काव्य के मुख्य उद्देश्य आनन्द के सम्मुख

----

१ अरस्तू- काव्यशास्त्र, पृ०सं० ७४।
   अरस्तू का काव्यशास्त्र, पृ०सं०४७।

२ डॉ० निर्मला जैन : उदात्त के विषय में, पृ०सं० ७४।

३ रांगेय राघव : (रूपान्तरकार): काव्यकला, पृ०सं० १७।

शिक्षा गौण रूप धारण कर लेता है । ड्राइडन ने काव्य का मुख्य लक्ष्य हर्ष को उत्पन्न करना ही माना है-- 'यदि काव्य से हर्षोद्रेक होता है तो मुझे केवल इतने से ही संतोष है, क्योंकि हर्षोद्रेक यदि काव्य का एकमात्र लक्ष्य नहीं तो उसका प्रमुख लक्ष्य अवश्य है । शिक्षा देना भी काव्य का लक्ष्य हो सकता है, किन्तु आनन्द के सामने वह गौण हो जाता है । कविता आनन्दानुभूति के सहारे ही शिक्षा दे सकती है[१] ।' इस प्रकार उनका विचार था कि जो वस्तु जीवन के लिए लाभदायक नहीं होती वह आनंद का भी विषय नहीं बन सकती, इसके विपरीत स्वस्थ आनन्द निश्चितरूप से जीवन के लिए हितकर होता है । स्थायी आनन्द जीवन के उत्कर्षक (मानव जीवन के उन्नयन में सहायक) मूल्यों द्वारा ही सम्भव है तथा चरम रूप में आनन्दवादी मूल्यों और नैतिक मूल्यों में कोई अन्तर भी नहीं रह जाता । ड्राइडन का मुख्य ध्येय अपने युग को आह्लादित करना ही रहा ।

काव्य एवं चित्रकला पर विचार करने वाले, वस्तुपरक विचारक गाट्होल्ड एफ्राइम लेसिंग ने काव्य के चिरन्तन आनन्द में विश्वास रखते हुए कला का उद्देश्य भी निष्प्रयोजन आनन्द ही माना है । किन्तु आनन्द से युक्त कला का वे बोधगम्य एवं सुन्दर होना भी आवश्यक मानते हैं, क्योंकि जब तक कला में आकर्षण शक्ति नहीं होती तब तक वह किसी को आकर्षित करने की सामर्थ्य से रहित होगी । परन्तु अगर वह केवल आकर्षण शक्ति से ही युक्त है, बोधगम्य नहीं तो भी वह उच्चकोटि की कला नहीं है, इसलिए बोधगम्य एवं आकर्षक होने के साथ ही साथ कला को आनन्द प्रदान करने वाली भी होना चाहिए । उनके विचार से -- 'अभिव्यक्ति की सार्थकता तब ही है जब कि उसमें निहित भाव, वस्तु और विचार दर्शक तथा श्रोता के लिए सम्प्रेष्य एवं आनन्द प्रदान करने वाला हो[२] ।'

----

१ ड्राइडन : डिफेन्स ऑफ दि एसे
(उद्धृत डा० सावित्री सिन्हा (सम्पादिका), पाश्चात्य काव्यशास्त्र की परंपरा,

इस प्रकार लेसिंग कला के चिरन्तन आनन्द में ही विश्वास रखते थे।

काव्य के क्षेत्र में युगान्तरकारी परिवर्तन करने वाले, प्रमुख स्वच्छन्दवादी कवि विलियम वर्ड्सवर्थ ने भी काव्य में आनन्दपरक मूल्यों की स्थापना अत्यधिक विश्वास के साथ की[1]। उन्होंने अनुभूति की तीव्रता और सहज भावोच्छ्वास को प्रमुखता प्रदान कर अरस्तू के शासन को अस्वीकृत ठहराया। वे तात्कालिक आनन्द प्रदान करने को कवि कला का अपकर्ष नहीं समझते, क्योंकि हमारी केवल उसी के प्रति सहानुभूति होती है जो आनन्द से उत्पन्न होता है। वर्ड्सवर्थ ने मानव तथा प्राकृतिक कार्य-कलाप के अन्त:स्तल में विद्यमान आनन्द को काव्य का नैतिक धर्म प्रतिपादित कर सम्बन्धों और प्रेम के आधार पर मानव और प्रकृति के मौलिक मूल्यों की ओर लक्ष्य किया है। वे तो प्रकृति के मूल नियमों को उद्घाटित कर उन्हें आनन्दप्रद बनाना ही अपना सबसे मुख्य कार्य समझते थे। उन्होंने कहा भी है--'मानव प्रकृति के मूल नियमों को प्रस्तुत करते हुए उन्हें आनन्दप्रद बनाना मेरा सर्वोपरि लक्ष्य है[2]।'

आधुनिक युग (बीसवीं शताब्दी) के अत्यधिक प्रसिद्ध आलोचक टामस स्टर्न इलियट का कहना है कि प्रत्येक नया युग अपने साथ मूल्यगत क्रान्तिकारी परिवर्तनों की उद्भावना की प्रवृत्ति लाता है एवं इस मूल्य परिवर्तन तथा निर्धारण के अनुसार ही उस युग की उपलब्धियों का लेखा जोखा बनाना सम्भव होता है। वे कहते हैं कि कविता विशुद्ध आनन्दानुभूति है जिसमें व्यक्तिगत अन्तर्वेगों के लिए कोई स्थान नहीं[3]। टॉलस्टाय ने कला का उद्देश्य आनन्द प्रदान करना ही नहीं माना, परन्तु फिर भी वह आनन्द की आवश्यकता पर बल देता है। आनन्द के विषय में टॉलस्टाय

----

१ वर्ड्सवर्थ : पोयट्री एण्ड पोएटिक डिक्शन, पृ०सं० १४।

२ वर्ड्सवर्थ : लिरिकल बैलेड्स, भूमिका, द्वितीय संस्करण।

३ टी०एस० इलियट, सिलेक्टेड एसेज़।

का कहना है-- " कला का लक्ष्य केवल आनन्द प्रदान करना नहीं है, फिर भी उसमें आनन्द होना चाहिए तथा उसे प्रभविष्णु भी होना चाहिए।[1]"

क्रोचे आधुनिक काल में अभिव्यंजनावाद नामक प्रमुख वाद का स्थापना करने वाला, इटली निवासी प्रमुख आलोचक था। क्रोचे ने कला का आनन्द अन्य आनन्दों से भिन्न माना है। उनके अनुसार कलाकृति में सफल अभिव्यंजना के आनन्द की अनुभूति होनी चाहिए। आनन्द की दृष्टि से कला सर्जन और कलास्वादन की प्रक्रिया यथार्थत: अभिन्न है। वे कविता की निर्मल दृष्टि की आवश्यकता स्वीकार करते हैं--" इसी से हमारे अन्त:करण में आशा और आनन्द की किरणों का संचार हो सकता है, हमारे अश्रुबिन्दु सूख सकते हैं और हम खुलकर हंस सकते हैं[2]।" इस प्रकार क्रोचे के अनुसार कला का आनन्द अन्य आनन्दों से भिन्न है।

पाश्चात्य जगत में यथार्थवादी आलोचना की तात्त्विक दृष्टि के जन्मदाता रूस के महान प्रगतिशील विचारक विस्सारियन ग्रिगोरियेविच बेलिन्स्की ने काव्य एवं कला में आनन्दपरक मूल्यों की चर्चा करते हुए कहा कि --" जो लोग आनन्द को आत्मगत मानकर परमार्थ जगत की बातें सोचते हैं, जगत की समस्याओं की अभिव्यक्ति नहीं देते, निन्दनीय है[3]।"

कला और आनन्द का सम्बन्ध निर्धारित करते समय निकोलाई गाव्रिलोविच चर्निशेव्स्की के विचारों से पता चलता है कि उसने इस आनन्द तत्त्व के द्वारा ही आशा का संचार होना माना है, जिससे सहृदयता एवं सौजन्य व्यक्ति में अधिकाधिक मात्रा में विकसित हो जाता है[4]।

----

१ तॉलस्ताय : ऑन आर्ट, पृ०सं० ५६।

२ क्रोचे : दि डिफेन्स ऑफ पोयट्री, पृ०सं० ७-८।

३ राजेन्द्र प्रताप सिंह : सौन्दर्यशास्त्र की पाश्चात्य परम्परा, पृ०सं०१७८।

४ मक्खनलाल शर्मा : पाश्चात्य काव्य शास्त्र: मार्क्सवादी परम्परा-भूमिका।

इस समस्त विश्लेषण से ज्ञात होता है कि पाश्चात्य साहित्य चिन्तन के क्षेत्र में विद्वानों ने विभिन्न दृष्टिकोणों से आनन्दवादी मूल्यों की चर्चा की है।

सौन्दर्यवादी मूल्य

ड्राइडन ने पहली बार साहित्य में सौन्दर्यवादी मूल्यों की महत्ता पर बल दिया तथा 'साहित्य को अनुकरण न मानकर पुनः सृजन कहा[1]।' उन्होंने शिव और सुन्दर में कोई विरोध न मानकर नैतिक सौन्दर्य को काव्य का लक्ष्य माना। लैसिंग ने भी साहित्य में सौन्दर्यवादी मूल्यों को ग्रहण किया, किन्तु सौन्दर्य शब्द से उन्होंने केवल जड़ सौन्दर्य का ही अर्थ नहीं लिया है। परिस्फूर्ति और सत्याभिव्यक्ति दोनों को ही प्रधानरूप से सौन्दर्य से अलग स्थान दिया है[2]।

वर्ड्सवर्थ ने काव्य का प्रयोजन सौन्दर्य-बोध के परिष्कार को माना--' कवि तो पाठकों के सौन्दर्य बोध की परिष्कृति करता है और उसे आनन्द की शुचिता प्रदान करता है[3]।'

कॉलरिज सौन्दर्य को किसी भी प्रकार के बन्धनों से युक्त नहीं मानता। वह तो मानता है कि काव्यरस सौन्दर्य पर आश्रित है, सौन्दर्य रस पर नहीं। आनन्द को भी कॉलरिज ने सौन्दर्य का अनुवर्ती माना। सौन्दर्य ही प्रकृति की आत्मा तथा मानवात्मा के मध्य मूक सम्प्रेषण स्थापित करता है-- 'कविता सौन्दर्य के माध्यम से तात्कालिक आनन्दोद्रेक के लिए भावों को उद्वेलित करती है[4]।' वे काव्य में सौन्दर्य को प्रमुख तो मानते हैं, किन्तु साथ ही उसे कल्पना पर आश्रित मानते हैं।

---

१ डॉ० शांतिस्वरूप गुप्त : पाश्चात्य काव्यशास्त्र के सिद्धान्त, पृ०सं०११०।

२ डॉ० सुरेन्द्रबारलिंगे : सौन्दर्यतत्त्व, अनुवादक डॉ० आनन्दप्रकाश दीक्षित, पृ०सं०२२२।

३ डॉ० कृष्णवल्लभ जोशी : पाश्चात्य साहित्यशास्त्र : सिद्धान्त और संप्रदाय, पृ०सं०८५।

४ डॉ० शान्तिस्वरूप गुप्त : पाश्चात्य काव्यशास्त्र के सिद्धान्त, पृ०सं० १४०।

इलियट ने काव्य का मौलिक तत्त्व उसे रसों को मानते हैं कि अच्छे काव्य को पसन्द किया जाए तथा बुरे काव्य का निराकरण किया जाये। सौन्दर्य बहुत ही प्रभावकारी तत्त्व है, इसके विद्यमान होने पर काव्य और भी अधिक आनन्द प्रदान करने वाला बन जाता है। इलियट ने सौन्दर्य और कुरूपता के नीचे परेशानी, भीषणता और सच्चाई के दर्शन भी किए थे तथा वे " सुकाव्य की पसन्दगी और कुकाव्य के निराकरण की सामर्थ्य को कविता का मौलिक तत्त्व मानते हैं।"[1]

सौन्दर्य के विषय में पोप कहते हैं--" कुछ सौन्दर्य ऐसा होता है, जो आज भी अनिर्वचनीय है, क्योंकि उसमें आह्लाद भी होता है, विषाद भी।"[2]

सौन्दर्य की बाह्य सत्ता क्रोचे स्वीकार नहीं करते। उनके विचार से सौन्दर्य-बोध ही सौन्दर्य अथवा सुन्दर होता है, परन्तु क्रोचे यह भी स्पष्ट करता है --" बिना कल्पना की सहायता के प्रकृति का कोई भी अंश सुन्दर नहीं कहा जा सकता।"[3] क्रोचे के दर्शन की अपेक्षा उनके सौन्दर्यशास्त्र का ही प्रचार और प्रसार अधिक हुआ। उनका सौन्दर्यवादी सिद्धान्त कला की शुद्धता को युक्तियुक्त सिद्ध करने में सफल हुआ।

सौन्दर्यशास्त्रीय सूझ-बूझ होनेके कारण बेलिन्स्की ने जनसेवा के साथ सौन्दर्य का होना भी आवश्यक माना है--" जनसेवा से सौन्दर्यशास्त्र को वंचित कर देना उसे निराधार स्थापित करना है।"[4] सौन्दर्य का सहयोग होने पर मनुष्य को आनन्द की भी प्राप्ति होती है, परन्तु यह आनन्द विशेष प्रकार का होता है, जिसकी प्राप्ति होने पर मनुष्य क्षण भर के लिए अपने अहम् को भूल जाता है तथा प्रकृति के साथ

---

१ डॉ० जगदीशचन्द्र जैन : पाश्चात्य समीक्षा दर्शन, पृ०सं०४१३।

२ एलेग्जेंडर पोप : एन एसे ऑन क्रिटिसिज्म।

३ क्रोचे : एस्थेटिक, पृ०सं० ९८-९९।

४ राजेन्द्रप्रताप सिंह : सौन्दर्यशास्त्र कीपाश्चात्य परम्परा, पृ०सं०१७७।

संवेदन का अनुभव करता है। बेलिन्स्की ने सौन्दर्य के इस आनन्द पर भी प्रकाश डाला है--"सौन्दर्य का आनन्द है क्षण भर के लिए अपने अहम् को भूल जाना, प्रकृति के सार्वभौम जीवन के साथ संवेदन का अनुभव करना[1]।"

चर्निशेव्स्की ने यथार्थवादी सौन्दर्य सिद्धान्तों का पहली बार विधिवत् रूप से निरूपण किया, उन्होंने सौन्दर्य भावना को स्मृतिमूलक माना जो भावोद्बोधन कराता है और सुन्दर लगता है। यहाँ तक कि उन्होंने तो सुन्दर को ही जीवन कहा है--"सुन्दर ही जीवन है, सुन्दर वह वस्तु है, जिसमें जीवन को हम उस रूप में देखते हैं, जिसमें हमारी मान्यताओं के अनुरूप उसे होना चाहिए[2]।"

कलात्मक मूल्यों के अन्तर्गत ऐसे मूल्यों को भी लिया जा सकता है जो काव्यशिल्प, रचनाविधान एवं कलापक्ष को समर्थ करने में सहायक होते हैं। इनके द्वारा ही कोई कलाकृति रचना अथवा काव्य अधिक पुष्ट और आकर्षक होता है-- ये मूल्य साहित्यिक मूल्य कहे जाते हैं। रिचर्ड्स की अधिकांश व्यस्तता इसी मूल्य को लेकर है। उन्होंने साहित्यिक मूल्य का मनोवैज्ञानिक विवेचन किया है[3]। रिचर्ड्स साहित्य को इस प्रकार का एक तत्व मानते हैं जो मानसिक शक्तियों, विचारों और इच्छाओं के साथ ही हमारी चित्तवृत्तियों का संगठन या व्यवस्थापन करता है। इलियट साहित्यिक कृति में इन मूल्यों को अनिवार्य मानते हैं। उन्होंने अपने वस्तुपरक अनुस्यूति के सिद्धान्त द्वारा कलापक्ष एवं काव्यशिल्प पर अधिक बल दिया है[4]। मानव अनुभूतियों के प्रति उनका कोई लगाव नहीं है, इसीलिए वे साहित्य के नये मूल्यों का उद्घाटन कर कवियों के नये क्रम को निर्धारित करना, साहित्य में क्रांति नहीं मानते।

----

१ अनुवादक नरोत्तमनागर : कला का उद्देश्य
डा०नगेन्द्र(सम्पादक) पाश्चात्य काव्यशास्त्र: मार्क्सवादी परम्परा,पृ०सं०६
२ चर्निशेव्स्की : कला का वास्तविकता से सौन्दर्यात्मक सम्बन्ध, १८५५।
३ रिचर्ड्स : प्रिन्सिपुल्स ऑफ लिटरेरी क्रिटिसिज्म- ग्यारह से पन्द्रह अध्याय।
४ टी०एस० इलियट - पोयट्री एण्ड ड्रामा।

सृजनात्मक मूल्य

उपर्युक्त समस्त मूल्यों के अतिरिक्त साहित्य में सृजनात्मक मूल्यों का अपना विशिष्ट स्थान है। सृजनात्मकता से हमारा तात्पर्य रचनात्मकता से है। मानव अपनी कल्पना और प्रतिभा के माध्यम से संसार में अर्जित अनुभवों द्वारा जिन मूल्यों की सृष्टि करता है, वे सृजनात्मक मूल्य कहलाते हैं। वे युग प्रवृत्तियों के परिवर्तित होने के साथ-साथ इन मूल्यों में भी परिवर्तन आते जाते हैं। परिवर्तित नए स्थापित मूल्य, किसी विद्रोह के कारण उत्पन्न नहीं होते, बल्कि चाहे ये कल्पना जगत के हों अथवा यथार्थ जगत के तभी उत्पन्न होते हैं जब कोई कल्पना नए ज्ञान को ग्रहण करने में अथवा व्यक्ति की ज्ञान पिपासा को शान्त करने में असमर्थ हो जाती है।

कवि अथवा लेखक एवं कलाकार की सृजनशक्ति कल्पना ही है। इस तरह भी कहा जा सकता कि कवि की रचनाशक्ति अथवा काव्य प्रतिभा का मूलाधार कवि की उस मानसिक शक्ति में निहित है, जो कि अदृष्ट को दृष्ट में, स्थूल को सूक्ष्म में और कुरूप को सुन्दर में परिणत करने की शक्ति रखता है। इसकी अनूठी शक्ति के द्वारा ही कवि अपने सभी संस्कारों एवं अनुभूतियों को एक में संजोकर अर्थपूर्ण काव्यरूपों, लेखों एवं अन्य शैलियों का सृजन करता है।

कलाएं प्रमाणित मूल्यों का कोश है। इन कलाओं का सम्बन्ध भी एक प्रकार की निष्ठा से होता है, जो कि सच्चाई पर बल देती हुई कल्पनाशील अनुभूति को सम्भव बनाती है। चर्निशेव्स्की ने काव्य में कल्पनात्मक मूल्यों का उल्लेख वास्तविकता में सुन्दर के समावेश के प्रसंग में किया है। वे वास्तविकता में सुन्दर का समावेश कल्पना द्वारा ही मानते हैं-- इसलिए सुन्दर का क्षेत्र कल्पना का क्षेत्र है-- कला जो कल्पना की अभिलाषाओं को चरितार्थ करती है, वास्तविकता से ऊँचा स्थान रखती है

और वास्तविकता में न मिलने वाले सौन्दर्य की रचना करने की मानव की आकांक्षा से उद्भूत होता है[1]।" इस प्रकार चर्निशेव्स्की ने कल्पना का योग माना है, किन्तु बहुत अधिक दृढ़ता के साथ नहीं।

काव्य में कल्पनात्मक मूल्यों को स्वीकार करते हुए लेसिंग ने कहा कि कवि या चित्रकार को चित्रण ऐसा करना चाहिए कि वह हमारी भावनाओं को अभिभूत करते हुए एक बिम्ब के रूप में मन में कौंध जाये[2]। लेसिंग कला मूल्यों का निर्धारण अन्तर्वृत्तियों के सामंजस्य की न्यूनाधिक मात्रा पर करते हैं।

वर्ड्सवर्थ के अनुसार उच्चकोटि की प्रतिभाएँ कल्पना के बल पर प्रकृति की प्रतिकृति अंकित कर सकती हैं[3]। कभी वे कल्पना के अन्तर्गत बिम्बों के स्वच्छन्द पुनः सर्जन और उसके संयोजन को लेते हैं तो कभी नव्यशास्त्रवादियों की भाँति उसे बौद्धिक अन्तर्दृष्टि मानते हैं। कल्पना शक्ति पर वर्ड्सवर्थ ने बहुत अधिक बल दिया। उसने सत्य, शिव, सुन्दर, गरिमा, उदात्त विचार और उत्तेजना तथा प्रतिभा आदि सद्गुणों की प्रतिष्ठा की एवं सौन्दर्य का ग्रहण करते हुए कल्पना के माध्यम से आनन्दवादी मूल्यों की प्रतिष्ठा की।

कॉलरिज कल्पना को लोकोत्तर निर्माणात्मक शक्ति का पर्याय मानते हैं, यही कल्पना काव्य में सौन्दर्य की सृष्टि करती है। इसी कल्पना के माध्यम से कवि रूपसृष्टि करता है, जिसमें भाव, विचार, वस्तु एक संश्लिष्ट इकाई में ढल जाते हैं। नियम पालन एवं प्रज्ञा से कहीं अधिक महत्त्व काव्यसृजन में कॉलरिज प्रतिमा एवं कल्पना को देते हैं -- "सद्बुद्धि काव्य प्रतिभा की काया है, ललित कल्पना परिच्छद, मनोवेग उसका जीवन और कल्पना उसकी आत्मा है जो सर्वत्र और सब भागों में

---

1 चर्निशेव्स्की दर्शन, साहित्य और आलोचना (अनुवादक नरोत्तम नागर), पृ० १७१।

2 लेसिंग: लैकून (अनुवादक सर राबर्ट फिलिमोर)

3 वर्ड्सवर्थ : लिरिकल बैलेड्स।

व्याप्त रहता है। ब्रह्म और प्रकृति का संयोग कल्पना द्वारा ही होता है।[1]
कल्पना को काव्य की आत्मा मानकर कॉलरिज ने उसे बहुत ही श्रेष्ठता
प्रदान की है।

क्रोचे कहता है कि बिना कल्पना की सहायता के प्रकृति का
कोई भी अंश सुन्दर नहीं कहा जा सकता[2]। कल्पनात्मक मूल्यों को महत्वपूर्ण
मानते हुए बेलिंस्की ने कहा है--" किसी कलाकृति में वर्णित वास्तविकता
में कल्पना का पुट होना आवश्यक है तथा इस कल्पना में इतनी सामर्थ्य
होनी चाहिए कि कुछ सम्पूर्ण, अविकल, एकाकृत और स्वत: पूर्ण का सृजन
कर सके[3]।" वे तो यह भी मानते हैं कि जब कवि अपनी कल्पना की
दार्शनिक जोत का अनुसरण करता है, वह नैतिक रहता है, कवि रहता है।

कल्पना के अतिरिक्त प्रतिभा, उदात्त भावना, प्रेरणा आदि
द्वारा सृजनात्मक मूल्यों के निर्माण पर भी पाश्चात्य विचारकों ने विचार
किया है। प्लेटो की भाँति अरस्तू ने अनुकरण सिद्धान्त का प्रतिपादन किया
है, किन्तु उनके अनुसार अनुकरण का अर्थ यथार्थ प्रत्यंकन मात्र नहीं है, वह पुन:
सृजन का पर्याय है एवं उसमें भाव तत्त्व तथा कल्पना तत्त्व का यथेष्ट अन्तर्भाव
है। अरस्तू ने अनुकरण को सृजनात्मक मूल्यों के अन्तर्गत लिया है। वे प्रतिभा
और प्रेरणा को भी सच्चा काव्य में अनिवार्य मानते हैं -- " सफल भावाभि-
व्यक्ति के लिए ज़रूरी है कि कवि में संवेदनशीलता की गहरी क्षमता हो।"
कला मूल्यों का निर्धारण अरस्तू अन्तर्वृत्तियों के सामंजस्य की न्यूनाधिक
मात्रा पर करते हैं अर्थात् जो कलारूप हमारी अन्तर्वृत्तियों में जितना अधिक
सामंजस्य स्थापित करता है, वह उतना ही अधिक मूल्यवान होता है[4]। अरस्तू
ने जिस अनुकरण सिद्धान्त तथा विरेचन सिद्धान्त की स्थापना की उसमें

---

1 डॉ० सावित्री सिन्हा (सम्पादिका): पाश्चात्य काव्यशास्त्र की परम्परा, पृ०१६५।
2 क्रोचे : एस्थैटिक, पृ०सं० ६८-६६।
3 एर्नेस्टजे० सिमन्स : कण्ट्रीब्यूशन एण्ड चैंज इन रशियन एण्ड सोवियत थॉट,
पृ० ३८६।

सृजनशीलता क ही अधिक पाई जाती है ।

लोंगिनुस कला का प्राणतत्त्व औदात्य को तथा काव्य के मूल्यांकन का मूलाधार प्रतिमा के उद्रेक को मानते हैं । रचनाकार के व्यक्तित्व के महत्त्व परबल देकर उन्होंने काव्य और वक्तृता में आन्तरिक मूल्यों की स्थापना की तथा साहित्य में बहुसंख्यक गुणों की प्रतिष्ठा की । वे 'उदात्त आवेग ,आत्मिक ओज,तथा अन्त:प्रेरणा को तात्त्विक मूल्य मानते हैं और कहते हैं कि इन्हीं पर निर्भर रहना समीचीन है ।'[1] होरेस प्रतिमा को असाधारण कोटि की मेधा मानते हैं, परन्तु कला और प्रतिमा में भेद भी नहीं कर पाते, बल्कि उनमें इस विषय में समीकरण की प्रवृत्ति परिलक्षित होती है ।[2]

रिचर्ड्स ने तो मूल्यों का उल्लेख ही कलाकार के अनुभव को ध्यान में रखते हुए किया है, वे मानते हैं कि मूल्य जब अनुभव के स्तर पर होता है, तभी वह रचनात्मक होता है ।'[3] रिचर्ड्स का मूल्य बोध सुखवाद से भिन्न है,क्योंकि उनका विश्वास है कि कोई भी पाठक केवल सुखोपलब्धि के लिए ही किसी रचना का अध्ययन नहीं करता । उन्होंने सुखवाद या आनन्दवाद का खण्डन किया है ।[4] ड्राइडन ने काव्य का उद्देश्य नियम पालन से अधिक प्रतिमा को माना ।[5] डॉ० जॉनसन परम्परागत नियमों के अन्धानुकरण के विरुद्ध थे तथा प्रतिमा को अत्यधिक महत्त्व देते थे ।[6] जिसे भावों को उद्दीप्त करने के लिए सामान्य साधनों के क्रमिक अवस्थानों की आवश्यकता नहीं होती अपितु जो सहसा हमारे हृदयों को आह्लादमय शोक से भर देती है और अपने दृश्य बदलने के साथ ही हमारी मनोवृत्ति को भी बदल सकती है, ऐसी प्रतिमा की महत्त्व स्थापना जॉनसन ने की ।

---

१ डॉ० नगेन्द्र,नेमिचन्द्र जैन(अनु०): काव्य में उदात्त तत्त्व,पृ०सं०३३।
२ रांगेयराघव (रूपान्तरकार): काव्य कला,पृ०सं०२१।
३ रिचर्ड्स : प्रिन्सिपुल्स ऑफ लिट्रेरी क्रिटिसिज्म,पृ०सं०३२।
४ फाउन्डेशन्स ऑफ एस्थेटिक्स,पृ०सं०५३।
५ ड्राइडन : ऐसे ऑन ड्रामेटिक पोयड्री ।
६ डॉ० शान्तिस्वरूप गुप्त : पाश्चात्य काव्यशास्त्र के सिद्धान्त,पृ०सं०११५ ।

इलियट ने जिस संस्कृति का निरूपण किया, वह भी मूल्यात्मक है। वे तो प्रतिभा के दोनों ही रूपों को स्वीकार करते हैं, क्योंकि उनके विचार में जिस कलाकार में भावयित्री और कारयित्री दोनों प्रतिभाएँ होंगी वही सुन्दर कृति भी प्रस्तुत कर सकता है। इतना होने पर भी इलियट ने प्रतिभा[१] को नैसर्गिक महत्व दिया है और प्राय: परम्परा को ही सब कुछ माना है।

पोप ने भी प्रतिभा को असाधारण माना--'सच्ची प्रतिभा के समान ही परिष्कृत रुचि भी असाधारण वस्तु[२] होती है तथा युगीन प्रतिभा का ज्ञान होना समीक्षक के लिए आवश्यक है।'

क्रोचे कलाकार के लिए सर्जनात्मक कल्पना की प्रतिभा तथा मानव के लिए ग्राहक भावयित्री कल्पना की प्रतिभा अपेक्षित मानते हैं। उनकी[३] दृष्टि में दोनों की प्रतिभा प्रत्यक्षत: भिन्न होकर भी वस्तुत: अभिन्न है। साधारण व्यक्ति की अप्रतिभा से भिन्न प्रतिभा अथवा कलात्मक प्रतिभा शब्द में परिमाणात्मक सार्थकता से अधिक और कोई सार्थकता नहीं है। दर्शन शक्ति की अतिशयता के अतिरिक्त प्रतिभा उनकी दृष्टि में और कोई अलग किस्म की वस्तु नहीं है। क्रोचे के मतानुसार मानव इतिहास केवल मनुष्य की सर्जनशील मूल्य प्रक्रिया के रूप में ही समझा जा सकता है।

प्रतिभा के बिना बेलिन्स्की भी किसी विचारधारा का कोई मूल्य ही नहीं मानते--'बिम्बों की भाषा में सोचने की क्षमता को ही प्रतिभा कहते हैं।'[५] वैसे भी प्रतिभा के बिना कुछ कलावादी भी कला का निर्माण नहीं कर सकते।

---

१ इलियट : सिलेक्टेड एसेज़, पृ०सं०१५

२ एलेक्जेंडर पोप : एन एसे ऑन क्रिटिसिज्म

३ डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी (मुख्य सम्पादक): काव्यशास्त्र, पृ०सं०५५८।

४ लेख--क्रोचे का अद्वैतवाद--डॉ० प्रेमप्रकाश गौतम

५ शिवदान सिंह चौहान : आलोचना के सिद्धान्त, पृ०सं०१२९।

पाश्चात्य साहित्य-चिन्तन की परम्परा में मूल्य प्रक्रिया पर विचार करते हुए विभिन्न विचारकों का नामोल्लेख जो बार-बार हुआ है,उसका कारण यही ह कि उनकी दृष्टियों में कई मूल्य अन्तर्मुक्त हो गये हैं । जैसा कि पहले भी कहा गया है कि मूल्य अमूर्त होते हैं, अत: उसकी अलग-अलग सत्ता स्पष्टत: दिखायी नहीं जा सकती,इसीलिए यहाँ पर भी मूल्यों का अन्तर्भाव होता गया है ।

इस प्रकार समय-समय पर पाश्चात्य साहित्य-चिन्तन में प्लेटो से लेकर इलियट तक विद्वानों ने, सामाजिक,दार्शनिक,आध्यात्मिक तथा सृजनात्मक आदि अनेकों मूल्यों का विवेचन किया है ।

(ख) प्राचीन भारतीय साहित्य-चिन्तन

प्राचीन भारतीय साहित्यशास्त्र से हमारा तात्पर्य है-- संस्कृत भाषा में प्रयुक्त काव्यशास्त्र से । संस्कृत भाषा भारतीय संस्कृति की जननी है । इस भाषा के विकास के दो रूप हैं-- वैदिक संस्कृत एवं लौकिक संस्कृत । वैदिक संस्कृत प्रारम्भिक रूप है, इसी से लौकिक संस्कृत का विकास हुआ । वैदिक संस्कृत की परम्परा बड़ी अत्यधिक प्राचीन है, उसमें वेद,उपनिषद् तथा आरण्यक आदि में श्रेष्ठ काव्य की रचना प्रचुर मात्रा में हुई, परन्तु साहित्यशास्त्रीय सिद्धान्तों का निर्माण लौकिक संस्कृत के अन्तर्गत ही हुआ । जिसके फलस्वरूप साहित्य क्षेत्र में चिन्तन का विकास हुआ तथा स्थूल से सूक्ष्म पर्यन्त अनेकों मूल्यों की चर्चा हुई । अत: रस सिद्धान्त के निर्माता भरतमुनि के समय से ही प्राचीन भारतीय साहित्य का विवेचन करना उचित होगा ।

भारत में प्रचलित भाषाओं में जिन काव्यशास्त्रीय सिद्धान्तों का अनुशीलन, प्रतिपादन तथा विवेचन किया गया है, उनमें लौकिक संस्कृत के साहित्य शास्त्र अथवा काव्यशास्त्र के ही मूल सिद्धान्तों को अपनाया गया है तथा वहीं से अधिक सामग्री भी ग्रहण की गई है । हिन्दी का साहित्य-चिन्तन भी संस्कृत के प्रभाव से वंचित नहीं है, इसलिए आधुनिक हिन्दी साहित्य चिन्तन पर विचार

करने से पूर्व भारतीय साहित्य-चिन्तन के विकास एवं मूल्य दृष्टियों पर प्रकाश डालना आवश्यक है ।

प्राचीन भारतीय साहित्य-चिन्तन की परम्पराएँ

समग्र संस्कृत काव्यशास्त्र का अनुशीलन करने पर ज्ञात होता है कि उसमें अनेक सम्प्रदाय विद्यमान थे । काव्यशास्त्रियों के सम्मुख सबसे बड़ी समस्या थी, काव्य की आत्मा को पहचानना अथवा कह सकते हैं कि उनके चिन्तन का प्रधान विषय बन गया था-- काव्य की आत्मा का विवेचन करना । वह जानना चाहते थे कि वह कौन सी वस्तु है, जिसका आधिपत्य होने पर काव्य में काव्यत्व विद्यमान रहता है । इसी जिज्ञासा ने काव्य में विभिन्न सम्प्रदायों को जन्म दिया । ये सम्प्रदाय सिद्धान्तों के ऐक्य पर आश्रित होते हैं, फिर भी दोनों में कुछ पार्थक्य होता है । सम्प्रदाय कहलाने के अधिकारी वे ही सिद्धान्त होते हैं, जिनका विकास किसी एक चिन्तक द्वारा होकर ही समाप्त नहीं हो जाता, अपितु वे परवर्ती आचार्यों द्वारा गृहीत किये जाकर विकसित होते हैं । इसी आधार पर विद्वान् वक्रोक्ति तथा औचित्य को सिद्धान्त की संज्ञा से ही विभूषित करते हैं । उन्हें सम्प्रदाय मानने के लिए वे तैयार नहीं[1] ।

अत: सम्पूर्ण संस्कृत काव्यशास्त्रीय चिन्तन परम्परा को चार सम्प्रदायों एवं दो सिद्धान्तों में विभक्त किया जा सकता है --

१- रस सम्प्रदाय
२- अलंकार सम्प्रदाय
३- रीति सम्प्रदाय
४- वक्रोक्ति सिद्धान्त
५- ध्वनि सम्प्रदाय
६- औचित्य सिद्धान्त

---

१ हिन्दी साहित्य, प्रथम खण्ड, पृ०सं०३२३
(प्र० भारतीय हिन्दी परिषद्, प्रयाग)

वक्रोक्ति और औचित्य सिद्धान्त स्वयं स्वतन्त्र सिद्धान्त न होकर काव्यशास्त्र के अन्य तत्वों को उपादेय बनाने के साधनमात्र हैं ।

१- रस सम्प्रदाय

रस सम्प्रदाय का मूलभूत सूत्र है--[1] 'विभावानुभाव,व्यभिचारि-संयोगाद् रस निष्पत्ति:' अर्थात् विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारी भावों के संयोग से रस की निष्पत्ति होती है । रस अर्थात् आनन्द । किसी काव्य को पढ़ने तथा सुन्दर नाटक को देखने से चित्त में जो आनन्द की उत्पत्ति होती है,उसे ही रस सम्प्रदाय के आचार्यों ने रस कहा है । आज जो रस सिद्धान्त पाया जाता है, वह भरतमुनि के नाट्यशास्त्र से सम्बन्धित है । भरतमुनि ने सर्वप्रथम सामाजिकों के हृदय को आह्लादित करने वाले नाटक में रस की महत्ता प्रतिपादित करके साहित्य चिन्तन के क्षेत्र में मूल्यों की चर्चा प्रारम्भ की । भरत ने आठ रस माने[2] हैं तथा भरत प्रतिपादित इन रसों के अतिरिक्त आचार्यों ने अन्य रसों की सत्ता भी मानी है,जिनमें शान्त(आनन्दवर्धन),मधुर (गौड़ीय वैष्णवों की सम्मति में), वात्सल्य (विश्वनाथ) तथा प्रेयान्(रुद्रट) मुख्य हैं । रस सम्प्रदाय के आचार्य काव्य की आत्मा रस को मानते हैं तथा काव्य में इसकी अनिवार्यता पर बल देते हैं[3] ।

भट्ट लोल्लट, भट्ट शंकुक, भट्ट नायक तथा अभिनव गुप्त ने भरत के भाष्य पर टीकाएं लिखीं एवं रस के बारे में अपने विचार व्यक्त किये । रस के विषय में भट्ट लोल्लट उत्पत्तिवादी, भट्ट शंकुक अनुमानवादी, भट्ट नायक भुक्तिवादी तथा अभिनवगुप्त व्यंजनावादी आलोचक कहे जाते हैं । भट्ट लोल्लट ने

---

१ यह भरत का रस विषयक सूत्र है । अध्याय ६, पृ ७८, नाट्यशास्त्र

२ शृंगारहास्यकरुणा रौद्रवीरभयानका: ।
बीभत्साद्भुतसंज्ञौ चेत्यष्टौ नाट्ये रसा: स्मृता: । नाट्यशास्त्र ६/१२

३ वाक्यं रसात्मकं काव्यम्-- विश्वनाथ, साहित्यदर्पण, पृ २२
काव्यस्य शब्दार्थौ शरीरम् रसादिश्चात्मा-- विश्वनाथ, साहित्यदर्पण १म परि०

रस राम में उत्पन्न माना है जो राम का अभिनय करने वाले नट में जो प्रकट है और नट का अभिनय देखने वाले दर्शक भी उसी से आह्लादित होते हैं। भट्ट शंकुक रस को अनुमान का विषय मानते हैं, तभी उनके विचार से दर्शक नट को ही राम से अभिन्न समझने लगते हैं। अत: जो रस राम में उत्पन्न होता है, उसी का अनुमान द्वारा नट में आरोप किया जाता है और वही रस(आनन्द) अनुमान द्वारा दर्शक गण ग्रहण करते हैं। भट्ट नायक ने दर्शक को सर्वाधिक महत्त्व प्रदान करते हुए इस प्रश्न का समाधान करने का प्रयत्न किया है कि क्यों किसी काव्य के पढ़ने-सुनने से या नाटक के देखने से द्रष्टा या श्रोता के हृदय में रस का उद्बोध होता है। अभिनव गुप्त ने[1] रस को अलौकिक तथा आनन्द रूप माना है,इसीलिए जो वस्तु संसार में भय या क्रोध उत्पन्न करती है, वही काव्य में वर्णित होते ही अलौकिक रूप धारण करने के कारण आनन्द का उद्बोधन करती है।

संस्कृत काव्यशास्त्र में रस को सभी सम्प्रदायों ने अपनाया है, हाँ महत्त्व अपने-अपने दृष्टिकोण के अनुसार दिया है।

२- अलंकार सम्प्रदाय

अलंकार सम्प्रदाय के प्रधान प्रवर्तक भामह हैं तथा रुद्रट, दण्डी, उद्भट एवं प्रतिहारेन्दुराज इसके पोषक या अनुयायी कहे जा सकते हैं। रुद्रट तथा उद्भट तो भामह रचित काव्यालंकार के टीकाकार थे, परन्तु दण्डी[2] को भी काव्य में अलंकार की प्रधानता किसी न किसी रूप में स्वीकृत अवश्य थी। दण्डी के विचार में काव्य के पोषक अंगों को अलंकार शब्द के द्वारा पुकारा जाता है। रस सम्प्रदाय जिस प्रकार काव्य का प्राण रस को मानता है, उसी प्रकार अलंकार सम्प्रदाय के आचार्य काव्य का जीवातु अलंकार को ही मानते हैं। जिस प्रकार अग्नि में उष्णता अर्थात् जैसे आग उष्णता रहित नहीं हो सकती,

---

१ अभिनवभारती,पृ०सं० २६१-२८६ ।

२ काव्यशोभाकरान् धर्मान् अलंकारान् प्रचक्षते -- दण्डी । काव्यादर्श २/१

उसी प्रकार अलंकारशास्त्रियों के विचार से काव्य अलंकार रहित नहीं हो सकता । मम्मट के काव्यलक्षणों के खण्डनकर्ता जयदेव भी अलंकार के महत्त्व को स्पष्ट करते हुए कहते हैं--'जो विद्वान अलंकार से हीन शब्द और अर्थ को काव्य मानता है वह अग्नि को भी अनुष्ण(शीतल) क्यों नहीं मानता? अलंकार हीन काव्य और अनुष्ण अग्नि एक ही कोटि की चीजें हैं, जिसे केवल पागल ही सच्चा मान सकता है[1]।'

अलंकारों का विकास धीरे-धीरे भरत के समय से ही होता आ रहा था । भरत ने अपने नाट्यशास्त्र में केवल चार अलंकारों(अनुप्रास,रूपक, उपमा और दीपक) का ही वर्णन किया है, परन्तु यही चार अलंकार विकसित होते हुए कुवलयानन्द में १२५ अलंकारों तक पहुँच गये । अलंकारों के विकास के साथ ही स्वरूप में भी निरन्तर परिवर्तन होता गया । भामह ने वक्रोक्ति को समस्त अलंकारों की जीवनी शक्ति माना है, इससे रहित किसी अलंकार की वे कल्पना ही नहीं करते[2]। भामह की यह वक्रोक्ति वामन में नए रूप में दिखाई पड़ती है ।

अलंकारिकों ने अलंकारों का विभाजन करते समय कुछ सिद्धांतों की भी स्थापना की है । यह सत्य है कि ये आचार्य अलंकारों के प्रबल समर्थक थे, परन्तु ऐसा भी नहीं था कि अन्य विषयों से एकदम उपराम हो गए हों । रस का तत्त्व इनसे अज्ञात नहीं था, परन्तु रस की सत्ता ये स्वतंत्र न मानकर अलंकार के अधीन ही मानते थे । इस प्रकार सम्पूर्ण विश्लेषण से ज्ञात होता है कि अलंकारिकों ने अलंकारों का विवेचन करने में अपनी मौलिकता का परिचय दिया है ।

---

१ चन्द्रालोक १।८

२ काव्यालंकार ~~२/८२ वामन ११२।४~~ भामह

३- रीति सम्प्रदाय

ऐतिहासिक क्रम से देखें तो अलंकारशास्त्री दण्डी के पश्चात् वामन का नाम आता है । वामन ने काव्य में एक नए सम्प्रदाय, रीति संप्रदाय, का प्रतिपादन किया । वामन में एक ओर भामह की शास्त्रीय चेतना तथा दूसरी ओर दण्डी की काव्य चेतना दोनों का सुखद समन्वय दृष्टिगत होता है । वामन ने काव्यशास्त्र को जो आश्चर्यजनक उच्चभूमि प्रदान की वह वास्तव में प्रशंसनीय है ।

वामन ने रीति सम्प्रदाय की स्थापना की थी, इसलिए रीति मत के प्रधान प्रतिपादक आचार्य वामन ही माने जाते हैं । वामन से पहले दण्डी ने भी रीतियों के वर्णनमें बहुत रुचि दिखायी थी, किन्तु वामन के ग्रन्थ में रीति का जो महत्त्व दिखलायी पड़ता है, वह किसी भी अन्य आचार्य के ग्रन्थ में नहीं दीख पड़ता । उन्होंने रीति को अत्यधिक महनीयता प्रदान करते हुए उसे काव्य की आत्मा ही मान लिया है-- रीतिरात्मा काव्यस्य ।[1] इस रीति शब्द का विश्लेषण करते हुए वामन कहते हैं कि पदों की विशिष्ट रचना ही रीति है । पदों में विशिष्टता गुणों के कारण आती है, अतः रीति गुणों पर अवलम्बित है-- विशिष्टा पद रचना रीति, विशेषो गुणात्मा ।रीति सम्प्रदाय गुण सम्प्रदाय के नाम से भी पुकारा जाता है ।

गुणों की चर्चा सर्वप्रथम आचार्य भरतमुनि[2] ने अपने नाट्यशास्त्र में की है । उन्होंने काव्यार्थ दस गुणों का वर्णन किया है । दण्डी ने भरत

---

१ काव्यालंकार -- वामन १।२।६

२ श्लेषः प्रसादः समता समाधिः,माधुर्यमोजः पदसौकुमार्यम् ।
अर्थस्य च व्यक्तिरुदारता च, कान्तिश्च काव्यार्थगुणा दशैते ।। १६/९६

द्वारा प्रतिपादित दसों गुणों को सत्ता को स्वीकार किया है,परन्तु उनका व्याख्या में अन्तर है । वामन ने भी भरत के दश गुणों (श्लेष,प्रसाद, समता, समाधि, माधुर्य, ओज, सौकुमार्य, अर्थ व्यक्ति, उदारता और कांति) को ही स्वीकार किया है, किन्तु उनकी व्याख्या एकदम मौलिक तथा नवीन है । वामन की कल्पना में पर्याप्त पार्थक्य है ।

अलंकार सम्प्रदाय की अपेक्षा रीति सम्प्रदाय में काव्य-सिद्धान्तों का विशेष विकास लक्षित होता है,क्योंकि भामह ने जहाँ रस को अलंकार मानकर उसे काव्य का बहिरंग साधन स्वीकार किया है,वहाँ वामन ने कांति गुण के भीतर रस का समावेश कर, रस को महत्ता पर विशेष ध्यान दिया है । वामन ने पहली बार काव्य की आत्मा का अनुसन्धान किया, गुण तथा अलंकार की पृथकता को स्पष्ट किया, काव्य में सौन्दर्य तत्त्व पर विचार किया, उन दोषों को स्पष्ट किया जो सामान्य कवि प्राय: किया करते हैं तथा महान कवियों की ख्याति की सुरक्षा की । शब्द प्रयोग की दिशा में इनका विवेचन बहुत ही सारगर्भित है । अलंकार संप्रदाय के आचार्यों की अपेक्षा रीति सम्प्रदाय के आचार्यों की दृष्टि कहीं अधिक गहरी तथा पैनी थी ।

४- वक्रोक्ति सिद्धान्त

विभिन्न अर्थों से समन्वित वक्रोक्ति शब्द का प्रयोग, संस्कृत साहित्य में, बहुत प्राचीनकाल से होता चला आ रहा है,किन्तु वक्रोक्ति को काव्यजीवित सिद्ध करने का सम्पूर्ण श्रेय आचार्य कुन्तक को है । उन्होंने वक्रोक्ति के आधार पर समस्त काव्य को व्यवस्थित करने का प्रयत्न किया । कुन्तक ने अपने ग्रन्थ का नाम भी वक्रोक्ति जीवित रखा । कुन्तक को नवीनता का अत्यधिक शौक था, इसलिए उन्होंने सभी काव्यतत्वों को नई दिशा देने की चेष्टा की । वक्रोक्ति का अर्थ है वक्र उक्ति अर्थात् टेढ़ा कथन । एक कथन होता है,ब जिसमें मनुष्य सीधे सादे शब्दों का प्रयोग कर अपने विचारों को व्यक्त करता है, परन्तु दूसरी ओर एक कथन ऐसा होता है,

जिसमें कुछ विशेष चमत्कार लाने के लिए वक्र उक्ति का प्रयोग किया जाता है । साधारण बोलचाल में शब्दों का जिन अर्थों में प्रयोग होता है, उनसे कमनीय काव्य का रचना नहीं की जा सकती । कमनीय काव्य रचने के लिए तो विचित्र उक्ति की आवश्यकता पड़ती है, अतः साधारण लोगों के कथन प्रकार से भिन्न अधिक चमत्कारिक कथन प्रकार वक्रोक्ति के नाम से जाना जाता है ।

सर्वप्रथम वक्रोक्ति शब्द का प्रयोग अलंकार सम्प्रदाय के प्रवर्तक भामह द्वारा हुआ[1] । भामह ने वक्रोक्ति को अतिशयोक्ति का ही दूसरा रूप अथवा नाम माना ।

भामह की वक्रोक्ति कल्पना को स्वीकार करते हुए दण्डी ने भी वाङ्मय को दो भागों में विभक्त किया-- स्वाभावोक्ति, वक्रोक्ति । वामन ने भी वक्रोक्ति का वर्णन किया है, किन्तु इनकी वक्रोक्ति की कल्पना भामह से नितान्त भिन्न है । कुन्तक की वक्रोक्ति सबसे विलक्षण है, उन्होंने वक्रोक्ति को केवल अलंकार मात्र नहीं माना है • अपितु काव्य का जीवन ही मान लिया है । उनकी वक्रोक्ति की कल्पना अत्यधिक उदात्त, व्यापक तथा बहुमुखी है । कुन्तक की विश्लेषण तथा विवेचन शक्ति बड़ी मार्मिक है । उनका वक्रोक्तिजीवित ग्रन्थ अलंकार शास्त्र के मौलिक विचारों का भण्डार है । वैसे तो वक्रोक्ति की काव्य में सर्वप्रथम चर्चा करने का श्रेय आचार्य भामह को है, किन्तु उसे विकसित, परिमार्जित, प्रौढ़ तथा उदात्त रूप में पल्लवित करने का सम्पूर्ण श्रेय आचार्य कुन्तक को जाता है । वक्रोक्ति को सम्प्रदाय की संज्ञा इसलिए नहीं मिली, क्योंकि कुन्तक के पश्चात् किसी भी आचार्य ने इसे मत के रूप में ग्रहण न करके केवल शब्दालंकार मात्र ही माना ।

---

१ सैषा सर्वत्र वक्रोक्तिरनयार्थो विभाव्यते ।
यत्नो स्यां कविना कार्यः को लंकारोऽनया विना ।।
भामह-- काव्यालंकार । २/८५

५- ध्वनि सम्प्रदाय

संस्कृत साहित्य शास्त्र में प्रचलित सम्प्रदायों में ध्वनि संप्रदाय सर्वाधिक महत्त्वशाली है । इस सम्प्रदाय के प्रचलन से पहले काव्यशास्त्र में रीति अथवा गुण व वृत्ति का महत्त्व प्रतिष्ठित हो चुका था, किन्तु युग प्रवर्तक ग्रन्थ ध्वन्यालोक के रचयिता आनन्दवर्धन ने काव्यशास्त्र में ध्वनि सम्प्रदाय की स्थापना कर एक नई दिशा को उन्मीलित किया । यह नई दिशा अर्थात् ध्वनि सम्प्रदाय काव्यशास्त्र की सर्वोत्तम उपलब्धि है ।

ध्वनि मत रस मत का ही व्यापक रूप है । रस कभी वाच्य नहीं होता, अपितु व्यंग्य ही हुआ करता है, आनन्दवर्धन ने भी व्यंग्य को ही काव्य में मुख्य माना है । उन्होंने काव्य में प्रचलित सभी तत्वों का सामंजस्य अपने ध्वनि मत के अन्तर्गत करने का गौरवपूर्ण कार्य किया है ।

ध्वनि क्या है ? इस विषय में विद्वानों का मत है कि जहाँ वाच्य अर्थ के भीतर से एक दूसरा ही रमणीय अर्थ निकले और जो वाच्यार्थ से कहीं अधिक चमत्कारपूर्ण हो वही ध्वनि काव्य कहलाता है[१] ।

अलंकार के इतिहास में ध्वनि की कल्पना अत्यधिक सूक्ष्म बुद्धि की परिचायिका है । आनन्दवर्धन ने अपनी कुशाग्रबुद्धि द्वारा इस काव्यतत्त्व को अन्य काव्यांगों से पृथक कर स्वतंत्र स्थान प्रदान किया । ध्वनि शब्द की उत्पत्ति वैयाकरणों द्वारा हुई है, क्योंकि सर्वप्रथम उन्होंने ही माना है कि किन्हीं दो वर्णों के अलग-अलग उच्चारण से किसी अर्थ की प्रतीति नहीं होती, परन्तु उन दोनों वर्णों के संयोग से अर्थ जिस शब्द से अभिव्यक्त होता है वह स्फोट कहलाता है और इस स्फोट को अभिव्यक्त करने का कार्य वही शब्द करता है, जिसका उच्चारण हम करते हैं-- इसे ही ध्वनि भी कहते हैं । वैयाकरणों तथा अलंकारिकों में अन्तर केवल इतना ही है कि वैयाकरण व्याकरण में ध्वनि की

---

१ काव्यप्रकाश १।५

सत्ता केवल शब्द तक ही सीमित मानते हैं, परन्तु ध्वनिवादी आचार्य ध्वनि का शब्द और अर्थ दोनों क्षेत्रों में ही प्रयोग करते हैं । यही ध्वनि संप्रदाय का मूल भी है । आचार्य अभिनवगुप्त ध्वनि मत के प्रबल समर्थक हुए हैं । निष्कर्षत: ध्वनिवादी आचार्यों ने ध्वनि को काव्य में मुख्य तत्त्व मानकर काव्य तत्त्वों का सामंजस्य दिखलाया है ।

६- औचित्य सिद्धान्त

औचित्य सिद्धान्त साहित्य शास्त्र का व्यापकतम सिद्धांत है, इसकी भावना रस-ध्वनि आदि समस्त काव्यतत्त्वों की मूल भावना है । साहित्य शास्त्र में इस सिद्धान्त के अवतरित होने से पहले काव्यात्म सम्बन्धी पाँच सिद्धान्तों-- रस, अलंकार, रीति, वक्रोक्ति और ध्वनि का जन्म हो चुका था । वैसे तो इन सिद्धान्तों की स्थापना करने वाले आचार्यों ने औचित्य तत्त्व की रक्षा करने की ओर अपने ग्रन्थों में संकेत किया है, परन्तु क्षेमेन्द्र ने औचित्य विचार चर्चा नामक औचित्य सम्बन्धी ग्रन्थ की रचना कर इस काव्य तत्त्व का व्यापक रूप स्पष्ट दिखला दिया है ।

क्षेमेन्द्र, ध्वनिवादी आचार्य अभिनवगुप्त के शिष्य थे । ऐसा ज्ञात होता है कि वे (क्षेमेन्द्र) किसी ऐसी समस्या और उसके समाधान में व्याकुल थे, जिसका उत्तर देने में उन्हें किसी का विरोध करना आवश्यक नहीं था, क्योंकि विरोध तो तब होता है, जब कि एक ही प्रश्न के दो या इससे अधिक उत्तर हों, परन्तु यहाँ तो ऐसा कुछ नहीं था । क्षेमेन्द्र मानते हैं कि निर्जीव तत्त्वों से संघटित जड़ात्मक काव्य में औचित्य के समावेश के कारण जान आ जाती है । अत: यदि और तत्त्व काव्य की जान(प्राण) हैं तो औचित्य जान की भी जान है । औचित्य को यह महनीय स्थान देने का श्रेय आचार्य क्षेमेन्द्र को है ।

औचित्य क्या है ? औचित्य किसे कहते हैं ? इस प्रश्न के उत्तर में आचार्यों ने कहा है कि उचित का जो भाव है वही औचित्य है । जो जहाँ जब जाए वही वहाँ उचित है अथवा जिससे मेल मिले उसे उचित कहते हैं--

उचित का ही भाव औचित्य है[1]। काव्यीय लक्ष्य की दृष्टि से संघटक तत्वों का समुचित व्यवस्थित एवं संतुलित विचार करना ही औचित्य सम्बन्धी विचार है।

क्षेमेन्द्र से बहुत पहले औचित्य का तत्व आनन्दवर्धन ने उद्घाटित किया था, परन्तु आनन्दवर्धन से भी पहले भरत अपने नाट्यशास्त्र में पात्रों की वेश-भूषा के प्रसंग में इस उचित के भाव की स्थापना कर चुके थे क्योंकि उचित के अभाव में न तो रस ही आनन्द प्रदान कर सकता है और न ही अलंकारों की कोई शोभा रह जाती है और न ही गुण रुचिकर प्रतीत होते हैं। इतना अधिक महत्त्व होने पर भी इस तत्व को काव्य का जीवन मानने वाले एकमात्र आचार्य क्षेमेन्द्र हैं। क्षेमेन्द्र के परवर्ती आचार्यों ने औचित्य को विस्तृत पैमाने पर स्वीकार नहीं किया, इसलिए यह मत सिद्धान्त ही रह गया सम्प्रदाय का रूप न ले सका।

प्राचीन भारतीय साहित्य चिन्तन में निहित मूल्य दृष्टियाँ

भारतीय साहित्य में भरत के रस सम्प्रदाय से लेकर क्षेमेन्द्र के औचित्य सिद्धान्त तक विभिन्न आचार्यों ने भिन्न-भिन्न तत्वों को काव्य की आत्मा मानते हुए प्रयोजन के माध्यम से मूल्यों को उठाया।

साहित्य के क्षेत्र में मूल्य का आगमन साहित्य में उपयोगितावादी दृष्टिकोण के आगमन से ही हुआ है, परन्तु इसकी अर्थ व्यापकता ने आज आलोचना प्रक्रिया को मूल्यांकन की प्रक्रिया बना दिया है। अर्थशास्त्रीय शब्दावली में प्रयुक्त यह मूल्य शब्द आज व्यापक अर्थ में आलोचना, दर्शन, नीतिशास्त्र आदि क्षेत्रों में प्रयुक्त हो रहा है। इस स्थिति में काव्यमूल्य के विषय में भी प्रश्न उठना आवश्यक है। भारतीय काव्यशास्त्र में इस मूल्य शब्द के स्थान

---

१ उचितस्य च यो भावः, तदौचित्यं प्रचक्षते।

-- औचित्यविचारचर्चा कारिका७

पर प्रयोजन शब्द का व्यवहार हुआ है[1] अत: मूल्य और प्रयोजन प्राय: एक ही अर्थ की सूचना देते हैं। संस्कृत काव्यशास्त्रियों ने प्रत्येक शास्त्र के प्रयोजन, अधिकारी, सम्बन्ध तथा विषय ये चार अनिवार्य अनुबन्ध स्वीकार किये हैं। इनमें प्रयोजन को सर्वप्रथम स्थान दिया है। कुन्तक का विचार है कि समस्त अनुबन्धों से युक्त काव्य ही धर्मादिसिद्धि का मार्ग है[2]। भारतीय काव्यशास्त्र में प्रयोजन की अनिवार्यता पर बल देते हुए[3] यह माना गया है कि इसके अभाव में अभीष्ट का ज्ञान दुर्लभ हो जाता है। इससे यह प्रमाणित होता है कि आज की आलोचनात्मक शब्दावली में जिस अर्थ का बोध मूल्य शब्द से होता है, भारतीय काव्यशास्त्रीय परम्परा में उसे प्रयोजन शब्द से ही अभिहित किया जाता है।

यह प्रयोजन शब्द अतिव्याप्ति दोष से दूषित है, क्योंकि इसके अन्तर्गत कर्म, फल, आदर्श, मूल्य, उद्देश्य तथा हेतु आदि सभी आ जाते हैं, अत: कुछ विद्वान् इस काव्य प्रयोजन को काव्यादर्श कहना ही उचित समझते हैं। किन्तु इस काव्यादर्श में भी भ्रांति की सम्भावना खड़ी हो सकती है।

मूल्यों के दृष्टिकोण से समस्त भारतीय काव्यशास्त्र को दो भागों में विभक्त किया जा सकता है-- प्रथम का सम्बन्ध सौन्दर्यमूल्य या आनन्दात्मकता से है, जो प्रत्यक्षत: कलात्मक मूल्यों से सम्बन्धित होने के कारण काव्य के सुन्दर पक्ष का उद्घाटन करता है। सौंदर्य के अतिरिक्त भी भारतीय काव्यशास्त्रीय परम्परा का एक और मूल्य है, जिसका सम्बन्ध साहित्य के शिवं पक्ष से है। यदि आलोचना की शब्दावली में कहें तो इसका सम्बन्ध उपयोगितावाद से माना जाता है। इस प्रकार सम्पूर्ण भारतीय साहित्य शास्त्र में मुख्यत: दो मूल्य दृष्टियाँ निहित थीं --(१) उपयोगितावादी मूल्य, (२) कलावादी मूल्य।

---

१ गुलाबराय : अध्ययन और आस्वाद, पृ०सं०१

२ वक्रोक्ति जीवितम् १: ३

३ ' यावत् प्रयोजनं नोक्तं तावत् तत्केन गृह्यते।'

वस्तुत: साहित्य के मूल्यांकन में नैतिक, राजनैतिक, धार्मिक और साहित्येतर मूल्यों का दखल इसलिए होता रहता है,क्योंकि सम्पूर्ण जीवन के संदर्भों से साहित्य को काटकर देखना असंभव है । जीवन और साहित्य का यह सम्बन्ध इतना प्रगाढ़ है कि न तो हम जीवन से विच्छिन्न साहित्य की सृष्टि की कल्पना कर सकते हैं और न जीवन से बाहर उसकी सार्थकता का निर्णय ही ।

१- उपयोगितावादी मूल्य

कलापक्ष से पृथक उपयोगितावाद को दो वर्गों में विभक्त किया जा सकता है-- वैयक्तिक मूल्य, सामाजिक मूल्य ।

वैयक्तिक मूल्यों के अन्तर्गत यश की प्राप्ति, द्रव्यार्जन तथा मनोकामना की पूर्ति आदि आते हैं । इन वैयक्तिक मूल्यों के पीछे दो तथ्य निहित हैं-- शारीरिक पोषण तथा मानसिक संतोष । शारीरिक पोषण का सम्बन्ध तो भौतिक मूल्यों की प्राप्ति से है । भारतीय काव्यशास्त्रीय परम्परा के मूल में प्राप्त काव्यों की सामाजिक पृष्ठभूमि एक विशिष्ट सामंतीय एवं धार्मिक वर्ग से सम्बद्ध थी । दूसरे शब्दों में काव्य का सामाजिक दृष्टिकोण धर्मप्रवण था । यही कारण है कि जहाँ वैयक्तिक उद्देश्यों की पूर्ति का प्रश्न उठता है, उसके लिए भी वे अनैतिक कार्य करने के लिए तैयार नहीं हैं ।वैयक्तिक मूल्यों में ऐंद्रिक तोष एवं मानसिक तुष्टि काव्य की मूल प्रकृति से किस प्रकार सम्बन्ध रखते हैं, यह प्रश्न काव्य रचना प्रक्रिया की दृष्टि से अधिक उपयोगी है। मानसिक संतोष जो ऐन्द्रिय संतोष की अपेक्षा परोक्ष मूल्य है, इन कवियों के लिए प्रेरणास्रोत है । वह इनकी रचना-प्रक्रिया को शक्तिमान बनाने में सहायक है । यशेच्छा का सम्बन्ध किसी उपयोगिता के मूल्य से न होकर रचनाकार की मानसिक अतृप्ति एवं तृप्ति से ही है, जो उसे अप्रतिष्ठा अथवा प्रतिष्ठा के रूप में प्राप्त होती है । अत: यश उपयोगिता के अन्तर्गत होते हुए भी प्रत्यक्ष मूल्य नहीं है ।

सामाजिक मूल्यों का जहाँ तक प्रश्न है, उनमें लोकव्यवहार की शिक्षा, धर्म, अर्थ,काम,मोक्ष की प्राप्ति तथा शिवेतर तत्वों से संरक्षा

आदि आते हैं । वैयक्तिक मूल्यों के साथ-साथ भारतीय काव्यशास्त्रियों ने अपने काव्यों में सामाजिक मूल्यों की भी प्रतिष्ठा की है । तत्कालीन सामाजिक रचना एवं विभिन्न वर्ग सम्बन्धी मान्यताएँ, सामाजिक विधि,-निषेध इनके काव्य की प्रमुख समस्याओं में हैं । काव्यशास्त्र की एक विशिष्ट परम्परा, जो आचार्य भरत से लेकर पंडितराज जगन्नाथ तक प्राप्त होती है, में धार्मिक मान्यता अत्यंत अनिवार्य समझी गई । ये धार्मिक मूल्य समाज-संरक्षण के लिए अनिवार्य हैं । सामाजिक उद्देश्य के अन्तर्गत समाज नियमन के लिए आवश्यक धर्मादि मूल्यों की उपलब्धि, लोकमंगल की भावना, परम्परागत धार्मिक मूल्यों का प्रसार इनके काव्य के लिए अनिवार्य था ।

अत: सामाजिक मूल्यों का जहाँ तक प्रश्न है, इनमें संरक्षण एवं नियमन की मूल प्रवृत्ति दृष्टिगत होती है । संरक्षण एवं नियमन काव्य के प्रत्यक्ष आधार नहीं हैं । वे प्रत्यक्षत: कलात्मक मूल्यों से मेल नहीं खाते । कलात्मक मूल्य अपनी प्रकृति में संरक्षण एवं नियमन वृत्ति को पचाकर उसे काव्य प्रकृति के अनुरूप बनाता है । संस्कृत काव्यशास्त्र में कलात्मक मूल्यों की सघनता को उपयोगितावादी मूल्यों को गौण बना दिया है ।

भारतीय साहित्यशास्त्र का प्रारम्भ सामान्यत: भरतमुनि के नाट्यशास्त्र(लगभग प्रथम शती ई०) से माना जाता है । उस समय तक काव्य रूप का प्रचलन नहीं हुआ था, अत: भरत ने जो उद्देश्य अथवा प्रयोजन नाटकों के विषय में बताये हैं, वे काव्य पर भी असंदिग्धरूप से लागू होते हैं।[1] भरत ने नाट्यशास्त्र के माध्यम से जीवनोपयोगी मूल्यों का उल्लेख किया है, जिनमें धर्म, अर्थ,काम, विग्रह, शालीनता, धृष्टता, उत्साह, विलास, धैर्य एवं धृति आते हैं । इन मूल्यों में विग्रह एवं धृष्टता रचनात्मक न होकर विनाशक

----

१ स्व धर्म्यं यशस्यमायुष्यं हितं बुद्धि विवर्धनम् ।

लोकोपदेशजननं नाट्यमेतद्भविष्यति ।।--नाट्यशास्त्र

मुल्य हैं, किन्तु फिर भी ये मुल्य सामाजिक मुल्यों में अन्तर्मुक्त किये जा सकते हैं। काम,विलास तथा अर्थ जीवन के भौतिक मुल्य हैं। इनका उद्देश्य शारीरिक संरक्षण एवं ऐन्द्रिक तृप्ति तथा सुख तक ही सीमित है। शालीनता,उत्साह, धैर्य तथा धृति आदि नैतिक मुल्य हैं। धर्म शुद्धता नैतिक मुल्य है। इस प्रकार भरत ने दो मुल्यों का निर्धारण किया-- भौतिक एवं नैतिक मुल्य।

वस्तुत: आचार्य भरत का यह उपयोगितावाद सम्बन्धी मुल्य शिवतत्त्व से सम्बन्धित होने के कारण मंगलवाद के नाम से पुकारा जा सकता है। भरत के अनुसार नाटक भौतिक, मनोवैज्ञानिक एवं नैतिक मुल्यों का समर्थन करता है। इन मुल्यों की अन्तरात्मा में भारतीय आदर्श परम्परा का मंगलवाद निहित है,क्योंकि वे यह मानते थे कि उनका नाट्यशास्त्र दुखों से पीड़ित लोगों को संसार में सुख प्रदान करने का साधन होगा। दूसरे शब्दों में यह भी कह सकते हैं कि उन्होंने नाट्य रचना का प्रयोजन पर दुख हरण[1] बताया था। वे जनहित को ही काव्य अथवा नाटक का प्रयोजन मानते थे।

भरत के उपरान्त दण्डी इन मूल्यों की विस्तार से चर्चा करते हैं। भारतीय आचार्यों ने जनसाधारण की ज्ञानवृद्धि को ध्यान में रखकर काव्य रचना के विविध प्रकारों का विधान किया है। दण्डी ने महाकाव्यों के लक्षणों का निरूपण करते हुए उसमें चतुर्वर्ग फलप्राप्ति (धर्म,अर्थ,काम,मोक्ष) का उल्लेख किया है। भारतीय काव्यशास्त्र में काव्य प्रयोजन को इस अनुबन्ध चतुष्टय का प्रमुख अंग मानकर अत्यंत गंभीर विवेचन किया गया है, किन्तु यह प्रश्न कभी विवाद का विषय नहीं रहा। प्राय: सभी आचार्य काव्य प्रयोजन के विषय में एकमत रहे हैं। अवधान का थोड़ा-बहुत अंतर अवश्य रहा है, पर इसको लेकर कभी दो विरोधी दल खड़े नहीं हुए हैं: भरत ने जहाँ काव्य को जनहित करने वाला कहा है,वहाँ भामह, दण्डी,रुद्रट, विश्वनाथ,कुन्तक आदि

---

१ लोकोपदेशजननं नाट्यमेतद् भविष्यति।

ने पुरुषार्थ चतुष्टय अर्थात् धर्म,अर्थ,काम,मोक्ष का साधक माना है[1]। दण्डी के अनुसार उपयोगितावाद भाषा का सामाजिक गुण है । उसके द्वारा समाज-कल्याण की भावना अनिवार्य है । दण्डी के समान अभिनवगुप्त ने भी सुन्दर विषयों के रसास्वादन में प्रवृत्त और इसी कारण से वेद, शास्त्र पुराण आदि कठ साधनों से डरने वाले सामाजिक के लिए, उसके मन को मुग्ध करने वाली वस्तु के बीच में काव्य जैसी वस्तु को समाविष्ट कर दी जाने की बात कही है । इस प्रयोग से धर्म,अर्थ,काम,मोक्ष प्राप्ति के उपायों का ज्ञान सहज रूप में सम्भव है । इस प्रकार अभिनव गुप्त के अनुसार सौन्दर्य-बोध तत्व से कहीं अधिक महत्वपूर्ण तत्व उपयोगितावाद का है ।

अलंकार,वक्रोक्ति,रीति जैसे शिल्प सम्बन्धी सिद्धान्तों के प्रतिष्ठापक आचार्य भी काव्य प्रयोजन के रूप में पुरुषार्थ चतुष्टय का उल्लेख करना न भूलते थे । इस प्रकार इसमें किंचित्मात्र भी संदेह नहीं रह जाता कि भारतीय साहित्य शास्त्र में माने गए दो प्रमुख प्रयोजनों--(१) पुरुषार्थ चतुष्टय, (२) आनन्द में रसास्वाद-जन्य अन्तरचमत्कार को अधिक महत्व दिया गया है--उसे ही सकल प्रयोजन मौलिभूत कहा गया है, परन्तु उसमें नैतिक मूल्यों का तिरस्कार अथवा उपेक्षा नहीं है । रस को काव्य का प्राण मानते हुए भी भारतीय काव्यशास्त्र के अग्रणी आचार्यों ने उसके लिए औचित्य का आधार अनिवार्यतः माना है ।

----

१ भामह -- धर्मार्थकाममोक्षेषु, वैचक्षण्यं कलासु च ।
करोति कीर्तिं प्रीतिं च साधुकाव्यनिषेवणम् ।। काव्यालंकार 1/2

रुद्रट -- ननु काव्येन क्रियते सरसानामवगमश्चतुर्वर्गे ।
लघु मृदु च नीरसेभ्यस्ते हि त्रस्यन्ति शास्त्रेभ्यः ।। काव्यालंकार 12/1,2

विश्वनाथ--चतुर्वर्गफलप्राप्तिः सुखादल्पधियामपि । साहित्यदर्पण 1/2

यों तो औचित्य के अनेक रूप हैं,परन्तु उन सब में प्रमुख है नैतिक औचित्य, जिसके अभाव में रस,रसाभास बन जाता है । वास्तव में भारतीय रस कल्पना के पीछे नैतिक आधार इतने सहज रूप से वर्तमान रहता है कि यहाँ दोनों में किसी प्रकार के विरोध क की संभावना ही नहीं हुई । सत्व का उद्रेक रस की आवश्यक भूमिका मानी गई है । अत: विभाव,अनुभाव, संचारी सभी के निरूपण में सत्-असद् का विवेक रहा है, परन्तु यह नैतिक विवेक परिपाक की प्रक्रिया तक ही रहता है ।। रसोद्रेक की अवस्था तो अखंड आनन्द की अवस्था है, जहाँ सदसद्, नैतिक-अनैतिक का कोई ज्ञान नहीं रहता। इस प्रकार भारतीय काव्यशास्त्र में नैतिक मूल्यों तथा आनन्दवादी मूल्यों में सहज सामंजस्य रहा है-- नैतिक मूल्यों के आधार पर ही काव्य के द्वारा आनंद की सिद्धि होती है । प्राधान्य निश्चय ही आनन्द का रहा है और आनन्द परिपाक की पूर्णता में नैतिक भेद अभेद से युक्त शुद्ध माना गया है, परन्तु उसका आधार निश्चित रूप से सदाचार ही रहा है ।

यों तो कलामात्र का उद्देश्य आनन्दका उद्रेक माना है, पर प्रत्येक कला से मन में कुछ न कुछ भाव, विचार उत्पन्न होते हैं,इसीलिए कला का महत्व इसी में है कि उससे हमारे भावों, विचारों में कुछ उन्नति हो, उसका कुछ परिमार्जन हो । मानवजाति की वास्तविक उन्नति उसकी नैतिक उन्नति में ही मानी जाती है,इसीलिए मानवजाति सारा उद्योग नैतिक उन्नति के लिए ही करती है । यही कारण है कि जो कला स्थायी कुछ महत्व प्राप्त करना चाहते हैं, वे न तो नीति के विरुद्ध चल सकते हैं और न ही उसकी उपेक्षा कर सकते हैं । वस्तुत: साहित्य के नैतिक और रूपवादी मूल्यों का प्रकृत सम्बन्ध परस्पर विरोध का नहीं है । एक ओर प्रत्यक्ष या अन्तर्हित रूप में बिना नैतिक मूल्यों की सहायता लिए किसी भी रूपवादी काव्यमूल्य का अस्तित्व असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य है और दूसरी ओर बिना रूपगत विशेषताओं पर ध्यान दिए काव्य के संदर्भ में नैतिक सिद्धान्तों की चर्चा बेमानी है । रूपवादी सिद्धान्तों का एकांत प्रयोग साहित्य को जीवन के लिए महत्वहीन बना देता है और एकांत नैतिकता मूल्यों की साहित्यिकता नष्ट कर

उन्हें सामाजिक स्वास्थ्य के नुस्खे बना देती है, इसलिए यह समझना भ्रामक है कि रूपवादी और नैतिक मूल्यों का सम्बन्ध विरोध मात्र है। रूपवादी मूल्य लय और रूपाकार सम्बन्धी आह्लाद से उत्पन्न होते हैं और नैतिक मूल्य अभिव्यक्ति की लालसा से किन्तु किसी सिद्ध कलाकृति में वे परस्पर सम्बद्ध ही नहीं एकात्म हो जाते हैं। किसी कृति को जब रूपवादी मूल्यों से जाँचा जाता है तो इन मूल्यों की वाचिक शब्दावली प्राय: अमूर्त और अस्पष्ट होती है। अनुभूति की प्रामाणिकता, सच्चाई, समरसता, आनंद आदि इसी प्रकार के शब्द हैं तथा नैतिक निर्णय सामाजिक निर्णय बनकर प्रकट होते हैं।

इस बात में कोई संदेह नहीं है कि सिद्धान्त रूप में सभी कृतियों पर रूपवादी और नैतिक दोनों प्रकार के मूल्य लागू होते हैं, किन्तु मूल्यांकन की प्रक्रिया का आरंभ किस काव्य सिद्धान्त से किया जाये, यह बहुत कुछ आलोच्य कृति की अपनी प्रकृति पर निर्भर है। कुछ कृतियाँ अपने रूप से आरम्भ करने के लिए आमंत्रण देती है और कुछ नैतिक बोध से। तात्पर्य यह कि रूपवादी और नैतिक सिद्धान्तों की द्वन्द्वात्मक एकता में ही साहित्य का समग्र मूल्यांकन संभव है। वैसे भी भारतीय काव्यशास्त्र सदा से वस्तुपरक चिन्तन, रूपवादी विश्लेषण पर बल देता आया है। उसमें न कभी भाववाद को महत्त्व मिला है और न किसी प्रकार के विधेयवाद को ही। भारतीय काव्यशास्त्र में सौन्दर्य को सूक्ष्म से सूक्ष्म तत्त्व माना गया, उसे अदित और शाश्वत स्वीकार किया गया तथा ब्रह्मानन्द सहोदर आनन्द तत्त्व भी माना गया, परन्तु विचार करते समय उसे केवल भावमूलक नहीं माना गया। रचना को सदैव अपने-आप में पूर्ण तथा स्वतंत्र मानकर ही विचार किया गया। उसे न तो रचनाकार के व्यक्तित्व से सम्बद्ध करके ही देखा गया, न ही कुलीन तथा अन्य किसी प्रकार की प्रतिक्रिया के रूप में विचार किया गया।

भारतीय साहित्यशास्त्र अपनी कुछ अलग विशेषताएँ भी रखता है। उसकी एक मुख्य विशेषता है अध्यात्म और धर्मप्रियता की। हमारे यहाँ साहित्य को धर्म और अध्यात्म से अलग करके कभी भी देखने की चेष्टा नहीं की

गई है । भारतीय दृष्टि में कवि मनीषी भी हुआ करता था । कोई भी मनीषी आध्यात्मिक तथा धार्मिक भावनाओं से शुन्य नहीं हो सकता । हमारे प्राचीन आदि काव्य एक ओर तो साहित्य की परम निधि थे दूसरी ओर धर्म की आधार भूमि भी । स्पष्ट है कि हमारे साहित्य का मर्म अध्यात्म और धर्म से अनुप्राणित रहा है । यही कारण है कि भारतीय काव्यशास्त्र में स्थान-स्थान पर धार्मिक मूल्यों का वर्णन हुआ है ।

१- कलावादी मूल्य

भारतीय काव्यशास्त्र की परम्परा में कलात्मक मूल्य प्रमुख है । अपने मूल रूप में संस्कृत के अधिकतर आचार्य कलावादी मूल्यों के समर्थक थे । संस्कृत के काव्यशास्त्र में एकमात्र साध्य ये कलात्मक मूल्य ही हैं । कीर्ति,धनार्जन,प्रीति व तथा सरसता की उद्भावना, उद्देश्य कलावादी मूल्यों से सम्बन्ध रखते हैं । यहाँ कला को सौन्दर्य, आनन्द एवं अभिव्यक्ति निरूपण का अंग माना गया है । सौन्दर्य एवं अभिव्यक्ति निरूपण मानवीय संवेदनाओं पर आश्रित है जो यहां कला की सजगता पर आश्रित है अर्थात् संस्कृत की काव्यशास्त्रीय परम्परा में प्राप्त काव्यप्रयोजनों में कलात्मक सजगता अधिक है । हित सम्बन्धी भावना सामान्य है । काव्य, हित या उपयोगिता का कितना समर्थक है,इसकी ओर आचार्यों की दृष्टि कम गई है, परन्तु फिर भी भारतीय काव्यशास्त्र की मूल दृष्टि आरम्भ में कलात्मक मनोवृत्ति के साथ-साथ उपयोगितावादी भी रही है । विशेषत: धार्मिक वाङ्मय का जहाँ तक प्रश्न है, वह सम्पूर्णत: उपयोगितावादी ही है । भारतीय काव्य परम्परा का सम्बन्ध पूर्णत: काव्य के कलात्मक मूल्यों से था तथा इन कलात्मक मूल्यों में रंजन वृत्ति की प्रधानता थी । उपयोगिता के मूल्य भी आए हैं, किन्तु कलात्मक मूल्यों के सम्मुख वे गौण हैं ।

जिस प्रकार स्रष्टा की रचना में कोई न कोई उद्देश्य निहित होता है, उसी प्रकार कवि की रचना भी निरुद्देश्य नहीं होती । उसका कोई न कोई प्रयोजन उस रचना में अवश्य सन्निहित रहता है । वह प्रयोजन क्या है ? इसकी विवेचना समय-समय पर विभिन्न विद्वानों द्वारा होती रही है ।

काव्य का प्रमुख पक्ष है आनन्द का अर्थात् आनन्द प्रदान करने

का। आनन्द एवं पुरुषार्थ चतुष्टय(धर्म,अर्थ,काम,मोक्ष) परस्पर विरोधी न होकर एक-दूसरे के पूरक हैं। चतुर्वर्ग की परिणति यदि आनन्द में न हो, तो उसका प्रयोजन ही क्या ? सफल जीवन के बिना आनन्द की भी क्या स्थिति मानी जा सकती है।

वामन द्वारा प्रयुक्त प्रीति शब्द ही तत्कालीन काव्यवृत्ति के उद्घाटन के लिए पर्याप्त है। यह प्रीति आनन्दमूलकता है। आनन्दमूलकता कला के स्वभाव का अंग है। इस स्वभाव का संरक्षण ही काव्यकला के सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण मूल्य का संरक्षण है। इस प्रीति को ही परवर्ती अनेक आचार्यों ने एकमात्र काव्य का स्वभाव बताया। काव्य के वस्तुवादी समर्थक विशेषत: दण्डी,रुद्रट,उद्भट एवं वक्रोक्तिवादी कुन्तक इसी प्रीति को स्वीकृति देते हैं। वामन ने अलंकार काव्य में काव्य प्रयोजनों की चर्चा करते हुए कहा है-- सुन्दर काव्य प्रीति एवं कीर्ति का हेतु होने के कारण दृष्ट और अदृष्ट फल का प्रचारक होता है[1]।

रुद्रट ने काव्य का एक अन्य प्रयोजन असाधारण आनन्द बताया है। वह असाधारण आनन्द आराध्य की इष्ट के प्रति संवेदनशीलता है जो भक्तिजन्य आनन्द के अधिक निकट है। आनन्दवर्धन ने भी काव्य का प्रयोजन प्रीति को माना है,किन्तु यह प्रीति काव्य शरीर के सौन्दर्य दर्शन से उत्पन्न प्रीति नहीं,अपितु काव्यार्थ तत्त्व के साक्षात् करने वाले सहृदयजन के हृदय की स्वाभाविक आनन्दाभिव्यक्ति है[2]। अभिनवगुप्त भी प्रीति को ही काव्य का मुख्य प्रयोजन मानते हैं, किन्तु उन्होंने प्रीति रसानुभूति के अर्थ में ग्रहण की है। वे मानते हैं कि रसानुभूति के लिए ही काव्य की रचना होती है और जो काव्य

---

१ काव्यं सद्दृष्टादृष्टार्थं प्रीतिकीर्तिहेतुत्वात् -- काव्यालंकार सूत्र १।१।५

२ 'सहृदयमन: प्रीति' ।

कैसहृदय सामाजिक हैं, वे भी रसास्वादन के लिए ही काव्यानुशीलन की ओर उन्मुख होते हैं ।

भोज ने प्रीति एवं कीर्ति को काव्य प्रयोजन माना है[1] । काव्य का प्रयोजन कीर्ति या यश,काव्य का आन्तरिक प्रयोजन नहीं स्वीकार किया जा सकता । यश जीवनगत मूल्य न होकर एक वैयक्तिक धारणा है , जिसकाअस्तित्व रचना-प्रक्रिया में न होकर रचना की मानसिक स्थिति में है । वामन, रुद्रट, मम्मट तथा जगन्नाथ आदि विद्वानों ने भी कीर्ति को काव्य का प्रयोजन माना था ।

रुद्रट के समान कुन्तक तथा पण्डितराज जगन्नाथ ने भी काव्य को लोकोत्तर आनन्द प्रदान करने वाला तथा जनसाधारण के हृदय को आह्लादित करने वाला माना है । संस्कृत के काव्यशास्त्री आनन्द को काव्य का एकमात्र आधार तत्व स्वीकार करते हैं । कलात्मक स्तर पर वह बुद्धि का विलास,विनोदशीलता, अन्तश्चमत्कार है, किन्तु उसे उससे और ऊंचा कर देने पर वह ब्रह्मानन्द सहोदर हो जाता है । अत: इन काव्यशास्त्रियों के अनुसार काव्य का अंतिम मूल्य ब्रह्मानंद सहोदरत्व की प्राप्ति है ।

भारत में कला लौकिक आनन्द की वस्तु समझी गई,जबकि साहित्य आत्माभिव्यक्ति होने के कारण अलौकिक आनन्द की वस्तु है । मम्मट ने इसीलिए काव्य की आत्मा रस को ब्रह्मास्वादसहोदर कहा है ।रस के द्वारा ही काव्य में अलौकिक आनन्द की प्राप्ति होती है । रस को ब्रह्मानन्दसहोदर तो कहा ही गया है । साहित्य में भी रस से तात्पर्य है काव्यानन्द । काव्य के साथ काव्यानन्द का घनिष्ठ सम्बन्ध है । इसके अभाव में काव्य का अस्तित्व सम्भव नहीं ।

रस के सम्बन्ध में भरतमुनि का सिद्धान्त सर्वमान्य है ।उन्होंने रस को साहित्य का प्राण माना है[2] । रस से विरहित होकर काव्य का

---

१ सरस्वतीकण्ठाभरण १.२

२ नाट्यशास्त्र
सकल प्रयोजनमौलिभूतं समनन्तरमेव रसास्वादनसमुद्भूतं विगलितवेद्यान्तरमानन्दम् ।

अस्तित्व सम्भव नहीं । भरत के विचार से जितने भी अर्थ होते हैं, वे सभी रसमय होते हैं । रस के बिना किसी अर्थ की प्रतीति नहीं होती । अग्निपुराण के रचयिता व्यास ने भी रस को काव्य का प्राण माना है । रस के महत्व को केवल रसवादियों ने ही स्वीकार नहीं किया है, अपितु अलंकारवादियों, रीतिवादियों वक्रोक्तिवादियों आदि ने भी प्रत्यक्ष या परोक्षरूप से इसके महत्व को स्वीकार किया है । दण्डी, वामन, रुद्रट ने भी काव्य में रस की सत्ता मानी है[1] । आनन्दवर्धनाचार्य ने रस को ध्वनि का प्रधान अंग माना है, इस प्रकार उन्होंने ध्वनि सिद्धान्त को[2] रस सिद्धान्त का विरोधी न मानकर उसका व्यापक रूप प्रस्तुत किया है[3] । मनोवैज्ञानिक व्याख्या का पूर्ण श्रेय अभिनव गुप्त को प्राप्त है । मम्मट, विश्वनाथ, जगन्नाथ आदि ने रस को काव्य का प्राण माना है । विश्वनाथ ने तो रस को ध्वनि से भी अधिक महत्व दिया । उनके विस्तार में रस के अभाव में काव्य काव्य नहीं हो सकता ।

रस सत्वोद्रेक का हेतु होने के कारण अखंड, प्रकाशात्मक आनंद रूप, चिन्मय, वेद्यान्तरस्पर्श शून्य, ब्रह्मानन्द सहोदर तथा लोकोत्तर चमत्कार से पूर्ण है । इस प्रकार आनन्द आत्मा के समान(शुद्ध चेतन न सही किन्तु)सचेतन अथवा प्राणवान आनन्द है । वह निद्रा,मय,मद्यपान आदि से जन्य लौकिक[4] आनन्दों के समान वह आनन्द नहीं है ।

रस लोकोत्तर आह्लादवान है अर्थात् रस का आह्लाद है तो इह लौकिक, पर वह इस लोक के अन्य आह्लादों से सर्वोपरि है । रस की स्थिति एक ओर (काव्यानंद से इतर) लौकिक भावनाओं से उत्पन्न सुख और दुःख तथा

---

१ तस्मात्तद् कर्तव्यं यत्नेन महीयसा रसैर्युक्तम् -- रुद्रट,काव्यालंकार १२।२

२ `रस काव्य और नाट्य दोनों का जीवनभूत है `...रसादयो हि द्वयोरपि तयो (काव्यनाट्कों) जीवितभूता: -ध्वन्यालोक,पृष्ठ०१८९- १८२ ।

३ काव्यप्रकाश

४ साहित्य० ३।२-३ ।

दूसरी ओर आध्यात्मिक क्षेत्र के आनन्द के बीच की है । लौकिक भावनाओं से मानव को सुख भी मिलता है और दु:ख भी, इधर रस का आनन्द यद्यपि होता तो लौकिक ही है, पर वह केवल सुखात्मक होता है,किन्तु यह सुख सामान्य कोटि का न होकर उत्कृष्ट कोटि का होता है, अत: इसे लोकोत्तर आनन्द कहते हैं ।

काव्यमूल्यों की दृष्टि से भी महाकाव्य का सर्वाधिक महत्वपूर्ण तत्त्व रस है । रसवाद की भी अंतिम मान्यता है-- काव्य में रसवत्ता की प्रधानता को स्वीकार कर समस्त मूल्यों में एकमात्र उसी की स्थापना करना । रस मूलत: आस्वादनशीलता एवं द्रवणशीलता का द्योतक है । ध्वनिवादी आचार्य आनन्दवर्धन के व्याख्याता अभिनवगुप्त ने इसी रस रूपी आनन्द को काव्य की मूलात्मा स्वीकार किया है । उनका विचार है कि चतुर्वर्ग फलों की प्राप्ति में आनन्द प्रयोजन ही सर्वोत्कृष्ट है ।

भारतीयों का सम्बन्ध साहित्यिक समन्वय मात्र से है । इसमें जहाँ एक ओर आनन्द की प्रतिष्ठा है वहीं दूसरी ओर उपयोग की । साहित्य एक कर्तव्य कर्म है, जिससे न केवल आत्मतुष्टि ही होती है, वरन् जीवन का ध्येय भी साधित होता है, जिससे न केवल आत्मानंद ही प्राप्त होता है,वरन् कीर्ति भी मिलती है । साहित्य यदि अमरता का साधन है तो नश्वरता की गति भी है ।आदि साहित्याचार्य भरतमुनि ने आनन्द को ही साहित्य या नाटक का उद्देश्य स्वीकार किया है । विभिन्न कलाओं,विधाओं, और घटनाओं द्वारा सार्वजनिक मनोरंजन का साधन ही नाटक है । यह मनोरंजन ऐन्द्रिय या निम्न पतनोन्मुख सुख का साधन नहीं, इससे एक दिव्य आनन्द की उत्पत्ति होती है जो सर्वदा विकासोन्मुख है । इस मनोरंजन या आनन्द की इतिश्री स्वयं इसकी उद्भावना और इसके रसास्वादन में नहीं होती तथा यह आनन्द,आनन्द मात्र के लिए नहीं है,अपितु वही आनन्द लौकिक दृष्टि से क्रियात्मकता तथा आलंकारिक दृष्टि से प्रीति है ।

इस सम्पूर्ण विश्लेषण से ज्ञात होता है कि संस्कृत आचार्यों ने प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से रस के माध्यम को प्रतिपादित किया है ।

आचार्यों की मान्यताओं के अनुसार रस में निम्नलिखित विशेषताएँ उपलब्ध होती हैं :--

१- रसानुभूति में ममत्व तथा परत्व की भावना समाप्त हो जाती है, क्योंकि इस अवस्था तक पहुँचने पर रजोगुण, तमोगुण का नाश हो जाता है एवं सर्वत्र सत्त्वगुण की प्रधानता हो जाती है ।

२- रस का आस्वादन किया जा सकता है, अत: यह सहृदय संवेद्य है ।

३- रस आनन्दमय है । इसकी अनुभूति होने पर पार्थिव - अपार्थिव की अनुभूतियाँ नष्ट हो जाती हैं ।

४- रस में इच्छा, अनुभूति एवं सत्य की प्रधानता रहती है ।

५- रस न तो साक्षात् अनुभव है न परोक्ष । यह अलौकिक है, इसीलिए इसे ब्रह्मानन्द सहोदर भी कहा गया है । अलौकिक होने के कारण इसकी अनुभूति के समय मनुष्य में किंचित् भी अहंकार की भावना नहीं रह जाती ।

६- रस की अनुभूति स्थूल न होकर सूक्ष्म होती है तथा प्रत्यक्षता के साथ इसमें बौद्धिकता भी रहती है ।

कलावादी मूल्यों में आनन्दपरक मूल्यों के अतिरिक्त सौन्दर्यवादी मूल्य आते हैं । मानव सौन्दर्योपासक प्राणी है । वह सौन्दर्य के लिए उतना ही लालायित रहता है जितना कि आनन्द के लिए । सौन्दर्य ही सत्य है और सत्य ही सौन्दर्य । व्यवहार ज्ञान और आनन्द के समन्वय को सौन्दर्यवादियों तथा कलावादियों ने सत्यं, शिवं, सुन्दरं के सूत्र में साकार किया है । यह सत्य है कि विज्ञान का आधार सत्य है, धर्म का आधार शिव और कला का आधार सुन्दर । साहित्य में इन तीनों में कोई भी गौण या उपेक्षित नहीं । कला में तीनों की महत्ता बराबर स्वीकार की गयी है । सत्य और शिव को सुन्दर के रूप में प्रतिष्ठित किया जाता है या यों कहें कि सत्य और शिव सदा ही आनंद और सुन्दर की पृष्ठभूमि में रहे हैं । आनंद और सौन्दर्य दोनों ही मानव जीवन के वरदान, अभाव के पूरक हैं । सौन्दर्य के दो पक्ष हैं-- बाह्य और आंतरिक अथवा लौकिक तथा आध्यात्मिक । सुन्दर सत्य भी होता है, सत्य ही मंगलमय तथा

पंडितराज जगन्नाथ ने सौन्दर्य अथवा रमणीयता की परिभाषा इस प्रकार दी है--'रमणीयता च लोकोत्तराह्लाद जनक ज्ञानगोचरता अर्थात् अलौकिक आनन्द का ज्ञान गोचर होना ही रमणीयता है । भारवि ने भी क्षण-क्षण नवीनता धारण करने वाले रूप को सौन्दर्य कहा है और वामन ने तो अलंकार को काव्य का शोभाकर धर्म कहा है और वामन ने तो अलंकार को सौन्दर्य का पर्याय ही मान लिया है-- सौन्दर्यमलंकार: । भारतीय साहित्य शास्त्र तो सत्यं शिवं सुन्दरं का सुन्दरतम निदर्शन है ।

इन मूल्यों के अतिरिक्त भारतीय काव्यशास्त्रियों ने सर्जनात्मक मूल्यों में निहित प्रतिभा को अत्यधिक प्रतिष्ठा प्रदान की है तथा प्रतिभा के साथ ही कल्पना की भी चर्चा करते चलते हैं --

भारतीय काव्यशास्त्र में प्रकृति और कला के स्थान पर प्राय: समान अर्थ में शक्ति और निपुणता का प्रयोग हुआ है और यहाँ भी इन दोनों के सहयोग और प्रतियोग की चर्चा विस्तार से हुई है ।

भम्मट ने स्पष्ट शब्दों में प्रतिभा की महत्व प्रतिष्ठा की है--'गुरु के उपदेश से शास्त्र का अभ्यास तो जडबुद्धि भी कर लेते हैं,किन्तु काव्य की रचना में केवल प्रतिभावान ही समर्थ होते हैं ।'[1] इस प्रकार पंडितों ने काव्यसृजन का मूल स्रोत प्रतिभा को माना है । प्रतिभा का अर्थ है वह कल्पना शक्ति,वह अन्तर्दृष्टि जिससे कवि प्रत्येक नवीन वस्तुस्थिति और संयोजना में अपने वैयक्तिक और आकर्षक ढंग से किसी मूर्त वस्तु,परिस्थिति,घटना,विचार अथवा भावादि की स्थापना करता है ।'

दण्डी ने प्रतिभा का गौरव तो स्वीकार किया है, किन्तु निर्मल शास्त्रज्ञान और अमंद अभियोग को भी उचित महत्व दिया है ।[2] रुद्रट

---

१ काव्यालंकार १.५.

२ न विद्यते यद्यपि पूर्ववासनागुणानुबन्धि प्रतिभानमद्भुतम् ।
श्रुतेन यत्नेन च वागुपासिता ध्रुवं करोत्येव कमप्यनुग्रहम् ।।--काव्यादर्श १/१०४
तथा
नैसर्गिकी च प्रतिभा, श्रुतं च बहु निर्मलम्।
अमन्दश्चाभियोगश्च, कारणं काव्यसम्पद: ।।दण्डी--काव्यादर्श१।१०३

थोड़ा और आगे बढ़ गए हैं, उन्होंने प्रतिभा को भी दो प्रकार की माना है-- सहज तथा उत्पाद्य । इसपर प्रकाश डालते हुए वे कहते हैं-- जिस विशेषता द्वारा सुस्थिर चित्त में अनेक प्रकार के वाक्यार्थ का स्फुरण तथा कठिनता रहित पदों का भान होता है, उसी को शक्ति कहते हैं । रुद्रट ने शक्ति और प्रतिभा को एक ही माना है तथा कवि में इस प्रतिभा का होना अति आवश्यक है[1] । रुद्रट के अतिरिक्त प्राय: सभी ने इसे नैसर्गिकी माना है तथा निपुणता से बेहतर कहा है । आनन्दवर्धन ने तो कहा है कि निपुणता के अभाव का दोष कवि की प्रतिभा द्वारा संवृत हो जाता है[2] । वे कवि के अतिरिक्त पाठक में भी प्रतिभा का होना मानते हैं । वाग्भट्टादि भी प्रतिभा को काव्यकारण और निपुणता आदि को उसका भूषण मानते हैं । उन्होंने प्रतिभा को सर्वतोमुखी माना है[3] ।

पंडितराज जगन्नाथ ने माहात्म्य का और भी सबल शब्दों में प्रतिपादन किया है तथा व्युत्पत्ति को उसका पोषक मात्र माना है । वे प्रतिभा की व्याख्या करते हुए कहते हैं --' जिस शक्ति द्वारा काव्य के अनुकूल शब्द और अर्थ कवि के मस्तिष्क में जल्दी-जल्दी आते हैं, उसे प्रतिभा कहते हैं[4] ।' कुन्तक पूर्वजन्म के तथा इस जन्म के संस्कारों से परिपक्व दृढ़ बनी हुई अनोखी कवित्व शक्ति को ही प्रतिभा कहते हैं[5] । वामन ने भी 'बीजम् प्रतिभानम्' कहकर इसी बात का समर्थन किया है[6] । वे मानते हैं कि इसके बिना काव्य निष्पन्न नहीं होता है[7] । नये-नये अर्थों का उन्मीलन करने वाली प्रज्ञा को ही भट्टतौत प्रतिभा कहते हैं ।

---

१ काव्यालंकार १.१५

२ आनन्दवर्धन : ध्वन्यालोक

३ प्रसन्नपद-नव्यार्थ -युक्त्युद्बोधविधायिनी ।
स्फुरन्ती सत्कवेर्बुद्धि: प्रतिभा सर्वतोमुखी ।।--वाग्भटालंकार १.४

४ सा(प्रतिभा) काव्यघटनानुकूलशब्दार्थोपस्थिति: --रसगंगाधर१ मवानन,पृ०९

५ प्राक्तनाद्यतनसंस्कारपरिपाकप्रौढा प्रतिभा काचिदेव कविशक्ति:-वक्रोक्तिजीवित ४९

६ वामन- काव्यालंकार सूत्र --१।३।१६

७ भट्टतौत- प्रज्ञा नवनवोन्मेष शालिनी प्रतिभा मता । रसहित्यदर्पण (का०: नोट्स)

अग्निपुराण ने प्रतिमा को दुर्लभा कहा है[1]। जिस साहित्यकार को इस प्रतिमा का वरदान मिल जाता है, उसी के साहित्य का मर्म सजीव और प्रभावशाली होता है। इस पूरी परम्परा में केवल एक अपवाद है--आचार्य मंगल[2]। इन्होंने निपुणता या व्युत्पत्ति को प्रतिमा से महत्तर माना है किन्तु मंगल का मत अतिवाद ही है। भारतीय काव्यशास्त्र में मान्यता आनन्दवर्धन के मत को ही मिली है। वैसे भी दण्डी से लेकर जगन्नाथ तक प्राय: सभी प्रतिनिधि आचार्यों ने प्रतिमा को ही मूल हेतु माना है, निपुणता और अभ्यास तो उसके पोषक हैं।

प्रतिमा के अतिरिक्त भारतीय साहित्य-चिन्तन में कल्पना को भी लिया गया है। अभिनवगुप्त प्रथम भारतीय दार्शनिक था जिसने कल्पना पर स्वतन्त्ररूप से विचार किया था। उसने कल्पना को अपूर्व वस्तु के निर्माण में समर्थ प्रज्ञा माना है। पंडितराज जगन्नाथ ने कल्पना को काव्य घटना के अनुकूल शब्द और अर्थ की उपस्थिति कहा है[3]। काव्य सृजन एक संश्लिष्ट प्रक्रिया है, जिसमें भावना, कल्पना और ज्ञान के विभिन्न तत्त्व विभिन्न अनुपात से एक ही समय में इस प्रकार गुम्फित हो जाते हैं कि उन्हें अलग-अलग नहीं किया जा सकता। साथ ही इस संश्लिष्ट प्रक्रिया में अभिव्यंजना के तत्त्व भी मिल जाते हैं। काव्य प्रेरणा के भावुक क्षणों में कवि की अनुभूति अत्यन्त तीव्र हो जाती है, उसकी निर्माणी प्रतिमा उद्दीप्त हो उठती है तथा उसकी कल्पना शक्ति दुस्साहसी बन जाती है तथा पृथ्वी से आकाश तक का सारा प्रकृति-वैभव उसके लिए हस्तामलकवत् हो जाता है। यह प्रक्रिया एक साथ सौन्दर्यनिष्ठ, पुनात्मक तथा व्यवहारात्मक है। भारतीय साहित्यशास्त्रियों ने भी अपने काव्य को अत्यधिक सुन्दर बनाने के लिए कल्पना का प्रयोग किया है। संस्कृत के रसशास्त्र में भी कल्पना का प्रयोग अथवा विवेचन यद्यपि स्वतंत्र रूप से नहीं किया गया है, तथापि इसके महत्त्व तथा सत्ता को सर्वत्र स्वीकार किया है।

---

१ कवित्वं दुर्लभं शक्ति स्तत्रापि दुर्लभा। ३३६

२ काव्यमीमांसा ८०५

निष्कर्षत: हम कह सकते हैं कि भारतीय साहित्यशास्त्र में मूल्यों के दृष्टिकोण से कलात्मक मूल्यों को प्रधानता दी गई किन्तु उपयोगितावादी मूल्यों की अवमानना भी नहीं की गई ।

(ग) हिन्दी का मध्ययुगीन साहित्य चिन्तन

पाश्चात्य एवं भारतीय साहित्य-चिन्तन में निहित मूल्य-दृष्टियों का विवेचन करने के पश्चात् अब हम मध्ययुगीन हिन्दी साहित्य-चिन्तन की परम्पराओं एवं मूल्य-दृष्टियों का विश्लेषण करेंगे ।

संस्कृत भाषा के पश्चात् हिन्दी भाषा के जन्म तक साहित्य क्षेत्र में कई भाषाएं पनपीं, विकसित हुईं तथा विलीन हो गईं । हिन्दीसाहित्य का आरम्भ सातवीं शती के मध्य से माना जाता है एवं इसका विकास अभी तक निरन्तर होता चला गया है । विद्वानों ने मुख्यत: समस्त हिन्दी साहित्य के इतिहास को चार कालों[1] में विभाजित किया है-- आदिकाल, भक्तिकाल, रीतिकाल और आधुनिककाल । भक्तिकाल को पूर्वमध्यकाल तथा रीतिकाल को उत्तरमध्यकाल भी कहा जाता है । अत: भक्तिकाल और रीतिकाल दोनों मध्ययुग के अन्तर्गत आते हैं इसलिए इन कालों में पाये जाने वाले साहित्य को मध्ययुगीन साहित्य भी कह दिया जाता है ।

'हिन्दी का मध्ययुगीन साहित्य-चिन्तन' शीर्षक के अन्तर्गत हमारे विवेचन का विषय यही मध्ययुगीन साहित्य है । इस साहित्य का प्रभाव हिन्दी के आधुनिककाल के रचयिताओं पर अत्यधिक पड़ा है, इसलिए इसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती ।

---

१ आचार्य रामचन्द्र शुक्ल , डॉ० नगेन्द्र आदि ।

हिन्दी के मध्ययुगीन साहित्य-चिन्तन की परम्पराएँ

मध्ययुग में आनेवाला भक्तिकाल अपने नाम के अनुरूप ही प्रतिपाद्य को स्पष्ट करने वाला है अर्थात् इस काल में भक्तिपरक रचनाओं की ही प्रधानता रही है। भक्तिकालीन साहित्य दो भागों में बंट जाता है-- निर्गुण काव्य, सगुण काव्य। वस्तुत: इन दोनों धाराओं में प्रवाहित होने वाला काव्य गुणवत्ता और परिमाण दोनों दृष्टियों से अत्यन्त सम्पन्न है। भक्तिकाल का आरम्भ निर्गुण संत काव्य से होता है। संत कवियों[1] ने यद्यपि काव्यशास्त्र का अध्ययन नहीं किया था,परन्तु फिर भी इनकी कृतियाँ काव्य-हीन नहीं हैं,क्योंकि इन्होंने जीवनरूपी पाठशाला से सत्य जैसे श्रेष्ठ तत्त्व को पा लिया था। जिस सिद्धि को ये कवि पाना चाहते थे वह सार्वजनिक हित से समन्वित सर्वजनसुलभ ध्येय था। अपने युग में इन संतकवियों ने वैचारिक क्रांति को जन्म देकर भारतीय जनता के सम्मुख[2] एकेश्वरवाद, समता, सदाचार,सत्य तथा शाश्वत धर्म का आदर्श प्रस्तुत किया। इनके पास धर्म-दर्शन,भक्ति और चरित्र निर्माण के लिए अपना निजी संदेश था।

निर्गुण कवियों में संत कवियों के अतिरिक्त प्रेमाख्यान काव्य की रचना करने वाले सूफी कवि भी आते हैं। इन कवियों का समस्त काव्य सामाजिक,साहित्यिक तथा सांस्कृतिक स्तर पर अपने पूर्ववर्ती काव्य से सर्वथा

---

१ रामानन्द, कबीरदास,रैदास,नानक देव आदि।

२ पंडित मिथ्या करहु विचारा, ना वह सृष्टि न सिरजन हारा।
डॉ०पारसनाथ तिवारी : कबीर ग्रन्थावली
साईं के सब जीव हैं कीरी कुंजर दोय। वही।
जो नर दुख में दुख नहिं माने।
सुख सनेह अरु भय नहिं जाके। कंचन माटी जाने।।
--नानक देव ('गुरुग्रन्थ साहिब')

भिन्न किन्तु जनमानस के अत्यधिक निकट है । इनके काव्यों का संदेश ईश्वर-प्रेम के साथ मानवतावाद से भी परिपूर्ण है,किन्तु सामाजिक आडम्बरों से सर्वथा दूर है [1] ।

भक्तिकाल में निर्गुण काव्य के पश्चात् सगुण काव्य आता है [2] । सगुण काव्य भक्तिकाल का श्रेष्ठतम काव्य माना जाता है । काव्यशास्त्र की कसौटी पर यदि हम इस काल के काव्य की समीक्षा करें तो देखेंगे कि सौन्दर्य विधायक तत्त्व इस युग के काव्य में भरपूर मात्रा में पाए जाते हैं । रस, रीति, ध्वनि, वक्रोक्ति, अलंकार, वृत्ति आदि का प्रयोग इन कवियों ने जिस सहजता एवं सरलता के साथ किया है, वैसा तो रीतिकालीन कवि भी नहीं कर सके । आनन्द और कल्याण, नि:श्रेयस और अभ्युदय के समन्वय द्वारा इन कवियों ने जो कीर्तिमान स्थापित किए वे परवर्ती कालों में प्राय: दुर्लभ ही रहे ।

ऐतिहासिक क्रम से भक्तिकाल के पश्चात् आता है रीतिकाल । रीतिकाल में किसी ऐसे व्यापक सिद्धान्त का प्रतिपादन नहीं हुआ जो कि काव्य-चिन्तन को नई दिशा प्रदान करने में सहायक होता । रीतिकाव्य जिस वातावरण में विकसित हो रहा था, उसमें रसिकता का ही प्राधान्य था,अत: इन रसिकों को अपने व्यक्तित्व के परिमार्जन के लिए सामान्य कला ज्ञान ही अपेक्षित था, गहन प्रश्नों पर विचार करने की उनमें सामर्थ्य न थी,इसीलिए इनके काव्यों के विषय भी उदात्त न थे , उनमें जीवन के भव्य मूल्यों की प्रतिष्ठा न थी [3] । रीतिकाव्य का नैतिक मूल्य भी कम है, किन्तु यह भी सत्य है कि काव्य की रचना केवल मात्र

---

१ देखत ही पहिचानेउ तोही । एक रूप जेहि छंदरयो मोही ।।
एही रूप बुत अहै छपाना । एही रूप रब सृष्टि समाना ।। बं० मंफन
जानत है वह सिरजन हारा । जो किछु है मन मरम हमारा।। -नूर मुहम्मद

२ सगुण काव्य -- रामचरित शाखा, कृष्ण भक्ति शाखा ।

३ रीतिकाल की मुख्य प्रवृत्तियाँ थीं-- रीतिनिरूपण और शृंगारिकता । गौण प्रवृत्तियों में राजप्रशस्ति,भक्ति तथा नीति आदि आती हैं ।

उदात्त आनन्द की प्राप्ति के लिए ही नहीं की जाती, अपितु कभी-कभी वह मनोरंजनार्थ भी लिखा जाता है। रीतिकाव्य का मूल्यांकन करते समय कला के इसी उद्देश्य को सम्मुख रखना चाहिए-- उसकी मूलवर्ती प्रेरणा यही थी तथा इसी की पूर्ति में उसकी सिद्धि निहित है। घोर पराभव के युग में, समाज के अभिशप्त जीवन में मधुरता एवं सरसता का संचार कर रीतिकालीन कवियों ने अपने ही ढंग से समाज का उपकार किया था।

हिन्दी के मध्ययुगीन साहित्य-चिन्तन में निहित मूल्य दृष्टियाँ

सम्पूर्ण काव्यादर्शों के सन्दर्भ में देखा जाये तो यह प्रमाणित होता है कि काव्य सदैव दो मूल्यों से प्रभावित रहता है। प्रथमत: कवि का मस्तिष्क भी मानव-मस्तिष्क ही है, अत: वह अन्य मस्तिष्कों की भाँति ठीक उन्हीं सामाजिक संघटनों, वैयक्तिक मान्यताओं एवं शास्त्रीय विचारधाराओं से प्रभावित होता है, जिस प्रकार एक अन्य मस्तिष्क इसलिए काव्य में निश्चित रूप से सामाजिक मूल्यों की स्थापना अनिवार्य समझी जाती है। इसी संदर्भ में कवियों द्वारा नैतिक मूल्यों का भी स्वीकरण होता है। काव्य अन्य सामाजिक मूल्यों की भाँति अपनी पृथक सत्ता रखता है। दूसरी बात यह है कि रचना एवं अभिव्यक्ति के क्षेत्र में काव्य की एक विशिष्ट प्रकृति होती है-- यह प्रकृति है कलात्मक मूल्यों की सुरक्षा की। यह विशिष्ट प्रकृति ही काव्य को उन काव्यमूल्यों, जिनका लगाव अन्य सामाजिक शास्त्रों से है, से अलग कर देती है। इस प्रकार मध्ययुगीन हिन्दी साहित्य-चिन्तन में भक्ति काव्य के भी दो मूल्य निश्चित होते हैं --

(१) उपयोगितावादी मूल्य।

(२) कलावादी मूल्य।

भक्त कवियों के सामाजिक एवं वैयक्तिक मूल्यों को उपयोगितावादी तथा आनन्द एवं लीला सम्बन्धी धारणाओं को कला विषयक मूल्यों के अन्तर्गत रखा जा सकता है।

१- उपयोगितावादी मूल्य

भक्त कवियों के सामाजिक उपयोगितावादी मूल्यों में लोकमंगल कलिमल एवं पुरुषार्थ चतुष्टय की प्राप्ति है । यदि सामाजिकता के सन्दर्भ में इनकी व्याख्या की जाये तो इनका अन्तर्भाव लोकमंगल में ही हो जाता है । भक्ति काव्य की प्रवृत्ति के अनुसार इस लोकमंगलवाद का नामकरण किया जाये तो वह नैतिक हितवाद के नाम से भी पुकारा जा सकता है । भारतीय काव्य में नैतिक हितवाद या मंगलवाद की परम्परा आज की नहीं है । हमारे देश का साहित्य सदैव से लोकमंगल की भावनाओं से ओत-प्रोत रहा है । रघुवंश आदि महाकाव्यों का प्रणयन सर्वभूतहित को दृष्टि में रखकर किया गया था ।वीरगाथा-कालीन साहित्य में यद्यपि राजाओं-महाराजाओं के यश, वैभव तथा वीरता का अतिशयोक्तिपूर्ण वर्णन है, परन्तु वह भी जीवन से सम्बन्धित होने के कारण लोकहित से सम्बद्ध है । इन काव्यों में नीति तथा सदाचार को प्राधान्य दिया गया है । भक्तिकालीन साहित्य तो जीवन से पूर्णतया सम्बन्धित है ।ज्ञानाश्रयी शाखा के कवियों ने हिन्दू-मुस्लिम एकता का तथा साधारण धर्म के सिद्धान्तों का प्रतिपादन प्रधान रूप में किया है[१] । प्रेममार्गी शाखा में भी लोकपक्ष प्रबल है। तुलसी तथा सूर की रचनाओं में तो लोकसंग्रह की प्रधानता है ही । तुलसी तथा सूर ने अपनी रचनाओं के सुधारस[२] से मुरझाए हुए हिन्दू जीवन को फिर से सींच कर हरा-भरा कर दिया ।

---

१ माला फेरे कछु नहीं, काती मन के साथि ।
जब लगि हरि प्रगटे नहीं, तब लगि पतड़ा हाथ ।

-- डॉ० पारसनाथ तिवारी : कबीर संग्रह,पृ०सं० ३७, कबीर ग्रंथावली, पृ० २२४

२ सूरदास भगवंत भजन करि, सरन गये उबरे ।

सूरदास-- सूरसागर, सूर संग्रह,पृ०सं०२ मोहन अवस्थी

यहि जग यहँ जँह लगि या तन की प्रीति प्रतीति सगाई ।
सो सब तुलसीदास प्रभु ही सों होडु सिमिटि इक ठाई ।।

-- तुलसीदास

रीतिकालीन साहित्य में यद्यपि सुरा और सुंदरी का ही हास्योत्तेजक वर्णन मिलता है,परन्तु उसमें भी भूषण,लाल, सूदन आदि कवियों ने देश तथा जाति की भावनाओं से प्रेरित होकर रचनाएँ की हैं । वास्तव में भारतीय साहित्य ही हितवाद का पर्याय है । इसके विकास की कड़ी वैदिक साहित्य से लेकर सम्पूर्ण मध्यकाल तक वर्तमान रही है । कलिमल शमन एक वह परम्परागत मूल्य है जो भक्ति के क्षेत्र में विशिष्ट साम्प्रदायिक विश्वास के कारण स्वीकृत हुआ है । साम्प्रदायिक विचार से युक्त कलिमल शमन का अर्थ सामाजिक तथा वैयक्तिक अनाचार के उच्छेद से लिया जा सकता है । यह वस्तुत: लोकमंगल का निषेधात्मक मूल्य है । पुरुषार्थ चतुष्टय वैयक्तिक मूल्य होकर भी सामाजिक व्यवस्था की कड़ी है । अत: ये भी सामाजिक मूल्यों के पर्याय हैं । इस दृष्टि से मध्ययुगीन काव्य में प्राप्त मूल्यों को नैतिक उपयोगितावादी मूल्य कहा जा सकता है ।

वैसे हिन्दी के भक्त कवि काव्यादर्श की दृष्टि से अत्यधिक मौलिक ज्ञात होते हैं । उनका काव्य मानव की उच्चतम नैतिक आस्थाओं एवं धार्मिक विश्वासों पर आधृत है, किन्तु वह मात्र हितवादी ही नहीं है ।भारतीय अध्यात्मदर्शन का उच्चतम मूल्य आनंद उनका अंतिम मूल्य है । इसीलिए इनके काव्य सिद्धान्तों को दो भागों में विभक्त किया जाता है-- आनंदवादी तथा हितवादी। प्रथम का सम्बन्ध तो रसवाद एवं सौन्दर्यशास्त्र से है,दूसरे का नैतिक उपयोगितावाद से । इससे ज्ञात होता है कि भक्तिकाव्य में तीन शास्त्रीय सिद्धान्त निहित हैं-- (१) रसवाद, (२) उपयोगितावाद, एवं (३) सौन्दर्य । फलत: मूल्य निर्धारण के सम्बन्ध में भक्ति एवं जीवन सम्बन्धी मूल्यों को छोड़ा नहीं जा सकता है ।

मध्यकाल के प्रारम्भ में मुक्ति को समाज एवं व्यक्ति का उच्चतम मूल्य समझा जाता था, किन्तु हिन्दी भक्ति काव्य में मुक्ति को गौण एवं भक्ति को उच्चतम मूल्य समझा गया है । भक्ति-कवियों के अनुसार समाज का महत्तम

व्यक्ति भक्त है तथा भक्ति उच्चतम, वैयक्तिक, सामाजिक मूल्य[1]। इस मूल्य के अभाव में समाज और व्यक्ति दोनों मुक्ति और आत्मोद्धार से वंचित रह सकते हैं। इस प्रकार उनका यह मूल्य सामाजिक तथा वैयक्तिक हित से ही पूर्ण सम्बद्ध है।

भक्त कवि जीवन का अंतिम मूल्य शुभ तत्त्वों की उपासना को मानते हैं। वैष्णव धर्म के अन्तर्गत धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष समाज के सामान्य वर्ग के लिए है। सामान्य वर्ग से उठकर मनुष्य धर्मापेक्षी मात्र रह जाता है। इस स्थिति से उठकर वह सात्त्विक वर्ग के अन्तर्गत आता है। सात्त्विक वर्ग से ऊंचे उठने पर संत एवं साधुओं का वर्ग आता है। साधु वर्ग के प्रतिनिधि निरन्तर शुभ मूल्यों का परिष्करण, मार्जन एवं संस्थापन में लगे रहते हैं। व्यक्ति एवं वर्ग की दृष्टि से अन्तिम श्रेणी भक्ति वर्ग की है। इस भक्त कवियों की दृष्टि से भक्त समाज के उच्चतम साधक हैं।

भक्त कवियों के अनुसार मानव जीवन के अंतिम मूल्य का निर्धारण शुभ या अशुभ कर्तव्य से होना चाहिए। शुभ से प्रेरित जीवनमूल्य उपास्य एवं शेष त्याज्य हैं। इस शुभ मूल्य में मुक्ति या मोक्ष तथा भक्ति की प्राप्ति जीवन का अंतिम लक्ष्य है। भक्ति काव्य में साहित्यिक मूल्य से अधिक महत्त्वपूर्ण जीवनगत मूल्य है। जीवनगत मूल्य के अनेक आदर्श भक्ति काव्य में निहित हैं। समाज में नैतिकता की पुष्टि, धार्मिकता का प्रचार, कलि कलुष का विनाश, उच्चतम शुभ मूल्यों की समाज में स्थापना, लोकहित एवं मानव की संरक्षा इस उपयोगितावादी सिद्धान्त के मूल में है। हिन्दी के भक्त कवि पूर्णरूपेण उपयोगितावादी काव्यमूल्य से प्रभावित हैं।

----

१ की तोहि लागहिं राम प्रिय, की तु रामप्रिय होहि।
दुइ महँ रुचै जो सुगम सोइ, कीबे तुलसी तोहि ॥ --तुलसी
तजौ मन, हरि बिमुखन कौ संग।
जिनके संग कुमति उपजति है, परत भजन में भंग।
--सूरदास--सूरसागर, सूरसंग्रह--मोहन अवस्थी, पृ०सं०७।

भक्त कवियों ने अशुभ मूल्य इस प्रकार माने हैं-- जप,तप,योग विराग,यज्ञ का विनाश, हिंसा,बहुलता, भ्रष्टाचार का प्रचलन तथा धर्म विपरीतता का बाहुल्य आदि । इन अशुभ मूल्यों के उच्छेद के लिए उच्चतम शुभ मूल्य का अवतरण होता है । उच्चतम शुभ मूल्य अपनी समस्त धार्मिक सजगताओं के साथ अनाचरण से द्वन्द्व करता है । परिणामस्वरूप समाज में पुन: शुभ मूल्यों की स्थापना होती है। भक्त-कवियों के अनुसार शुभ मूल्य ही समाज के एकमात्र समर्थक हैं । ये पूर्ण,सनातन परम्परा से संक्रमित मूल्य हैं,जो सात्त्विक वर्ग के जन समाज में प्रचलित शुभ मूल्यों का प्रतिनिधित्त्व करते हैं ।

मध्यकालीन भक्ति काव्य में जहाँ तक शुभ मूल्यों का प्रश्न है, वे तीन हैं[1] । पहले तो ये भक्त तत्त्व चर्चा को अपने काव्य का स्पष्ट मूल्य घोषित करते हैं । इनके काव्य के दूसरे मूल्य सदाचरण के हैं[2] । नैतिक सदाचरण का संबंध सामाजिक एवं वैयक्तिक पवित्रता से है । इस पवित्रता के अभाव में धार्मिकता का अभ्युदय सम्भव नहीं है । इनका तीसरा मूल्य भक्ति एवं लीला का है । भक्ति उनके दृष्टिकोण से उच्चतम सामाजिक मूल्य है । इस मूल्य[3] के अभाव में समाज और व्यक्ति दोनों मुक्ति एवं आत्मोद्धार से वंचित रह सकते हैं । इसप्रकार इनके ये शुभ मूल्य सामाजिक तथा वैयक्तिक हित से ही पूर्णतया सम्बद्ध हैं ।

उपयोगितावादी साहित्य का समर्थक मानवहित को काव्य का उच्चतम गुण स्वीकार करता है । इस दृष्टि से मानव कल्याण से सम्बन्धित सामाजिक आदर्श के पोषक मूल्य उपयोगितावादी साहित्य के प्रधान अंग हैं । हिन्दी भक्त कवियों में उच्चतम सामाजिक शुभ मूल्यों की स्थापना मिलती है । ये शुभ मूल्य धार्मिकता एवं नैतिकता से प्रेरित हैं । भक्त कवियों का अन्तिम शुभ मूल्य नैतिक कल्याण का लोकमंगल की स्थापना है । इस शुभ मूल्य का साधन नैतिक आचरण है ।

----

१ सूर,तुलसी,नंददास,हरिव्यासी,हरिदासी, गौड़ीय आदि ।

२ सूरदास- सूरसागर, सूर संग्रह-- मोहन अवस्थी,पृ०सं०७-८ ।

३ डॉ० पारसनाथ तिवारी : कबीर संग्रह, पृ०सं०१७-१८ ।

भक्ति काव्य में लोकमंगल की भावना, उसकी पहली समस्या है। भागवत को आधार बनाने का लक्ष्य असुरों का विनाश और उसके द्वारा लोकमंगल की स्थापना है। काव्यशास्त्रीय परम्परा में लोकमंगल की भावना सामान्य रूप में मिलती है। भक्तिकाव्य में यद्यपि मूल प्रेरणा भक्ति की है किन्तु उसमें लोकमंगल के संदर्भ काव्य के आदर्श से प्रेरित न होकर लोकनिष्ठा तथा धर्मनिष्ठा से प्रेरित है। दूसरे शब्दों में यह धार्मिक काव्य है जो लोकहित को अपना अनिवार्य लक्षण बताता है।

ये कवि काव्य का सर्वोत्कृष्ट लक्षण लोकमंगल को भावना को ही मानते हैं। कविता वही श्रेयष्कर है जो गंगा की भाँति सर्वजनहितार्थ प्रयुक्त हो[1]। यह सत्य है कि किसे अपना काव्य अच्छा नहीं लगता, परन्तु अच्छा काव्य तो वह है जो सर्वजनहितग्राही हो।

लोकादर्श से तात्पर्य काव्य के द्वारा लोकोपयोगी मूल्यों के संस्थापन से है। इसके अन्तर्गत लोकहित, नैतिकता का प्रचार, कलिमल से उद्धार आत्ममुक्ति, भौतिक एषणाओं से मुक्ति, चतुर्थ पुरुषार्थों की प्राप्ति एवं त्रिदोषों का विनाश आदि मूल्य आते हैं। भक्त कवियों ने अपने काव्य के माध्यम से लोक संरक्षण की वृत्ति का पोषण किया है। इस लोक संरक्षण का आधार नैतिकता है। भक्त कवि काव्य का एकमात्र मानदंड नैतिकता का पोषण बताते हैं। भक्तिकाव्य में नैतिकता स्वत: साध्य न होकर जीवनगत मूल्यों की संरक्षक है। इस प्रकार भक्ति काव्य काव्यमूल्यों की दृष्टि से जीवनगत आदर्शों का प्रबल समर्थक है। भक्ति काव्य में निहित काव्यादर्शों की दृष्टि जीवनगत एवं साहित्यिक मूल्यों के समर्थन के प्रति अधिक सजग दिखाई ~~पड़ता~~ पड़ती है।

हम यह निस्संदेह कह सकते हैं कि भारतीय चिन्तन में भक्तिकाव्य ने जो मानवतावादी विचारधारा शताब्दियों से फैलायी है, वह अन्यत्र दुर्लभ है। यह विचार मनुष्य के विकास के साथ अपने सुन्दरतर रूप में अभिव्यक्त हुआ है तथा

---

1 कीरति भनिति भूति भल सोई।
सुरसरि सम सब कहँ हित होई ।।

बहुजनहिताय के उदात्त रूपों में प्रकट हुआ है, इसी का सुसंस्कृत रूप मानवतावाद है। इसका मानमूल्य हम बहुजनहिताय(कल्याण) की कसौटी पर करते हैं और यही मानवतावाद की कसौटी है। इस मानवतावाद के विकास को समाज के विकास के अतिरिक्त और देखा ही नहीं जा सकता। जहां कबीर ने उत्पीड़क, हिन्दू मुस्लिम धर्म का विरोध करके निम्नवर्ग अर्थात् बहुजनहित की रक्षा की[1]। वहां तुलसी इस क्षेत्र में उत्पीड़कों के अधिक निकट थे, वे दलितों के साथ कठोर व्यवहार नहीं चाहते थे, उन्होंने कल्याण,बहुजनहित तथा मानवतावाद की रक्षा की थी[2]। मुस्लिम साम्राज्य के विरुद्ध स्वर उठाकर --क्योंकि मुस्लिम साम्राज्य तब अत्याचार करता था। बिहारी ने यद्यपि सौन्दर्य की बागडोर पकड़ी तथा उच्चवर्गों का साथ दिया,परन्तु उसने जिन चित्रों का सृजन किया वे प्रेम और आनन्द का भी द्योतन करते थे, अतः वे स्थायी महत्त्व प्राप्त कर सके। वैष्णव चिन्तन से प्रभावित जिस राधाकृष्ण युगल को बिहारी ने चित्रित किया है, उस आराधना के मूल में समन्वय[3] का दृष्टिकोण था, जो यदि स्पष्ट नहीं था तो भी अन्तर्निहित था। रीतिकाल में धर्म के उस स्वस्थ और नैतिक रूप का(जो भक्तिकाल में था) जो आत्मबल के द्वारा जीवन को धारण करता है, अभाव हो चुका था, परन्तु विश्वास अभी भी बना हुआ था। ऐन्द्रिक प्रेम में आकंठ डूबकर भी ये कवि भक्ति का आँचल पकड़े हुए थे। इसीलिए ~~विलास~~ विलासी काव्य की रचना करते समय भी ये कवि अपने नायक,नायिका को हरि और राधिका आदि कहते गये हैं।

लोकोपयोगी मूल्यों के अन्तर्गत आने वाले चारों पुरुषार्थों को यदि पृथक्-पृथक् मूल्यों के रूप में रखा जाये तो वे इस प्रकार होंगे --

----

१ सतगुर सवां न को(इ) सगा, सोधी सईं न दाति।

हरि जी सवां न को(इ) हित, हरिजन सईं न जाति।।
डा०पारसनाथ तिवारी : कबीर संग्रह,पृ०स०२६ । कबीर ग्रंथावली, पृ० १२५

२ द्रष्टव्य तुलसीदास की विनयपत्रिका एवं रामचरितमानस

३ तजि तीरथ, हरि-राधिका-तन-दुति करि अनुराग।

जिहिं ब्रज-केलि-निकुंज-मग, पग-पग होतु प्रयागु।।
जगदीश गुप्त : बिहारी ~~संग्रह~~, बिहारी सतसई

(क) अर्थ

अर्थप्राप्ति का प्रयोजन इन भक्त कवियों को पूर्णत: अस्वीकृत था, क्योंकि उसे आसक्ति का साधन बताकर वे उससे वैराग्य ले चुके थे ।

(ख) धर्म

धर्म को भक्त कवियों ने स्वीकार किया है ।

(ग) काम

काम वस्तुत: कामेच्छा है, जो आसक्ति या वस्तु के प्रति राग उत्पन्न करती है ।

(घ) मोक्ष

भारतीय आदर्शवादी परम्परा में मोक्ष को जीवन का अंतिम लक्ष्य स्वीकार किया गया है ।

लोकमांगलिक मूल्यों के अनन्तर अब हम सामाजिक मूल्यों को लेते हैं-- काव्य चूँकि मानव मस्तिष्क की एक प्रक्रिया है जो सामाजिक व्यवहार की अपेक्षा रखती है, अत: उसे सामाजिक मूल्यों के अन्तर्गत रखा जाता है, लेकिन काव्य अपनी कलापरकता के कारण अन्य सामाजिक मानव मूल्यों से अलग हो जाता है । अत: काव्य का आदर्श सामाजिक मूल्य है, किन्तु दूसरी ओर काव्य अपनी कलापरकता के कारण अन्य सामाजिक मूल्यों से पृथक् भी हो जाता है । काव्य अपनी प्रक्रिया में उन समस्त विषयों से पृथक है जो सामाजिक मूल्यों का अध्ययन करते हैं । इस रूप में काव्य वाणी व्यापारों से युक्त अपनी निश्चित पद्धति में सामाजिक मूल्यों को आदर्श बनाकर चलनेवाली भावात्मक कला प्रक्रिया है ।

उच्चतम सामाजिक मूल्यों का स्थापन सात्विक वर्ग के ही अन्तर्गत होता है । हिन्दी के सगुण भक्तिकाव्य में उच्चतम मंगलपूर्ण मानव समाज की कल्पना मिलती है । तुलसी का रामराज्य और सूर का कृष्ण राज्य

इस मंगलमय समाज का उच्चतम आदर्श है[1]। इस भक्ति समाज का अंतिम मूल्य लोकमंगल की स्थापना ही है, जिसकी चर्चा हम पहले कर चुके हैं। नैतिकता भी इस धर्म का प्रमुख अंग है। इन कवियों ने सामाजिक अनाचार एवं भ्रष्टाचार का अनेक मुख वर्णन किया है। वैयक्तिक मूल्यों की भी इन्होंने चर्चा की है। इनका वैयक्तिक हित अन्य हितों विशेषकर भौतिक हित, सांसारिक सुख, आसक्ति जन्य तृप्ति से किंचित् पृथक् है। इस वैयक्तिक हित का सामान्य स्वरूप दो प्रकार का है-- निषेधात्मक, विधिमूलक।

निषेधात्मक मूल्यों के अन्तर्गत माया का त्याग, आसक्तियों के प्रति विराग आदि हैं[2] तथा विधिमूलक वैयक्तिक वैयक्तिक हित में ईश्वर, गुरु साधु के प्रति आसक्ति, कर्तव्यपरायणता, भक्ति[3], दुख मुक्ति एवं दैहिक क्लेश से निवृत्ति आदि मूल्य आते हैं।

---

१ जेहि इमि गावहिं वेद बुध, जाहि धरहिं मुनि ध्यान।
सोइ दसरथ सुत भगत हित, कोसलपति भगवान ।।-- तुलसी, रामचरितमानस, पृ० ६३ दोहा ११२
चरन कमल बंदौं हरि राइ।
जाकी कृपा पंगु गिरि लंघै, अंधे कौ सब कछु दरसाइ ।।--सूरदास(सूरसागर), पृ० १, पद १

२ रे मन, अजहूँ क्यों न सम्हारै।
माया-मद में मयौ मद कत जनम बादिहीं हारै।
सूरदास-- सूरसागर, पृ० २१, पद ६३
मोहन अवस्थी : सूर संग्रह, पृ०सं० ३।

३ अब मैं नाच्यौ बहुत गुपाल।
काम क्रोध कौ पहिरि चोलना, कंठ विषय की माल।
सूरदास की सबै अविद्या दूरि करौ नंदलाल ।।-सूरदास- सूरसागर, पृ० ५०-२, पद १२३
मोहन अवस्थी : सूर संग्रह, पृ०सं० ५

३ हमें नंदनंदन मोल लिये।
जम के फंद काटि मुकराये, अभय आजाद किये। -- वही, सूरसागर, पृ० २८, पद १६१
अंतर्जामिहु तें बड़ बाहिरजामी हैं राम, जो नाम लिए तें।
पैज परे प्रह्लादहु को प्रगटे प्रभु पाहन तें, न हिए तें ।-- तुलसीदास, कवितावली, सवैया १२८

काव्य में वैयक्तिक अतृप्ति जो चेतन रूप से काव्य को प्रभावित करती है,आधुनिक मनोवैज्ञानिकों के अनुसार काव्य का मूल कारण है । यह तृप्ति सुख एवं दुख से प्रत्यक्षत: सम्बद्ध है । इस प्रकार यह वृत्ति उपयोगिता का मूल्य न होकर कवि कर्म या स्वभाव का अंग है, किन्तु हिन्दी भक्त कवियों ने जो मूल्य बताये हैं,उनमें आत्मरक्षा की भावना अधिक है । भौतिक स्तर पर यह आत्मरक्षा शारीरिक बचाव से सम्बद्ध है, किन्तु परिष्कृत होकर,शारीरिक रक्षा से ऊँचे उठकर आध्यात्मिक-सुरक्षा तक पहुँच जाती है । आत्मशोध, धार्मिक-वृत्ति का उदय, मोक्ष आदि की प्राप्ति आध्यात्मिक सुरक्षा से ही सम्बद्ध है ।भक्त कवि वैयक्तिक उद्देश्यों के अन्तर्गत इन्हीं मूल्यों की चर्चा करते हैं ।

भक्त कवि राजनीतिक, धर्म निरपेक्ष, राज्यसत्ता के व्यवहार से त्रस्त, सामाजिक अनाचार एवं भ्रष्टाचार से पीड़ित तथा मोक्षवादी धार्मिक विचारधारा के संस्थापन आदि से प्रेरित थे । सगुण भक्त कवियों की आत्महीनता सोद्देश्य थी । आत्मतोष तथा आत्मतृप्ति आदि कितनी ही भाववादी वृत्तियाँ उनकी इस आत्मशोध में निहित आत्महीनता में घुली मिली है ।

आत्मरक्षा की भावना जो इनके वैयक्तिक मूल्यों में पाई जाती है, वह भौतिक स्तर पर न होकर पारमार्थिक स्तर पर है ।अत: उसे आध्यात्मिक सुरक्षा के नाम से पुकारा जा सकता है एवं उसके अन्तर्गत भक्ति,मोक्ष,आनन्द एवं कलिमल शमन आदि आते हैं । भौतिक पलायन के माध्यम से ये कवि सामाजिक, नैतिक, शुभ एवं आध्यात्मिक मूल्यों का समर्थन करते दिखायी देते हैं,इसलिए यह भौतिक पलायन उनके लिए अवरोधक तत्त्व न होकर सर्जक तत्त्व है । इन भक्त कवियों के समस्त मूल्य आत्मरक्षा, आत्मशोध एवं भौतिक पलायन से ही सम्बद्ध है ।

वैयक्तिक मूल्यों के अतिरिक्त सामाजिक मूल्यों में इन कवियों ने लोकमंगल,चार पुरुषार्थों की प्राप्ति, कलिमलशमन, भक्ति की स्थापना एवं धार्मिकता के लोकव्यापी प्रचार को लिया है । यह उपयोगिता का मूल्य जाति-विहीन मात्र धर्म सापेक्ष है । इनके काव्यों में निहित सामाजिक मूल्यों को हितवाद या लोकमंगलवाद भी कहा जा सकता है, अपने इन्हीं मूल्यों के कारण वे भारतीय काव्य-परम्परा में अमिट स्थान बना सके हैं ।

२- कलावादी मूल्य

उपयोगितावादी मूल्यों में निहित वैयक्तिक तथा सामाजिक मूल्यों के अनन्तर अब हम कलावादी मूल्यों को लेते हैं। कलावादी साहित्य का मूल उद्देश्य कला के द्वारा कलात्मक तत्त्वों का पोषण एवं कलाजन्य आनंद से परितृप्ति प्राप्त करना है। इस दृष्टि से कलात्मक आनन्द को कृति या अभिव्यक्ति के आनन्द से पृथक् नहीं किया जा सकता। भक्त कवि भी भाव एवं अभिव्यक्ति दोनों क्षेत्रों में आनन्द मूल्य के समर्थक हैं। कला का आनन्द मात्र मानसिक संतोष है, किन्तु भक्तिकाव्य का आनन्द ब्रह्मानंद या आत्मानंद है। भक्तिकाव्य में कलाविषयक असावधानी नहीं मिलती। कलात्मक सजगता का पूर्ण परिचय यहाँ प्राप्त है।

भक्त कवि ब्रह्मानंद को अपने काव्य का अंतिम मूल्य स्वीकार करते हैं। ये अपने आराध्य का स्वरूप ही आनन्दमय स्वीकार करते हैं।[1] उनके अनुसार काव्य की सर्वोच्चात्मा आनंद है। ये आनन्द को शैली या गुण न मानकर अपने काव्य और भक्ति का एकमात्र प्रयोजन स्वीकार करते हैं अत: इनका आनंदवाद द्विमुखी होने के कारण शुद्ध काव्यानंद से भी उच्चकोटि का ठहरता है।

रस को भी भक्त कवियों ने आनन्द के अन्तर्गत लिया है। वस्तुत: ये रस को आनन्द का पर्याय ही मानते हैं। रस एवं आनन्द सौन्दर्यशास्त्र के अन्तिम मूल्य हैं। भक्ति काव्य में आनन्द मूल्य का समर्थन मिलता है। भक्ति काव्य में निहित सौन्दर्यशास्त्रीय दृष्टिकोण को आनन्द के विश्लेषण के बिना पूर्ण नहीं कहा जा सकता।[2] भक्तिकाव्य में आनन्द सम्बन्धी दृष्टिकोण अत्यधिक व्यापक है। भारतीय चिन्तनधारा में आनन्द को सर्वोच्च मूल्य के रूप में स्वीकार

---

१ देखि री देखि आनँद कंद।
सूरदास--सूरसागर, मोहन अवस्थी : सूरसंग्रह, पृ०सं०२२
पृ० ४८३, पद ६२६

२ व्यास, जयदेव, वल्लभ, सूरदास, मीरा आदि ने आनन्द का आस्वाद किया है।

किया गया है । हिन्दी सगुण भक्त कवियों ने आनन्द का प्रयोग अनेक अर्थों में किया है । सूरदास के अनुसार आनन्द कृष्णरस भक्ति एवं साध्यरूप प्रेमरस का पर्याय है[1] । परमानन्ददास के अनुसार कृष्णरसासव का पान ही परमानंद है[2] । नन्ददास के अनुसार रसमय, रस कारण, रसिक कृष्ण ही आनन्द है । प्राय: सभी भक्त कवियों ने रसलीला से उत्पन्न रस को आनन्द का पर्यायवाची स्वीकार कर लिया है । मीरा मानती हैं कि कृष्ण के प्रति प्रेम की उत्कट अनुभूति ही आनन्द है ।

आनन्द भक्त कवियों की साधना की उच्चतम अनुभूति है । इन परिभाषाओं में आनन्द के तीन आधारों का संकेत मिलता है:--

(क) भक्तिजनित आनन्द ।

(ख) लीलाजनित आनन्द ।[3]

(ग) प्रेमजनित आनन्द ।

भक्त कवियों की भक्ति पूर्णरूपेण रूपाश्रिता थी । वे स्वरूप कल्पना के माध्यम से आराध्य की मधुरतम अनुभूति कर लेते थे,परन्तु स्वरूपानन्द के अतिरिक्त भक्ति-काव्य में भावजन्य आनन्द की भी धारणा मिलती है । भक्ति की अनुभूति को ही कवि आनन्द की संज्ञा प्रदान करते थे ।

लीलाजनित आनन्द वैष्णव भक्ति का मूल प्रतिपाद्य है । इस आनन्द के माध्यम से ही भक्त कवियों ने अपनी मधुर भक्ति की पुष्टि की है ।

प्रेमानन्द का मूलाधार भक्ति है । यह भौतिक प्रेम या शृंगार से भिन्न कोटि का है । आनन्द के इन स्वरूपों के अतिरिक्त भी यहाँ एक विशेष प्रकार के आनन्द तत्त्व का उल्लेख करना अनिवार्य है, जिसे काव्यानन्द कहा जाता है । यह वस्तुत: अभिव्यक्तिजन्य आनन्द है । भक्ति काव्य का उच्चतम मूल्य

----

१ सूरदास : सूरसागर , मोहन अवस्थी : सूरसंग्रह,पृ०सं० ५-८ ।

२ इनकी प्रेमानुभूति लौकिक न होकर कृष्णविषयक है ।

३ हिन्दी वैष्णव भक्ति काव्य में निहित काव्यादर्श एवं काव्यशास्त्रीय सिद्धान्त --योगेन्द्रप्रताप सिंह, पृ०सं० ३६७ ।

आनन्द है । इससे सिद्ध होता है कि भक्ति काव्य पूर्णरूपेण आनन्द तत्व का समर्थन करता है ।

रीति कवियों में देव ने रस का विस्तार-भेद अधिक किया है। उन्होंने रस के दो भेद किये हैं-- १- अलौकिक, २- लौकिक । रस से उनका तात्पर्य मानसिक आनन्द या अलौकिक आनन्द[१] से नहीं है,अपितु रतिजन्य आनन्द से है । वे रसवाद के सबसे बड़े पृष्ठपोषक थे । देव ने अन्यत्र काव्य[२] की सृष्टि और श्रवण दोनों में ही हृदयोल्लास की स्थिति[३] को अनिवार्य माना है । दास ने भी रस को कविता का प्रधान अंग माना है । उन्होंने प्रीति नामक भाव को भी माना है, परन्तु उसका आधार रुद्रट का प्रेयान् ही है । बिहारी ने रसवाद के शुद्ध मानसिक प्राकृतिक आनन्द की अपेक्षा बौद्धिक आनन्द को ही महत्त्व दिया है । घनानंद और ठाकुर आदि ने तो अपनी रचना ही रसज्ञ नेहियों के लिखी थी । किन्तु इन समस्त कवियों की रसिकता बहिरंग ही थी,अंतरंग नहीं थी । ये भक्त कवियों की भांति आनन्द के सूक्ष्म तत्त्व तक नहीं पहुँच पाये । भक्त कवियों का जो अलौकिक आनन्द था वह रीति कवियों में स्थूल लौकिक आनन्द तक ही सीमित रह गया, यहाँ तक कि वह केवल मात्र मनोरंजन का साधन रह गया । ये कवि राजाओं, महाराजाओं की कामवासना को उत्तेजित करने के लिए रखे जाते थे,इसलिए ये उनके मनोरंजनार्थ ही अपनी कविताएँ करते थे । यही कारण था कि उनमें सूक्ष्मता नहीं आने पाती थी ।

सौन्दर्यबोध की एक विस्तृत परम्परा प्राचीनकाल से भारतीय काव्यशास्त्र के रूप में चली आ रही है । इसका स्पष्ट प्रभाव हिन्दी के मध्यकालीन

---

१ देव : शब्द रसायन--काव्यसार शब्दार्थ को, रस तेहि काव्य सुसार ।

२ कहत लहत उलहत हियो, सुनत सुनत चित प्रीति

३ दास : काव्यनिर्णय ।

साहित्य पर पड़ा है । पूर्वमध्यकाल में धार्मिक प्रभाव से निर्मित काव्य के सौन्दर्यमूलक अध्ययन के लिए अनेक रूपों में इसका आधार लिया गया है । हिन्दी के उत्तरवर्ती मध्यकाल में संस्कृत साहित्य की सौन्दर्यवृत्ति का स्पष्ट प्रभाव परिलक्षित होता है, क्योंकि सौन्दर्य के मूलतत्त्व आनन्द एवं रस का यहाँ अत्यधिक वर्णन हुआ है ।

रीतिकालीन कवियों की सौन्दर्यभावना भी बहिरंग थी, क्योंकि इनकी दृष्टि प्रायः शरीर के सौन्दर्य पर ही अटकी रहती थी, मन के सूक्ष्म सौन्दर्य तक कम ही पहुंच पाती थी । आत्मा का सात्त्विक सौन्दर्य तो उनकी परिधि से बाहर था । बिहारी ने सौन्दर्य के बारीक से बारीक संकेत को पकड़ा है, किन्तु मतिराम, देव, घनानन्द और पद्माकर की सम्पूर्ण चेतना तो रूप का वर्णन करते समय ऐन्द्रिक आनन्द का पान करने की चेष्टा में संलग्न रहती थी ।

मौलिकता की दृष्टि से भक्ति काव्य का भारतीय काव्य-जगत में अपना स्वतन्त्र अस्तित्व है । इस परम्परा का मूल्यांकन संस्कृत काव्य-शास्त्र की शास्त्रीय पद्धति से नहीं किया जा सकता है, क्योंकि इसमें जिन मूल्यों की स्वीकृति मिलती है, संस्कृत काव्यशास्त्र के लिए वे सामान्य हैं । दूसरी ओर संस्कृत के काव्यशास्त्री जिन मूल्यों को काव्य का उच्चतम मूल्य मानते हैं, भक्ति काव्य के लिए वे अतिसामान्य हैं ।

यदि शास्त्रीय शब्दावली में कहा जाये तो कहा जा सकता है कि भक्त कवियों ने संस्कृत काव्यशास्त्रीय सिद्धान्तों के शैलीगत एवं विषयगत मूल्यों को साधनरूप में स्वीकार करके अपने सिद्धान्तों की पुष्टि की है । इस दृष्टि से हिन्दी भक्ति काव्य संस्कृत काव्य एवम् उसकी काव्यशास्त्रीय दृष्टि का गतानुगतिक नहीं है । इसमें स्वतंत्र सिद्धान्त नियोजन की पूर्ण क्षमता है । हां रीतिकाल में ~~किन्हीं~~ किन्हीं नवीन सिद्धान्तों की स्थापना नहीं हुई । प्राचीन सिद्धान्तों के आधार पर ही काव्यरचना हुई । साहित्य-चिन्तन के क्षेत्र में भी

रीतिकाल का विशेष योगदान नहीं है,इसीलिए हिन्दी के भक्तिकालीन साहित्य-चिन्तन में निहित मूल्य दृष्टि को जहाँ अधिक विवेचित किया गया है, वहाँ रीतिकाल का वर्णन संक्षिप्त ही रह गया है ।

-0-

तृतीय अध्याय

-0-

आधुनिक हिन्दी साहित्य चिन्तन का विकास

(क) पाश्चात्य प्रभाव ।

(ख) भारतीय प्रभाव ।

(ग) नवीन दृष्टि ।

-0-

किसी भी देश के साहित्य का विश्लेषण करने से पूर्व उसे कुछ कालखण्डों में विभाजित कर दिया जाता है । ये कालखण्ड एक-दूसरे से भिन्नता रखते हैं तथा यह भिन्नता (बदलाव) जब हमारी आर्थिक-सांस्कृतिक स्थितियों, कलारूपों तथा भाषा में स्पष्टत: दिखायी देने लगती है तब ही नए कालखण्ड का निर्धारण होता है । किसी कालखण्ड का आरम्भ किस समय से तथा समाप्ति किस समय पर होती है, इसे वैज्ञानिक सत्य के रूप में नहीं बताया जा सकता । जब कोई प्रवृत्ति, भाषा या कला रूप प्रमुखता को प्राप्त होते हैं तब उन्हीं के आधार पर उस कालखण्ड का नामकरण कर दिया जाता है ।

हमारे हिन्दी साहित्य-चिन्तन को भी इन्हीं प्रवृत्तियों के आधार पर मुख्यत: चार[1] कालखण्डों में विभाजित किया जाता है । इनमें अंतिम कालखण्ड को आधुनिककाल की संज्ञा से विभूषित किया गया है । आधुनिक शब्द दो अर्थों को सूचना देता है-- १- मध्यकाल[2] से भिन्नता और २- नवीन इहलौकिक दृष्टिकोण । मध्यकालअपनी जड़ता और रूढ़िवादिता के कारण एकरस हो चुका था, किन्तु आधुनिककाल में जीवन की धारा विभिन्न स्रोतों से फूट निकली तथा साहित्य चिन्तन पहली बार मनुष्य के वृहत्तर सुख-दु:ख के साथ जुड़ा । धर्म,दर्शन,साहित्य आदि सभी के प्रति नए दृष्टिकोण का आविर्भाव हुआ । आधुनिक युग के इस परिवर्तन का ही परिणाम है कि साहित्य की भाषा भी बदल गयी-- ब्रजभाषा का स्थान खड़ीबोली ने ले लिया ।

---

१ आदिकाल, भक्तिकाल, रीतिकाल , आधुनिककाल ।

२ मध्यकाल को दो वर्गों में विभाजित किया जाता है--

पूर्वमध्यकाल(भक्तिकाल) तथा उत्तरमध्यकाल (रीतिकाल) ।

आधुनिक कालखण्ड अन्य कालखण्डों की अपेक्षा साहित्य-चिन्तन के क्षेत्र में अधिक समृद्ध है।

साहित्य मानव चेतना की अभिव्यक्ति है तथा चेतना मानव अनुभूति की सघनता तथा चिन्तन की सूक्ष्मता के समन्वित आधार पर ही रूप ग्रहण करती है। साहित्य चिन्तक भी जीवन सत्य का अनुभव कर उसे अपनी भावनाओं के रंग में रंगकर प्रतिपादित करता है। वह साधारण व्यक्ति की अपेक्षा जीवन को अधिक गहराई के साथ देखता है, क्योंकि जीवन के साथ उसका घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित हो चुका होता है।

साहित्य चिन्तक जीवन के साथ ही अपने युग से भी अत्यधिक प्रेरणा ग्रहण करता है, इसीलिए वह जीवन को ज्यों का त्यों प्रतिबिम्बित नहीं कर सक देता। प्रत्येक सृजन इतिहास और जीवन, परिवेश और वातावरण तथा चिन्तन और परम्परा से प्रभावित होता है। जो सृजन इनकी उपेक्षा करता है, समय उसे स्वीकार नहीं करता तथा वह जीवन को कोई महान संदेश भी नहीं दे सकता, क्योंकि बदलते हुए संदर्भों के साथ मूल्य भी बदल जाते हैं। इन संदर्भों में जो अपने को समंजित नहीं कर पाया वह न तो जीवन ही है और न साहित्य ही। परन्तु इसका मतलब यह भी नहीं है कि साहित्य चिन्तक वातावरण की प्रतिक्रिया मात्र ही होता है, वह अपनी अनुभूतियों से वातावरण को प्रभावित भी करता है। किन्तु हम जिस युग में साँस लेते हैं, जिन विचारपद्धतियों, चिन्तनधाराओं और संस्कृतियों के प्रभाव में आते हैं, उनकी छाप अथवा प्रभाव अवश्य ही हमारे ऊपर पड़ता है।

आधुनिक काल में हमारा देश पाश्चात्य शिक्षा, सभ्यता और साहित्य चिन्तन के अत्यधिक निकट आया है, जिससे हमारा साहित्य चिन्तन पाश्चात्य विचारों और भावनाओं से बहुत दूर तक प्रभावित हुआ है। इस काल का आरम्भ सन् १८५७ई० से माना जाता है, जब कि देश में अंग्रेजों का आगमन सन् १७५७ ई० से ही होने लगा था। धीरे-धीरे अंग्रेजों ने भारत पर पूर्णतया अपना प्रभुत्व जमा लिया। ब्रिटिश राज्य की स्थापना के फलस्वरूप भारत की अर्थनीति, शिक्षा-पद्धति तथा यातायात आदि के

साधनों में बुनियादी परिवर्तन हुए । इससे समाज का जो आधुनिकीकरण आरम्भ हुआ, वह पुराने धार्मिक संस्कारों, रीति नीतियों एवं संघटनों के मेल में नहीं था । पाश्चात्य प्रभावों को स्वीकार करते हुए हमारा साहित्य चिन्तन नई दिशाओं की ओर अग्रसर हुआ ।

परन्तु पाश्चात्य प्रभाव से पहले हिन्दी साहित्य चिन्तन का आधार संस्कृत साहित्य शास्त्र था । आज वर्तमान युग में साहित्य चिंतन की दिशा बदल जाने के बावजूद भी (अर्थात् साहित्य के आलोचना सिद्धान्तों एवं मनोविज्ञान पर यूरोप का प्रभाव हो जाने के पश्चात् भी) हिन्दी साहित्य चिन्तन में परम्परागत भारतीय काव्यशास्त्र अत्यधिक विकसित और प्रौढ़ हो गया है । साहित्य विज्ञान के रूप में वह शास्त्रीय रूढ़ियों एवं परम्परागत असंगतियों से मुक्त होकर नये रूप में प्रस्तुत हुआ है,क्योंकि आधुनिक विद्वानों ने अपने ग्रन्थों में भारतीय साहित्य-शास्त्र के विभिन्न पक्षों तथा सिद्धान्तों का विवेचन आधुनिक दृष्टिकोण से प्रस्तुत किया है । अत:भारतीय काव्यशास्त्र भी आज अत्यन्त उन्नत एवं विकसित अवस्था में है ।

सम्पूर्ण आधुनिक हिन्दी साहित्य चिन्तन पर दृष्टिपात करने से मुख्यतया उसके दो पक्ष दृष्टिगोचर होते हैं-- एक भारतीय पक्ष और दूसरा पाश्चात्य पक्ष । भारतीय पक्ष अर्थात् भारतीयता से तो आधुनिक हिन्दी लेखकों का प्रभावित होना स्वभाविक ही है,क्योंकि कोई भी लेखक अपनी संस्कृति और परम्पराओं से प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकता,किन्तु पाश्चात्य प्रभाव लेखकों ने परम्परा से न ग्रहण कर उनकी चिन्तनधाराओं से प्रभावित होकर ग्रहण किया है । पाश्चात्य चिन्तन के साथ आधुनिक हिन्दी लेखकों का सम्पर्क स्वतन्त्रता के पश्चात् अधिक तीव्र गति से हुआ तथा अनुदिन हो रहा है । इस प्रकार आधुनिक हिन्दी साहित्य चिन्तन के विकास में मुख्यत: दो साहित्य चिन्तनों का प्रभाव अत्यधिक पड़ा है--

(१) पाश्चात्य साहित्य चिन्तन

(२) भारतीय साहित्य चिन्तन

परन्तु इन दोनों साहित्य चिन्तनों के अतिरिक्त आधुनिक विद्वानों की रचनाओं में उनकी नवीन दृष्टियाँ भी मिलती हैं,जो किसी भी प्रकार के प्रभावों से रहित है । बौद्धिकता और भौतिक दृष्टिकोण, राजनैतिक जागरूकता, मानववाद, धार्मिकता का विघटन और आस्थाहीनता,व्यक्तिवादी चेतना, प्रयोग का आग्रह, लोकसम्पृक्ति और नए शिल्प प्रयोग इस आधुनिककालीन हिन्दी साहित्य की प्रमुख विशेषतायें हैं ।

(क) पाश्चात्य प्रभाव

आधुनिक हिन्दी साहित्य चिन्तन के विकास में पाश्चात्य प्रभाव के कारण आकस्मिक परिवर्तन हुए हैं । पश्चिम से आने वाले विचारों ने हमारी भारतीय चिन्तनधारा पर इतना शक्तिशाली प्रभाव डाला है कि सम्पूर्ण साहित्यिक ढाँचा ही बदल गया है । वैदिककाल से आज तक हमारे साहित्यिक मूल्यों में सम्भवत: ऐसा आश्चर्यजनक परिवर्तन देखने में नहीं आया जैसा कि पाश्चात्य प्रभाव के कारण दृष्टिगोचर हुआ है । इस पाश्चात्य प्रभाव विशेषत: अंग्रेजी प्रभाव से पहले इस्लामी संस्कृति का प्रभाव भी हिन्दी साहित्य चिन्तन पर पड़ा था, परन्तु न पड़ने के बराबर,क्योंकि उससे हमारे साहित्यिक मूल्यों में किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं आया था, वे ज्यों के त्यों बने रहे थे । वैसे ही हमारे साहित्य स्रष्टाओं को संस्कृत की इतनी समृद्धशालिनी परम्परा प्राप्त थी कि उन्हें मुसलमानों का फारसी साहित्य निष्प्रभ जान पड़ा । इस्लाम प्रभाव के विरुद्ध पाश्चात्य प्रभाव ने हिन्दी साहित्य चिन्तन में अनेक परिवर्तन उपस्थित किए हैं । यह प्रभाव भारत में ऐसे समय में आया जब कि हमारा बौद्धिक विकास बहुत कुछ रूद्ध हो चुका था तथा जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में ह्रासोन्मुखी प्रवृत्तियाँ दृष्टिगोचर हो रही थीं । इन ह्रासोन्मुखी प्रवृत्तियों को नष्ट कर जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में तर्क और बुद्धि को बढ़ावा देने के कारण ही पाश्चात्य प्रभाव अधिक फलीभूत हुआ ।

अंग्रेजों के आने से पहले भारत की राजनीतिक शक्ति का ही केवल ह्रास नहीं हुआ था,वरन् सांस्कृतिक जीवन भी अधोगति की ओर जा

हीन, निष्प्रभ तथा निस्तेज हो गई थी कि वह अपने जातीय गौरव, विचारों, भावों तथा जीवन के मूल्यों को सर्वथा भूल गयी थी । ऐसी स्थिति में अंग्रेजों की शक्तिशालिनी सभ्यता तथा संस्कृति के संस्पर्श से भारतीय जीवन में एक नव-चेतना आई । पाश्चात्य संस्कृति के प्रभाव ने हमारी जर्जरित आस्थाओं को उन्मीलित कर केवल नए भाव, विचार एवं मूल्य ही नहीं दिए, अपितु एक बौद्धिक दृष्टि (जैसा कि पहले भी कहा है) प्रदान कर अपनी लुप्त संस्कृति की आत्मा को नवीन परिस्थितियों में पहचानने का अवसर दिया । समस्त आधुनिक हिन्दी साहित्य-चिन्तन की पृष्ठभूमि में पाश्चात्य संस्कृति एवं साहित्य चिन्तन का इतना शक्तिशाली प्रभाव है कि उसकी हम कदापि अवहेलना नहीं कर सकते ।

यह प्रभाव आधुनिक हिन्दी साहित्य चिन्तन के चारों कालों[१] पर लक्षित होता है, जिसे हम क्रम से विवेचित करेंगे --

भारतेन्दु युग

हिन्दी साहित्य-चिन्तन में आधुनिकता का सूत्रपात १९वीं शताब्दी से माना जाता है । यह शताब्दी भारतवर्ष के इतिहास में केवल राजनीतिक दृष्टि से नहीं, वरन् साहित्यिक दृष्टि से भी अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है। हिन्दी साहित्य चिन्तन का सम्पर्क इसी शताब्दी में पाश्चात्य साहित्य चिन्तन से हुआ था, फलत: उसमें प्राचीनता से पार्थक्य स्पष्टरूप से दृष्टिगोचर होने लगा था, इसीलिए भारतेन्दु युग में हिन्दी साहित्य चिन्तन रूढ़िग्रस्त मार्ग छोड़

---

१ भारतेन्दु युग, द्विवेदी युग, शुक्ल युग, शुक्लोत्तर युग
(शुक्लोत्तर युग की काल सीमा बहुत अधिक है-- इसके प्रारम्भिक साहित्य-चिन्तकों एवं अन्तिम चरण के साहित्य चिन्तकों के विचारों में बहुत अन्तर है-- इसलिए इस युग के अन्तिम चरण को नवलेखन काल भी कहा जा सकता है ।)

गतिशील हुआ, पुरातत्त्व को साथ लेकर उसमें नवीनता तथा आधुनिकता का जन्म हुआ । यह क्रम खड़ी बोली गद्य के माध्यम द्वारा भारतेन्दु के जन्म (१८५०ई०) से पहले प्रारम्भ हो गया था, किन्तु सर्वांगीण विकास भारतेन्दु काल में हुआ । पाश्चात्य विचारधारा से प्रभावित होने के फलस्वरूप इस युग के शिक्षित और सुहृद् समाज को ब्रजभाषा साहित्य का शृंगारपूर्ण तथा रीतिबद्ध आदर्श खटकने लगा था । कवियों ने अब देशभक्ति, लोकहित, समाज-सुधार, मातृभाषोद्धार, स्वतन्त्रता आदि की वाणी सुनायी ।

इस समय हम पश्चिम की नवीन जीवन-प्रणाली के प्रकाश की ओर आकर्षित हो रहे थे, अत: ऐसे में किसी ऐसी प्रतिभा की आवश्यकता थी जो प्राचीनता की पृष्ठभूमि में खड़े होकर नवीनता का स्वागत कर सकती तथा प्राचीन जीवन मूल्यों को नवीन भावों के साथ जोड़कर अपने विचारों के माध्यम से व्यक्त कर सकती । भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ऐसे ही प्रतिभासम्पन्न व्यक्तित्त्व के मालिक थे । उनके नेतृत्व में लेखकों ने वास्तविक भारतीय संस्कृति की स्थापना करनी चाही । भारतेन्दु एवं उनके समकालीन प्रतापनारायण मिश्र बालकृष्ण भट्ट प्रभृति विद्वानों ने अपने कुछ लेखों एवं पुस्तकों से साहित्य - सिद्धान्तों का विवेचन करते हुए हिन्दी साहित्य चिन्तन में एक नवीन परम्परा का सूत्रपात किया । ये साहित्य-चिन्तक प्राच्य और पाश्चात्य साहित्य के समन्वय के समर्थक थे तथा पाश्चात्य सिद्धान्तों के साथ भारतीय परम्परा का ज्ञान रक्षण भी आवश्यक मानते थे ।

भारतेन्दु जी ने हिन्दी साहित्य चिन्तन में जिस नवीनता को जन्म दिया, उसने आगे चलकर देश की मानसिक प्रगति और उसके भावी प्रशस्त जीवन की आधार शिला का निर्माण किया ।

भारतेन्दु युगीन हिन्दी साहित्य चिन्तन रोमांसवादी सिद्धान्तों से प्रभावित हुआ है । इस युग में हिन्दी साहित्य चिन्तन में रोमांसवादी साहित्य की भूमिका के रूप में रोमांसवादी सिद्धान्तों की प्रतिष्ठा हुई । अत: अनुमानत: प्रसिद्ध रोमांसवादी वर्ड्सवर्थ के इस सिद्धान्त से प्रभावित

होकर कि गद्य और पद्य की भाषा में कोई अन्तर नहीं है, हिन्दी काव्य में खड़ी बोली का आन्दोलन खड़ा हो गया । इस आन्दोलन का नेतृत्व अयोध्या-प्रसाद खत्री ने किया ।

इस युग का प्रि साहित्य चिन्तन अपनी प्रारम्भिक अवस्था में था, उसका विकास नहीं हुआ था, इसलिए साहित्यचिन्तकों ने यद्यपि पाश्चात्य सभ्यता, संस्कृति एवं चिन्तन से प्रभावित होकर सर्जन तो किया तथापि वे पाश्चात्य सिद्धान्तों की गहराई तक नहीं पहुँच पाये । चिन्तकों ने साधारण जन-जीवन को महत्त्व दिया तथा समाज की उन्नति की आकांक्षा की ।मानव को भी इन्होंने महत्त्व दिया है तथा उपयोगितावादी साहित्य को ही श्रेष्ठ कहा है ।

भारतेन्दु युग के साहित्य-चिन्तन की अपेक्षा साहित्यिक विधाओं ने पाश्चात्य प्रभाव अधिक मात्रा में ग्रहण किया है, परिणामस्वरूप हिन्दी में उपन्यास,नाटक,समीक्षा आदि की परम्परा का सूत्रपात हुआ ।

भारतेन्दु समन्वयवादी प्रवृत्ति के लेखक थे । उन्होंने पाश्चात्य सिद्धान्तों तथा भारतीय सिद्धान्तों के समन्वय की ही बात की है । इसप्रकार अन्य चिन्तकों ने भी समन्वय पर बल दिया है ।

भारतेन्दु की मृत्यु के पश्चात् कुछ काल तक साहित्य चिन्तन के क्षेत्र में गत्यावरोध अवश्य उत्पन्न हो गया था, किन्तु द्विवेदी के आविर्भाव से फिर से गति आ गई ।

द्विवेदी युग

पाश्चात्य तथा भारतीय भावों एवं विचारों के प्रभावस्वरूप उत्पन्न रस ने द्विवेदी युगीन साहित्य चिन्तन को समृद्ध कर दिया ।ब

द्विवेदी युग में साहित्यकाश पर कई जाज्वल्यमान नक्षत्र प्रकाशित हो उठे,जिनमें आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी, डॉ० श्यामसुन्दरदास तथा आचार्य रामचन्द्र शुक्ल मुख्य चिन्तक हैं । द्विवेदी जी के नाम पर तो इस काल का नामकरण ही किया गया है, उन्होंने हिन्दी भाषा की त्रुटियों को

दूर कर उसे परिमार्जित किया । डॉ० श्यामसुन्दर दास ने भी साहित्य चिन्तन की प्रगति में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया । आचार्य शुक्ल का आगमन तो इस काल में हो गया था किन्तु उनकी अनूठी प्रतिभा का चमत्कार हमें शुक्ल युग में ही दिखाई देता है, अतः शुक्ल पर पड़े प्रभाव का विवेचन शुक्ल युग के अन्तर्गत किया जायेगा ।

इस युग के लेखकों ने भी अपने मौलिक विचारों का प्रदर्शन करने के साथ बाह्य प्रभावों को भी प्रचुर मात्रा में ग्रहण किया । द्विवेदी युग में पाश्चात्य साहित्य चिन्तन के साथ हिन्दी साहित्य चिन्तन का सम्पर्क अधिक बढ़ गया था,क्योंकि विविध प्रकार के वैज्ञानिक आविष्कार इस सम्पर्क को बढ़ाने में कार्यरत थे । शेक्सपियर, पोप, बायरन, वर्ड्सवर्थ, कीट्स आदि की रचनाओं का अध्ययन एवं उनके रूपान्तर प्रचुर मात्रा में हुए । इनके अतिरिक्त कुछ रूसी विचारकों (टालस्टाय तथा रस्किन आदि) के विचार भी आए । इन सबने मिलकर हिन्दी साहित्य चिन्तन के परिवेश में महत्त्वपूर्ण परिवर्तनों को प्रश्रय दिया । काव्य एवं गद्य के विविध रूपों तथा विषय आदि में नवीनता का संचार हुआ, साहित्य चिन्तन में एक नवीन दृष्टिकोण का उदय हुआ ।इसी दृष्टिकोण के परिणामस्वरूप साहित्य चिन्तन के क्षेत्र में एक ऐसे वाद का जन्म हुआ, जिसने काव्य में एक अभूतपूर्व कलात्मक एवं दार्शनिक आन्दोलन की नींव डाली वह वाद था स्वच्छन्दतावाद । मात्र काव्य में ही परिवर्तन उपस्थित नहीं हुए,अपितु सम्पूर्ण साहित्य चिन्तन में भी नवीन विचारों का पूरा संचार मिलता है । गद्य और पद्य दोनों ही क्षेत्रों में पश्चिम से गृहीत 'कला कला के लिए' जैसे वादों का प्रचार होने लगा । इस नवीन प्रचार के लिए वातावरण तथा परिस्थितियाँ अनुकूल थीं तथा आधुनिकता ने भी इसका पूर्णतः पोषण किया ।

अब हम, आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी तथा डॉ०श्यामसुंदर दास इस पाश्चात्य साहित्य चिन्तन से कहाँ तक प्रभावित हुए हैं, इस पर विचार करेंगे —

आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी की आलोचना दृष्टि के निर्माण में पाश्चात्य साहित्य चिन्तन का पर्याप्त प्रभाव पड़ा है, जो कि स्वाभाविक भी था, परन्तु उन्होंने इस प्रभाव को अपने व्यक्तित्व में आत्मसात् सा कर लिया है। अंग्रेज कवियों और लेखकों का आधार द्विवेदी जी ने अपनी मान्यताओं की पुष्टि के लिए लिया। उन्होंने बेकन विचार रत्नावली, शिक्षा और स्वाधीनता नाम से क्रमश: बेकन, स्पेंसर तथा मिल की कृतियों का अनुवाद भी किया था।

द्विवेदी जी ने अपने साहित्य सम्बन्धी मत में विशेषत: काव्य के सम्बन्ध में बहुत सी बातें वर्ड्सवर्थ के लिरिकलबैलेड्स की भूमिका के आधार पर कहीं। परोक्षरूप में उन्होंने वर्डसवर्थ के काव्यसिद्धांतों से प्रेरणा प्राप्त की थी। इसीलिए वर्ड्सवर्थ के लिरिकल बैलेड्स की भूमिका में दिए हुए काव्यसिद्धान्त के अनुरूप ही उन्होंने गद्य और पद्य की भाषा के एक होने, छोटे से छोटे विषयों पर काव्य रचना करने तथा काव्य को अनुभूति प्रधान बनाने की बात कही। वैसे भी रोमांसवादी आलोचना के सिद्धान्तों का प्रभाव कतिपय आधुनिक हिन्दी आलोचकों पर गहरा पड़ा है। द्विवेदी जी भी रसज्ञ रंजन के निबन्धों में रोमांटिक साहित्यशास्त्र के सिद्धान्तों से काफी हद तक प्रभावित हुए[1]। उन्होंने लिखा है कि 'गद्य और पद्य की भाषा पृथक-पृथक् नहीं होनी चाहिए ..... यह निश्चित है कि किसी समय बोलचाल की हिन्दी भाषा, ब्रजभाषा की कविता के स्थान को अवश्य छीन लेगी[2]।' क्योंकि उस समय काव्य की भाषा ब्रजभाषा थी तथा गद्य की भाषा खड़ी बोली। द्विवेदी जी ने वर्ड्सवर्थ के सिद्धान्त के आधार पर व्यावहारिक रूप से काव्य की भाषा तथा बोलचाल की भाषा में स्थापित अन्तर को मिटाने का भरसक प्रयत्न किया --'मतलब यह कि भाषा बोलचाल की हो, क्योंकि कविता की भाषा से बोल-चाल की भाषा जितनी ही अधिक दूर जा पड़ती है, उतनी ही उसकी सादगी

---

१ महावीर प्रसाद द्विवेदी : 'रसज्ञ रंजन', पृ०सं० ६३-१०० ।

२ वही, पृ०सं० ७ ।

कम हो जाती है[1]। इस प्रयत्न का सुफल यह हुआ कि खड़ी बोली को तो अवश्य काव्यभाषा के रूप में स्वीकृति मिल गई, किन्तु बोलचाल की गद्य से अभिन्न भाषा काव्यभाषा नहीं बन सकी। वर्ड्सवर्थ से द्विवेदी जी अत्यधिक प्रभावित थे, इसीलिए उसी की भाँति वह भी यह मानते थे कि साधारण जीवन की स्थितियाँ तथा घटनाएँ भी काव्य का उपयुक्त विषय बन सकती हैं। वर्ड्सवर्थ के ही अनुरूप उन्होंने प्रकृति तथा मानव को काव्य का मुख्य विषय बनाया, संसार के छोटे से छोटे सजीव एवं निर्जीव पदार्थ को भी कविता निर्माण के लिए उपयोगी समझा तथा कल्पना को काव्य का आवश्यक गुण माना--"प्रकृति पर्यालोचन के सिवा कवि को मानव स्वभाव की आलोचना का भी अभ्यास करना चाहिए[2]।" प्रत्येक कवि को प्रकृति एवं मानव स्वभाव का पर्याप्त ज्ञान होना चाहिए, इन दोनों क्षेत्रों में सफलता प्राप्त करने वाला कवि ही सफल कवि है। द्विवेदी जी सहज स्वाभाविक कविता को ही अधिक आह्लादकारक समझते थे, क्योंकि उनके विचार से बलात् ही किसी अर्थ को लाने की अपेक्षा सहजतया जो अर्थ आ जाये उसी को पद्यबद्ध कर देना अधिक आह्लादकारक होता है। यहाँ पर भी वे वर्ड्सवर्थ से ही प्रभावित दिखाई देते हैं। आह्लाद के माध्यम से प्राप्त होने वाली शिक्षा को ही वे काव्य का चरम लक्ष्य मानते थे। वैसे भी वर्तमान समय में प्रायः प्रत्येक विद्वान्, आलोचक पाश्चात्य साहित्यशास्त्र से उद्धरण प्रस्तुत करता है। वह साहित्य की आत्मा तथा स्वरूप पर विचार करते समय भारतीय तथा पाश्चात्य सिद्धान्तों का हवाला देता है। यही कारण है कि अलंकार और गुण आदि तत्त्वों पर विचार करने के साथ ही कल्पना और शैली तत्त्वों पर भी विचार किया जाने लगा है। डॉ० श्यामसुन्दरदास के शैली या रीति के लक्षण पर पाश्चात्य काव्यशास्त्र का प्रभाव है। उनका दृष्टिकोण समन्वयात्मक था,

---

१ महावीर प्रसाद द्विवेदी : 'रसज्ञ रंजन', पृ० सं०४६।

२ वही, पृ०सं० ४२।

इसीलिए काव्य में बुद्धितत्त्व तथा भावतत्त्व को मुख्य मानते हुए भी शैली को काव्य का आवश्यक अंग मानने में वे किसी प्रकार की आपत्ति प्रकट नहीं करते। उनकी आलोचना और शैली विषयक मान्यताएँ बहुत कुछ हडसन के आधार पर की गई है । पाश्चात्य विद्वानों में दास जी हडसन से अधिक प्रभावित रहे हैं, क्योंकि उन्होंने पश्चिमी नाटकों के विषय में जो कुछ कहा है, उसका मूलाधार हडसन हैं । इसके अतिरिक्त उनके साहित्यालोचन में तो[1] कला, कविता, साहित्य, उपन्यास, कहानी, निबन्ध आदि का विवेचन भी हडसन और वर्संफोल्ड की मान्यताओं के आधार पर ही हुआ है ।

शुक्ल युग

शुक्ल युगीन चिन्तकों ने नवीन प्रयोगों की हिमायत की तथा द्विवेदी युग से भिन्न ढंग का साहित्य चिन्तन किया । इस युग में महात्मा गांधी का नेतृत्व जनता को सत्य और अहिंसा के माध्यम से स्वतन्त्रता प्राप्ति के लिए निरन्तर प्रेरणा एवं शक्ति व प्रदान कर रहा था । पश्चिमी सभ्यता और संस्कृति के प्रभावस्वरूप भी युग के सामाजिक जीवन में परिवर्तन आ गया था । युवावर्ग परम्परागत रीतिरिवाजों को तोड़कर पश्चिमी राष्ट्रों के नागरिकों के समान जीवनयापन को लालायित था । समाज में इस प्रकार के परिवर्तनों के फलस्वरूप साहित्य चिन्तन में भी परिवर्तन आना अवश्यम्भावी था ।

इस काल की कविता के दो छोर हैं-- जिस प्रकार उसके लिए आध्यात्मिक तथा भौतिक सत्य है, उसी प्रकार वह व्यक्ति तथा सामाजिकता की स्थितियों का भी स्पर्श करती है तथा दोनों में समन्वय स्थापित करने का प्रयास करती है । शुक्ल युग में साहित्य की लगभग सभी विधाओं का विकास हुआ है । इन विधाओं के माध्यम से लेखकों ने जहाँ अपनी अनूठी मौलिकता का प्रदर्शन किया है, वहाँ वे अपने ऊपर पड़े बाह्य प्रभाव को भी छुपा नहीं पाये हैं । इस युग का सबसे विराट् और कटु सत्य था--बाहरी

शक्ति अर्थात् ब्रिटिश साम्राज्यवादी सत्ता का प्रभाव । देश की आम जनता तथा साहित्यिक वर्ग जहाँ विदेशियों की दासता से मुक्त होने के लिए उनके विरुद्ध आंदोलनरत था, वहाँ वह पाश्चात्यों के प्रौढ़ साहित्यिक चिन्तन से भी प्रभावित हुए बिना न रह सका था । नवीन शिक्षा पद्धति, अंग्रेजी के प्रभाव और अंग्रेजी से प्रभावित बंगला साहित्य के सम्पर्क ने व्यक्तिवादी भावना को जगाया, जिससे व्यक्ति का अहम् उद्दीप्त हो उठा । इसीलिए इस युग का साहित्य चिन्तन सामाजिकता से प्रतिबद्ध होने के कारण साथ ही व्यक्तिनिष्ठ भी है । व्यक्ति मात्र से सम्बन्धित व्यक्तिवाद शब्द अंग्रेजी के इंडिविज्युलिज्म शब्द का समानार्थक है । इसमें व्यक्ति का स्वतंत्र अस्तित्व समाज के पूर्व स्वीकार किया गया है । वह स्वयं अपना निर्णायक, नियन्त्रक और उत्तरदायी है[1] । व्यक्तिस्वातन्त्र्य की घोषणा के सर्वप्रथम महत्त्वपूर्ण प्रयास अमेरिका के स्वातन्त्र्य संग्राम(१७७६-१७८३ई०) और फ्रांस की राज्यक्रांति (१७८९ई०) में हुए । इसका प्रभाव सभी देशों पर पड़ा । स्वतन्त्रता की यही आवाज ब्रिटिश शासन के खिलाफ भारत में भी बुलन्द हुई तथा अंग्रेजी साम्राज्य के खिलाफ चलने वाले राष्ट्रीय आन्दोलन ने ही भारत में व्यक्तिवाद का सूत्रपात किया[2] । आधुनिक अर्थों में व्यक्तिवाद पश्चिम की देन है, जिसने प्रायः सभी देशों के साहित्य चिन्तन में स्थान बना लिया है । हिन्दी के शुक्लयुगीन साहित्य चिन्तनपर इसका जबर्दस्त प्रभाव लक्षित किया जा सकता है । प्रसाद, पंत, निराला, महादेवी वर्मा आदि की मूल चेतना व्यक्तिवादी है । जैनेन्द्र और अज्ञेय आदि लेखकों में भी यह व्यक्तिवाद अधिक उभरा है ।

युग के लगभग सभी चिन्तकों ने युगजीवन को वाणी प्रदान करने का भरसक प्रयत्न किया है । शुक्लयुग में हिन्दी साहित्य चिन्तन के क्षेत्र में महान विभूतियों की कला का उदय एवं विकास हुआ है,जिनमें रामचन्द्र शुक्ल,

---

१ ईन्साइक्लोपीडिया ब्रिटानिका, वॉल्यूम १२,पृ०सं०२५६ ।

२ डॉ०बलभद्र तिवारी : 'आधुनिक साहित्य की व्यक्तिवादी भूमिका',पृ०सं०३१।

जयशंकर प्रसाद, सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला', सुमित्रानन्दन पंत, महादेवी वर्मा, डॉ० रामकुमार वर्मा, प्रेमचन्द आदि आते हैं। इन साहित्य चिन्तकों ने हिन्दी साहित्य को शुक्ल युग में ही विपुल सामग्री प्रदान नहीं की, अपितु साहित्य चिन्तन के स्तर ~~एए~~ को अपनी रचनाओं द्वारा शुक्लोत्तर युग में भी अनुदिन विकसित किया है। ये चिन्तक अपनी कृतियों के माध्यम से साहित्य पर चिन्तन, मनन करते हुए पाश्चात्य प्रभाव से कहाँ तक प्रभावित हुए हैं, इसका हम क्रमश: विवेचन करेंगे --

हिन्दी साहित्य के गद्य क्षेत्र में अपनी प्रतिमा का अद्भुत चमत्कार दिखानेवाले आचार्य शुक्ल को हम आधुनिक हिन्दी साहित्य चिन्तकों में सर्वप्रथम सशक्त एवं समर्थ चिन्तक कह सकते हैं। हिन्दी के प्रतिभाशाली लेखक एवं आलोचक होने के नाते शुक्ल जी ने जिस प्रकार अपने प्राचीन साहित्य अर्थात् संस्कृत साहित्यशास्त्र का अध्ययन किया था, उसी प्रकार अंग्रेजी साहित्यशास्त्र का भी गहन अध्ययन किया था, इसीलिए उनकी समीक्षा में पाश्चात्य एवं भारतीय तत्त्वों का सुन्दर समन्वय हुआ है, किन्तु इसका तात्पर्य यह भी नहीं है कि वे पाश्चात्य समीक्षा के सिद्धान्तों को अपनाने के पक्ष में थे। वास्तव में वे भारतीयता के समर्थक थे तथा साहित्य में भी भारतीय मानदण्डों की ही स्थापना भी करना चाहते थे। अत: उन्होंने संस्कृत आलोचना के एक ऐसे सम्प्रदाय पर विचार करना आरम्भ किया जो पाश्चात्य आलोचना के सिद्धान्तों के सम्मुख खड़ा रह सकता था तथा नवीन वैज्ञानिक दृष्टिकोण की तुष्टि भी कर सकता था। यह सम्प्रदाय था-- रस सम्प्रदाय। अत: शुक्ल जी ने पाश्चात्य आलोचना शास्त्र के उन्हीं सिद्धान्तों को स्वीकार किया, जिनसे रस सिद्धान्त का समर्थन होता है। एबरक्राम्बी का प्रेषणीयता का सिद्धान्त एडिसन और कॉलरिज का भावप्रेरित कल्पनावाद तथा रिचर्ड्स का सामान्यीकृत अनुभूतिवाद एवं कल्पनात्मक अनुभूतिवाद आचार्य शुक्ल के रस सिद्धान्त के मेल में पड़ते हैं।

सर्वप्रथम हम देखते हैं कि शुक्ल पर यूनान के प्रसिद्ध विचारक अरस्तू के विरेचन सिद्धान्त का प्रभाव ~~कपकप~~ काफी मात्रा में पड़ा है। अरस्तू ने अपनी विद्वता द्वारा अनेक परवर्ती एवं आधुनिक पाश्चात्य एवं पौर्वात्य

आलोचकों का मार्ग प्रशस्त किया, जिनमें पौर्वात्य रामचन्द्र शुक्ल और पाश्चात्य आई०ए० रिचर्ड्स भी आते हैं । अरस्तू के विरेचन सिद्धान्त, रिचर्ड्स के अन्तर्वृत्तियों के सामंजस्य और शुक्ल द्वारा प्रतिपादित हृदय की मुक्तावस्था में कोई अन्तर नहीं है । इसी अन्तर के न होने एवं विचारों में समानता होने के कारण पाश्चात्य आलोचकों में से आई०ए० रिचर्ड्स शुक्ल जी के प्रिय समीक्षकों में है ।

शुक्ल जी को रिचर्ड्स के रूप में अपने सिद्धान्तों का प्रबल समर्थक दिखलाई पड़ा था । दोनों आलोचकों की बहुत सी मान्यताएँ एक सी हैं जैसे शुक्ल जी जीवन के अनुभवों से काव्य का सम्बन्ध मानते हैं न कि ज्ञानातीत अथवा आध्यात्मिक अनुभवों से ऐसा ही रिचर्ड्स का मत है, क्योंकि वे एस्थेटिक[१] अनुभव को जीवन के वास्तविक अनुभव से पृथक् बताना एक भूल मानते हैं ।

रिचर्ड्स ने ब्रैडले के कलावादी दृष्टिकोण का विरोध किया था । वे काव्यकला को जीवन से पृथक अपने में पूर्ण नहीं मानते थे । शुक्ल जी भी काव्यगत मूल्यों की उच्चता जीवन की मर्यादा में ही देखते थे तथा कला को मानव जीवन पर सीधा अवलम्बित सिद्ध करते थे, इसीलिए उन्होंने क्लाइव बेल, ब्रैडले और ऑस्कर वाइल्ड का विरोध किया है[२] ।

रिचर्ड्स और शुक्ल दोनों ही कवि की अनुभूतियों तथा उसके अनुभव को काव्य का उपकरण मानते हैं । रिचर्ड्स के अनुसार एस्थेटिक अनुभव में विविध प्रेरणाओं का सन्तुलन हो जाता है[३] । शुक्ल जी भी काव्य का मूल्य इन्हीं प्रेरणाओं के सामंजस्य में मानते हैं[४] । शुक्ल जी

---

१ रिचर्ड्स : `प्रिंसिपल्स ऑफ लिटरेरी क्रिटिसिज़्म', पृ०सं०७६ ।

२ शुक्ल : `चिन्तामणि', भाग२, पृ०सं०१०७, १८५, १६२ ।

३ रिचर्ड्स : `प्रिंसिपल्स ऑफ लिट्रेरी क्रिटिसिज़्म', पृ०सं० ५७ ।

४ शुक्ल : `चिन्तामणि', भाग२(काव्य में रहस्यवाद--लेख), पृ०सं०५५-५६ ।

काव्य में निवेदनीयता अर्थात् अपनी अनुभूति को दूसरे तक पहुँचाने की बात पर अत्यधिक बल देते हैं तथा मानते हैं कि प्रत्येक कवि अपने भावों को पाठकों तक पहुँचाना चाहता है तथा यही उसकी कला का लक्ष्य होता है[1]। अपने इस मत की प्रौढ़ता के लिए भी शुक्ल जी रिचर्ड्स का उद्धरण देते हैं[2]। रिचर्ड्स के अतिरिक्त शुक्ल जी कुछ अन्य रचनाकारों से भी प्रभावित हुए हैं। वर्ड्सवर्थ और शैली के प्रकृति-चित्रण के माध्यम से किये गये रहस्यवादी संकेतों का उन्होंने खूब स्तवन किया है-- सिद्धान्ती या साम्प्रदायिक रहस्यवादियों के अतिरिक्त यूरोप के प्रसिद्ध कवियों में भी बहुत से ऐसे कवि हुए हैं, जिनकी कुछ रचनाओं के बीच-बीच में बड़ी सुन्दर स्वाभाविक रहस्यभावना पाई जाती है। वर्ड्सवर्थ और शैली इसी प्रकार के कवि थे[3]।

प्रवृत्तिगत समानताओं की दृष्टि से शुक्ल जी मैथ्यू आर्नल्ड के अधिक निकट हैं। वैसे भी दोनों आलोचक नीतिवादी और आदर्शवादी हैं। शुक्ल ने एफ०एस० फ्लिन्ट (F. S. FLINT) के इमेजिज्म (IMAGISM) का भी आंशिक समर्थन किया है। वे कहते हैं --`इनके (फ्लिंट के) सिद्धान्त में सत्य का बहुत कुछ आधार था। पर ये उसे बहुत दूर तक घसीट ले गये[4]।`

इन समस्त चिन्तकों के अतिरिक्त रामचन्द्र शुक्ल पर क्रोचे के अभिव्यंजनावाद का प्रभाव भी पड़ा है, परन्तु ऐसा प्रभाव नहीं जैसा कि उपरिलिखित चिन्तकों के कथनों या सिद्धान्तों का पड़ा था। शुक्ल ने क्रोचे के अभिव्यंजनावाद की छाप अपनी रचनाओं पर किंचित् भी नहीं पड़ने दी, अपितु उसपर कठोर प्रहार ही किये तथा उसे हिन्दी आलोचकों एवं कवियों में पाई जाने वाली अनेक न्यूनताओं का दोषी ठहराया। शुक्ल तो क्रोचे से इसलिए

----

१ शुक्ल : चिन्तामणि, भाग२ (काव्य में रहस्यवाद--लेख), पृ०सं०१२२-१२३।

२ रिचर्ड्स : प्रिंसिपल्स ऑफ लिट्रेरी क्रिटिसिज्म, पृ०सं०२५।

३ शुक्ल : चिन्तामणि, भाग२, पृ०सं० १३१।

४ शुक्ल : रसमीमांसा, पृ०सं० ३२६।

प्रभावित हुए थे, क्योंकि उन्हें क्रोचे के अभिव्यंजनावाद में प्राचीन भारतीय आचार्य कुन्तक के वक्रोक्तिवाद की झलक दिखाई दी थी और उन्होंने इस अभिव्यंजनावाद को वक्रोक्तिवाद का ही यूरोपीय संस्करण मात्र समझा । वे लिखते हैं--`क्रोचे का अभिव्यंजनावाद सच पूछिए तो एक प्रकार का वक्रोक्तिवाद है ।`[1] अभिव्यंजनावाद और वक्रोक्तिवाद को इतना अधिक समीप समझकर शुक्ल ने क्रोचे के समस्त कला-सिद्धान्त को ही उल्टा रूप दे दिया । शुक्ल के काव्य में `अभिव्यंजनावाद` शीर्षक[2] निबन्ध के पश्चात् ह हिन्दी साहित्य के मर्मज्ञ विभिन्न विद्वानों ने क्रोचे के सिद्धान्तों को लेकर अपने-अपने विचार व्यक्त किए हैं, परन्तु सभी ने वक्रोक्तिवाद और अभिव्यंजनावाद की असमानताएँ ही प्रतिपादित की हैं, वास्तव में है भी ऐसा ही ।

प्रेमचन्द का सम्पूर्ण चिन्तन सामाजिक उन्नति के उपाय खोजता है । वे मार्क्सवादी विचारकों-- चेखव्,दास्तोएवस्की, टॉलस्टाय और गोर्की आदि के विचारों से अत्यधिक प्रभावित थे, इसीलिए उन्होंने साधारण जन जीवन की उन्नति की आवश्यकता का अनुभव किया । पूँजीपति वर्ग द्वारा निम्न वर्ग का शोषण दिखाकर वास्तव में उन्होंने अपने ऊपर पड़े हुए मार्क्सवादी प्रभाव को ही प्रकट किया है । उनके सम्पूर्ण चिन्तन में सामाजिक मूल्यों की ही प्रधानता दृष्टिगोचर होती है । प्रेमचन्द[3] पाश्चात्य साहित्य चिन्तन के वैचारिक स्तर से ही भी अत्यधिक प्रभावित थे तथा हिन्दी साहित्य चिन्तन के वैचारिक स्तर को ऊँचा उठाने के प्रयत्न में सदैव लगे रहते थे । उन्होंने बहुत से पाश्चात्य लेखकों की कृतियों का अनुवाद भी किया है ।

जयशंकर प्रसाद, सूर्यकान्त त्रिपाठी `निराला`, सुमित्रानंदन पंत, महादेवी वर्मा और डॉ० रामकुमार वर्मा अंग्रेजी के वर्ड्सवर्थ, कॉलरिज और

---

१ शुक्ल : चिन्तामणि, भाग२, पृ०सं० १६२ ।

२ डॉ० नगेन्द्र ; आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी ।

३ प्रेमचन्द : कुछ विचार , पृ०सं०२७ ।

शैली की भाँति कवि होने के साथ-साथ आलोचक भी हैं, अत: उनके काव्य के साथ उनका आलोचना साहित्य भी महत्त्व का है । इनके(रचनाकारों) काव्य और आलोचना दोनों पर हो पाश्चात्य स्वच्छन्दतावादी प्रवृत्ति का पर्याप्त प्रभाव पड़ा है,जिसके माध्यम से ये व्यक्तिवाद की ओर आकृष्ट हुए हैं । निराला जी द्वारा विरचित राम की शक्ति पूजा और तुलसीदास जैसी सर्जनाओं में तथा पंत द्वारा छाया से किए गए प्रश्न पर उसी स्वच्छन्दतावादी प्रवृत्ति का प्रभाव लक्षित होता है । इन चिन्तकों में सामूहिकता के विरुद्ध वैयक्तिकता, रूढ़िवादिता के विरुद्ध स्वच्छन्दता, स्थूल के प्रति सूक्ष्म, इतिवृत्त के विरुद्ध आत्माभिव्यंजना की व्यापक प्रतिक्रिया की अभिव्यक्ति हुई है ।

सर्वप्रथम हम जयशंकर को लेते हैं-- उन्होंने साहित्य में आत्माभिव्यक्ति पर विशेष बल दिया है । प्रसाद साहित्य में शास्त्रीय नियमों का अनुसरण आवश्यक नहीं मानते थे,वरन् उसे वैयक्तिक प्रतिभा के प्रकाशन का माध्यम समझते थे --' साहित्य का कोई लक्ष्य विशेष नहीं होता और उसके लिए कोई विधि या निबन्धन नहीं है,क्योंकि साहित्य स्वतन्त्र प्रकृति,सर्वतोगामी प्रतिभा के प्रकाशन का परिणाम है ।'[1] प्रसाद जी का यह साहित्यिक आदर्श अंग्रेजी रोमांसवाद को प्रतिध्वनित करता है । प्रसाद जी की चिन्ताधारा से स्पष्ट है कि उन्हें अनुभूति की प्रधानता ही मान्य है । वे ब कहते हैं कि अनुभूति ही अभिव्यक्ति हो जाती है-- व्यंजना वस्तुत: अनुभूतिमयी प्रतिभा का स्वयं परिणाम है । क्योंकि सुंदर अनुभूति का विकास सौन्दर्यपूर्ण होगा ही । कवि की अनुभूति को उसके परिणाम में हम अभिव्यक्त देखते हैं ।[2] इसमें अनुभूति एवं अभिव्यक्ति में अभिन्न सम्बन्ध दिखाई देता है ।[3] उन्होंने सुन्दर अभिव्यक्ति के पीछे सुन्दर अनुभूति को भी आवश्यक माना है । स्वानुभूति की विवृत्ति और सौन्दर्यमय प्रतीक विधान आदि का जो प्रयोग प्रसाद ने किया है, वह स्वच्छन्दतावादी चेतना का ही प्रभाव है ।

---

१ इन्दु : प्रथम अंक , १९१० ।

२ प्रसाद : 'काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध',पृ०सं०४४ ।

३ वही,पृ०सं० ४५ ।

प्रसाद
वास्तव में भारतीय सिद्धान्तों से इतने अधिक प्रभावित थे कि उन्होंने पाश्चात्य प्रभाव को कभी सीधे ग्रहण नहीं किया । हाँ बंगला से प्रभावित होने के कारण अथवा प्रेरणा लेने के कारण वे पाश्चात्य प्रभाव से बच भी नहीं पाये ।

प्रसाद के पश्चात् निराला,पंत,महादेवी और डॉ० रामकुमार वर्मा आदि ने तो विभिन्न काव्यग्रन्थों की भूमिकाओं द्वारा हिन्दी साहित्य में रोमांसवाद की प्रतिष्ठा की ।[1]

निराला की तीखी एवं उत्तेजक आलोचना शैली यद्यपि ध्वन्सात्मक है तथापि उसमें अंग्रेजी के रोमाण्टिक कवियों का व्यापक और गंभीर अध्ययन स्पष्ट लक्षित होता है । छन्द,भाव और वर्ण्य विषय के सम्बन्ध में निराला ने स्वच्छन्दतावादी दृष्टिकोण ही अपनाया है,इसीलिए उन्होंने सब प्रकार के बन्धनों का तिरस्कार कर दिया ।

निराला के चिन्तन का प्रधान पक्ष उनके सौन्दर्यविषयक विचार हैं । वे कविता में कला-सौष्ठव देखना चाहते हैं । निराला जी छंदों में भाव सौन्दर्य का उद्घाटन करते हैं-- इसीलिए अश्लील कही जाने वाली कविताओं में भी उन्होंने[2] श्लीलता के दर्शन करा दिये हैं -- सूक्ष्म सौन्दर्य की झलक दिखा दी है ।

पंत अपने युग की प्रत्येक महान विभूति के विचारों को परखते हुए आगे बढ़ते रहे हैं । उन्होंने स्वयं इस बात को स्वीकारा है कि उनकी विचारधारा टैगोर,विवेकानन्द,गांधी,मार्क्स और अरविन्द से प्रभावित हुई है[3] ।

----

१ (क) निराला : गीतिका,भूमिका

(ख) पंत : पल्लव,भूमिका

(ग) महादेवी : यामा,दीपशिखा,आधुनिक कवि,भाग१,भूमिका

(घ) डॉ० रामकुमार वर्मा : आधुनिक कवि,भाग३,भूमिका

२ निराला : प्रबन्ध प्रतिमा,पृ०सं०१२३-१६६-१७०।

३ पंत : उत्तरा की भूमिका ।

वे कहते हैं -- संक्षेप में मैंने मार्क्सवाद के लोकसंगठन रूपी व्यापक आदर्शवाद और भारतीय दर्शन के चेतनात्मक उर्ध्व आदर्शवाद का समन्वय करने का प्रयत्न किया है[1]। 'रजत शिखर' नामक अपनी कृति के पात्रों के माध्यम से पंत ने मानव के दुखों के मूल कारणों पर विचार किया है तथा उनके निराकरण के लिए मार्क्स, फ्रायड एवं अरविन्द दर्शन की मान्यताओं के आधार पर तर्क-वितर्क प्रस्तुत करते हुए अन्ततः उर्ध्व चेतना के सिद्धान्त का समर्थन किया है। इसमें कोई संदेह भी नहीं है कि वे मार्क्सवाद ह की उपयोगिता एक व्यापक समतल सिद्धान्त की तरह स्वीकार करते हैं, किन्तु सांस्कृतिक दृष्टिकोण[2] से उसके रक्तक्रान्ति और वर्गयुद्ध के पक्ष को मार्क्स की सीमाएँ मानते हैं। पंत जी साहित्य को मानव के भौतिक, मानसिक, आध्यात्मिक रूप के समन्वयवादी विकास का साधन मानते हैं। उत्तरा, लोकायतन आदि इसी दृष्टिकोण का साहित्य है।

पंत छन्द और भाव का सहज सम्बन्ध मानते[3] हैं, छंदको बंधनस्वरूप नहीं-- कविता प्राणों का[4] संगीत है, छन्द हृत्कम्पन। इन्हीं से मिलते विचार वर्ड्सवर्थ ने भी व्यक्त किए हैं। वे कविता में शब्द और अर्थ का पृथक् अस्तित्व भी नहीं[5] स्वीकार करते। उनका कहना है कि ये भाव की अभिव्यक्ति में ही डूब जाते हैं। अब पंत जी भावुकता से बौद्धिकता की ओर झुकते जा रहे हैं[6]।

इस प्रकार पंत पर मार्क्सवाद एवं स्वच्छन्दतावादी चिन्ताधारा का प्रभाव पड़ा है।

----

१ प्रतीक ३, शरद्, पृ०सं० १००

२ सुमित्रानंदन पंत : गद्यपथ, पर्यालोचन, पृ०सं०८६।

३ पंत : पल्लव (भूमिका), पृ०सं०१२।

४ वर्ड्सवर्थ : लिरिकल बैलेड्स, भूमिका, पृ०सं०२५।

५ पंत : वही, पृ०सं०२०

६ पंत : आधुनिक कवि, भाग२-भूमिका।

महादेवी जी का रहस्यवाद सम्बन्धी विवेचन उनके भारतीय और पाश्चात्य दर्शन के अध्ययन और चिन्तन का परिणाम है। वैसे महादेवी जी पर पाश्चात्य प्रभाव की अपेक्षा भारतीय दर्शन का प्रभाव अधिक पड़ा है। इन कवियों में स्वच्छन्दतावादी दृष्टिकोण, व्यक्तित्व-विश्लेषण, कलात्मक और अभिव्यक्ति-सौष्ठव की खोज होने लगी थी। महादेवी ने भी नये छायावादी काव्य को मानव अनुभूतियों का चित्रण मात्र कहा। उनके अनुसार छायावाद से पहले सृष्टि के बाह्याकार पर इतना अधिक लिखा जा चुका था कि मनुष्य का हृदय अपनी अभिव्यक्ति के लिए रो उठा[1]। इससे इस बात की पुष्टि होती है कि छायावादी कवि आत्मलीन होकर कविता लिखने लगे थे। महादेवो जो में स्वानुभूति की प्रधानता है एवं उनकी चिन्तन शैली सर्वत्र भावात्मक है। महादेवो ने कविता में सत्य, सौन्दर्य और आनन्द का सामंजस्य किया है। इनके विचार से काव्य का आनंद ऐन्द्रिकता की परिस्थितियों का अतिक्रमण करके पूर्ण मंगलमय हो जाता है।

डॉ० रामकुमार वर्मा द्वारा किए गए साहित्य विश्लेषण पर भी पाश्चात्य समालोचना-पद्धति का अधिक प्रभाव है, जो उनकी रचनाओं में देखने को मिलता है[2]। अन्तत: हम कह सकते हैं कि इन चिन्तकों के साहित्य चिन्तन ने जीवन को कल्पनागत अभिव्यक्ति दी, अत: विदेशी चिन्तकों[3] में से इन्होंने अधिकत: वर्ड्सवर्थ, शैली, कीट्स आदि के काव्य से ही प्रेरणा ग्रहण की।

जैनेन्द्र, गुलाबराय, अज्ञेय, नंददुलारे वाजपेयी और नगेन्द्र आदि भी हिन्दी साहित्य के शुक्लयुगीन साहित्य चिन्तकों को अपनी प्रतिभा से प्रभावी बनाने वाले रचनाकारों में आते हैं, परन्तु वास्तव में इनकी अद्भुत साहित्य सर्जन की क्षमता का दर्शन हमें शुक्लोत्तर युग में ही होता है। शुक्लयुग ने इनकी प्रतिभा का परिचय हमें दिया था, परन्तु शुक्लोत्तर युग में इनके प्रौढ़ साहित्य-चिन्तन से हम अवगत हुए। अत: शुक्लोत्तर युग के अन्तर्गत ही इन रचनाकारों को रखते हुए इनके साहित्य-चिन्तन पर पड़े हुए प्रभावों का विवेचन करेंगे।

---

१ महादेवी वर्मा : यामा, तृतीय संस्करण, पृ०सं०१२

२ डॉ० रामकुमार वर्मा : 'साहित्य समालोचना', 'साहित्यशास्त्र' आदि।

३ सुमित्रानंदन पंत : आधुनिक कवि, भाग२, पर्यालोचन, पृ०१२,१३।

शुक्लोत्तर युग

यह युग हिन्दी साहित्य-चिन्तन की सर्वांगीण उन्नति का युग है । इस कालावधि में आनेवाली रचनाओं पर विचार करें तो ज्ञात होता है कि राष्ट्रीयता के सारे रूप कहीं खण्डित रूप में और कहीं संश्लिष्ट रूप में इनमें दिखायी पड़ते हैं । इस काल के आरम्भिक कुछ वर्षों (१६४७ई०तक) का सम्पूर्ण हिन्दी साहित्य चिन्तन प्रत्यक्ष या परोक्षरूप से राष्ट्रीय आन्दोलन से विशेषरूप से प्रभावित हुआ है । सम्पूर्ण भारत देश में अंग्रेजी राज्य की स्थापना होने पर अंग्रेजों द्वारा दी गई यातना के फलस्वरूप भारतीयों द्वारा स्वाधीनता आन्दोलन का आरम्भ और उसके व्यापक प्रसार के कारण ही राष्ट्रीयता का नया स्वरूप आधुनिक काल में उभरा था । इस राष्ट्रीयता का सम्बन्ध देश के स्थूल सुख-दु:ख के साथ ही न था, अपितु राष्ट्र की आत्मा या चेतना की पहचान से भी था । नंददुलारे वाजपेयी के शब्दों में--' इस व्यापक राष्ट्रीय जागृति की झलक में ही हमारा यह साहित्य पनपा और फूला फला है ।'[1]

प्रस्तुत युग के साहित्य-चिन्तन में कहीं व्यक्तिगत अनुभूति का आधिक्य है तो कहीं सामाजिक अनुभूति का । साहित्य चिन्तन की किसी धारा में रोमानी दृष्टि की प्रधानता है तो किसी में बौद्धिक यथार्थवादी दृष्टि की । आधुनिक पाश्चात्य सभ्यता और वैज्ञानिक उन्नति ने भी जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में तर्क और बुद्धि का महत्व बढ़ाया है । तर्क और बुद्धि पर अत्यधिक ज़ोर देने के कारण ही आज के युग में भावुकता, अन्धविश्वास, क किंवदंतियों और परम्परागत रूढ़ियों की स्वीकृति की भावना लगभग समाप्त ही हो गई है । यह बौद्धिक दृष्टिकोण शुक्लोत्तरयुगीन साहित्य-चिन्तन की एक प्रमुख विशेषता है । अज्ञेय, इलाचन्द्र जोशी, यशपाल और डॉ० देवराज की कृतियों में यह बुद्धिवादी दृष्टिकोण अधिक मुखर है । अज्ञेय का शेखर तो बुद्धि को ही एकमात्र सहारा मानता है ।[2] इस प्रकार इस काल का साहित्य

---

१ नंददुलारे वाजपेयी : आधुनिक साहित्य, भूमिका, संवत्२००७वि०, पृ०सं० २१ ।
२ अज्ञेय : शेखर एक जीवनी (पहला भाग), तृतीय संस्करण, १६४६, पृ०सं०१०० ।

चिन्तन भावुकता से बौद्धिकता की ओर अग्रसर हुआ है ।

इस युग में महात्मा गांधी के विचारों का प्रभाव भी आम जनता पर बहुत पड़ा था, परन्तु उभरता हुआ युवावर्ग गांधी जी के अहिंसात्मक विचारों का पालन नहीं करना चाहता था । जगती हुई उग्र चेतना, रूस में स्थापित हुए समाजवाद और अन्य देशों में विकसित कम्युनिज्म के सिद्धान्तों से अप्रभावित न रह सकी, परिणामस्वरूप भारत में भी १९३५ई० के लगभग साम्यवादी या समाजवादी आन्दोलन होने लगे । मार्क्स के क्रांतिकारी विचारों ने विश्व में एक नये दृष्टिकोण को जन्म दिया तथा मार्क्स के विचारों से लगभग सभी देशों का साहित्य-चिन्तन कुछ न कुछ मात्रा में प्रभावित अवश्य हुआ । हमारे देश का हिन्दी साहित्य-चिन्तन भी मार्क्स के प्रभाव से अछूता न रह सका ।

साहित्य में जैसे-जैसे नवीन प्रवृत्तियाँ पनपती हैं, नई अनुभूतियों का चित्रण होता है नई समस्याएँ जन्म लेती हैं, नये जीवन मूल्य विकसित होते हैं, वैसे ही वैसे उनपर विचार व्यक्त करने के लिए साहित्य चिन्तक को नये-नये ढंग अपनाने पड़ते हैं । आलोच्य युग में भी रचनाकारों ने अपने विचारों को विभिन्न ढंगों से चिन्तन द्वारा प्रकट किया है । स्वाधीनता प्राप्ति से पूर्व जहाँ साहित्य चिन्तकों ने राष्ट्रीय चेतना को मुख्य मानते हुए साहित्य में भी उसी पर बल दिया है, वहाँ स्वातन्त्र्योत्तर साहित्य-चिन्तन में नवनिर्माण पर बल दिया गया है । इन दिनों हिन्दी साहित्य-चिन्तन पर पाश्चात्य शिक्षा तथा सभ्यता का प्रभाव अत्यधिक पड़ा है, इसी प्रभाव स्वरूप हमने जीवन में स्वच्छन्दतावादी दृष्टिकोण को भी अपनाया है । हिन्दी साहित्य चिन्तन में व्यक्तिवादी चेतना का पूर्ण विकास भी इस युग में देखने को मिलता है । वर्तमान साहित्य की नई पुरानी सभी विधाओं में व्यक्तिवादी चेतना प्रवाहित है । इस व्यक्तिवादी चेतना के विकास में आधुनिक मनोविज्ञान को वैज्ञानिक रूप में प्रस्तुत करने का श्रेय पाश्चात्य विद्वानों-- फ्रायड, एडलर और युंग को प्राप्त होता है । इन मनोविश्लेषकों के सिद्धान्तों का प्रभाव आलोच्यकालीन साहित्य-चिन्तन पर काफी पड़ा है ।

शुक्लयुग में अपनी प्रतिभा के कौशल दिखाने वाले कुछ

रचनाकार[1] शुक्लोत्तर युग में भी मुक्त नहीं हो गये हैं और न ही उनकी प्रतिभा कुंठित हुई है, अपितु साहित्य-चिन्तकों के क्षेत्र में वे हमेशा सक्रिय सहयोग देते रहे हैं। उनके अतिरिक्त आधुनिक साहित्य-चिन्तकों के क्षेत्र में और भी अगणित साहित्य-चिन्तक हुए हैं, जिनमें सबके विचारों पर यहाँ स्थानाभाव के कारण प्रकाश नहीं डाला जा सकता, हाँ प्रमुख प्रमुख साहित्य-चिन्तकों के विचारों पर पाश्चात्य साहित्य-चिन्तन का प्रभाव कहाँ तक पड़ा है--इसे दिखाने की कोशिश करेंगे। शुक्लयुग के अन्तर्गत जिन साहित्य-चिन्तकों पर पाश्चात्य प्रभाव को दिखाया जा चुका है, उन्हें पुन: यहाँ नहीं लिया जायेगा।

गुलाबराय ने भारतीय तथा पाश्चात्य सिद्धान्तों को बहुत ही सुचारु ढंग से अपनाया। अपनी पुस्तक 'सिद्धान्त और अध्ययन' में ग्रन्थ के उद्देश्य को स्पष्ट करते हुए भी आपने लिखा है--'यह पुस्तक और इसका दूसरा भाग (काव्य के रूप) इस दृष्टि से लिखे गए हैं कि विद्यार्थियों को काव्यांगों, रस, रीति, लक्षणा, व्यंजना, अलंकारों आदि का परिचय हो जाये। .... इसमें पूर्व और पश्चिम के मतों का तुलनात्मक अध्ययन किया गया है।'[2] इस तुलनात्मक अध्ययन द्वारा वे पाश्चात्य और भारतीय सिद्धान्तों के समन्वय का प्रयत्न करते हैं।[3] उन्होंने रीति, गुण-वृत्ति का शैली के अन्तर्गत विवेचन किया है। पाश्चात्य मनोविज्ञान एवं काव्यशास्त्र से उनका घनिष्ठ सम्बन्ध है। इसीलिए काव्य के सम्बन्ध में जहाँ उन्होंने प्राचीन भारतीय तथा आधुनिक हिन्दी के आलोचकों के मतों को उद्धृत किया है, वहीं वे पाश्चात्य साहित्यिकों -- शेक्सपियर, वर्ड्सवर्थ, मिल्टन, कॉलरिज, आर्नल्ड, जॉनसन, हडसन आदि के मतों को भी उद्धृत करते हैं तथा सबका समन्वय करते हुए कहते हैं--'काव्य संसार के प्रति कवि की भावप्रधान मानसिक प्रतिक्रियाओं की कल्पना के ढाँचे में ढली हुई श्रेय की प्रेमरूपा प्रभावोत्पादक अभिव्यक्ति है।'[4]

---

१ निराला ; पंत, महादेवी वर्मा, डॉ० रामकुमार वर्मा आदि।

२ गुलाबराय : 'सिद्धान्त और अध्ययन', प्रस्तावना, पृ०सं०२८।

३ पद्मसिंह शर्मा 'कमलेश' : 'मैं इनसे मिला', पहली किस्त, पृ०सं०८६।

४ गुलाबराय : 'सिद्धान्त और अध्ययन', पृ०सं० ५०।

गुलाबराय ने इसके साथ भी मनोविज्ञान का सहज सम्बन्ध जोड़कर पाश्चात्य विद्वान विलियम जेम्स, मैकडूगल तथा शैंड आदि की मान्यताओं का विवेचन किया है और उनका भारतीय रस सिद्धान्त के साथ तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत करते हुए वे इस निर्णय पर पहुंचे हैं कि भारतीय रस सिद्धान्त की पूरी-पूरी व्याख्या पाश्चात्य मनोविज्ञान के अनुकूल नहीं की जा सकती, क्योंकि मनोविज्ञान का क्षेत्र आत्मविज्ञान के सीमित रूप तक ही रह जाता है, जब कि रस का संबंध आत्मदर्शन के सहज आनन्द के साथ है[1]। गुलाबराय पाश्चात्य मनोविज्ञान से तो प्रभावित दिखायी देते हैं, परन्तु साथ ही भारतीय रस सिद्धान्त को वे मनोविज्ञान से अधिक श्रेष्ठ एवं विस्तृत क्षेत्र वाला मानते हैं[2]। पश्चिमी समीक्षकों के समान गुलाबराय ने काव्य को कला माना है। हीगेल की भाँति वे काव्य की गणना ललित कलाओं से करते हैं। वे कहते हैं -- 'सभी पाश्चात्य विचार हेय नहीं होते हैं और बहुत से विषयों में भारतीय और पाश्चात्य आचार्य एक से हो सकते हैं[3]। काव्य का कलाओं के साथ अध्ययन करना भारतीय संश्लिष्ट दृष्टि के अनुकूल है। गुलाबराय ने अपनी समीक्षाओं में स्थान-स्थान पर फ्रायड, एडलर और युंग तथा अन्य मनोविश्लेषणशास्त्रियों के विचारों का भी विस्तार के साथ उल्लेख किया है।

वाजपेयी जी की दृष्टि भी गुलाबराय की भाँति समन्वयवादी थी, इसीलिए उनकी साहित्यिक मान्यताओं में पाश्चात्य और भारतीय दृष्टियों का समन्वय हो ~~xxxx~~ गया है। कल्पना को काव्य का नियामक तत्व मानना और उसके द्वारा रचित साहित्य को सौन्दर्य-सृष्टि कहना पाश्चात्य दृष्टिकोण की स्वीकृति ही है तथा इसके साथ ही लौकिक या अलौकिक आनन्द की उपलब्धि सृष्टि का उद्देश्य बताना भारतीय रस-सिद्धान्त को मान्यता देना है। वाजपेयी जी साहित्य के सन्दर्भ में पाश्चात्य और भारतीय दृष्टिकोणों का समन्वय ही नहीं

----

१ गुलाबराय : 'सिद्धान्त और अध्ययन', पृ०सं० २८।

२ वही, काव्य और कला शीर्षक लेख।

३ वही, पृ०सं० ३६।

चाहते थे, अपितु प्राचीन और नवीन का भी समन्वय चाहते थे[1]।

वे पाश्चात्य साहित्य के नवीनतम अनुसंधानों से भी उदासीन नहीं हैं,क्योंकि वे जानते हैं --' कुल मिलाकर यूरोप की साहित्य तत्त्व सम्बन्धी जिज्ञासा बड़ी तात्त्विक गहराइयों में पहुँच चुकी है[2]।' अपनी समीक्षा सम्बन्धी मान्यताओं का विवेचन करते समय भी वाजपेयी जी ने पाश्चात्य साहित्य शास्त्र की उपपत्तियों पर ध्यान रखने की बात कही है,क्योंकि बहुत समय से पश्चिमी साहित्य में बुद्धि और भावना के समन्वय तथा काव्य की नैतिकता जैसे प्रश्नों पर विचार हो रहा है, इसलिए वाजपेयी जी कहते हैं --' साहित्य की प्रेषणीयता के सम्बन्ध में साधारणीकरण सम्बन्धी भारतीय धारणा और मत की तुलना तत्सम्बन्धी विदेशी मतों से भी करनी होगी। भाव विनियोग सम्बन्धी व्यंजना या ध्वनि सिद्धान्त भारत की विशेष सम्पत्ति है। इसे हम पश्चिम को भारत की देन के रूप में प्रस्तुत कर सकते हैं। साहित्य में भावना और बुद्धि के समन्वय तथा काव्य की नैतिकता जैसे प्रश्नों पर पाश्चात्य साहित्य शास्त्र बहुत समय से विचार कर रहा है। उसकी उपपत्तियों पर हमें ध्यान रखना होगा[3]।'

वाजपेयी जी ने पश्चिमी काव्यमत के मूल प्रेरक अनुकृतिवाद का विश्लेषण प्लेटो और अरस्तू की विचारधारा के अनुरूप किया है।इसी प्रकार पश्चिमी साहित्य में परम्परा(क्लैसीसिज्म) और स्वच्छन्दता(रोमैंटिसिज्म)संबंधी जिन दो प्रमुख काव्यशैलियों का युग परिस्थिति के अनुकूल जिस रूप में विकास हुआ है उसका मूल विभेद भी स्पष्ट किया है[4]। इस प्रकार जहाँ वाजपेयी जी ने कहीं-कहीं

[illegible] [illegible] [illegible] [illegible], [illegible] और [illegible]

आधुनिक मनोविज्ञान से प्रभावित हैं। आधुनिक मनोविज्ञान को [illegible] [illegible] [illegible] में प्रस्तुत करने का श्रेय फ्रायड, एडलर और युंग को मिलता है। उन्होंने

---

१ नंददुलारे वाजपेयी : राष्ट्रीय साहित्य तथा अन्य निबन्ध, पृ०सं०१०

२ नंददुलारे वाजपेयी : नया साहित्य : नए प्रश्न,पृ०सं० २२।

३ वही, पृ०सं० १३६ ।

४ नन्ददुलारे वाजपेयी : आधुनिक साहित्य, पृ०सं० ४४ ।

पाश्चात्य प्रभाव को ग्रहण किया है, वहीं वे पश्चिम की चार प्रमुख समीक्षापद्धतियों -- मनोवैज्ञानिक, समाजवादी, कला-विज्ञानवादी तथा उपयोगितावादी या नीतिवादी से बचने की बात भी कहते हैं[1]।

व्यक्तिवादी दृष्टिवाले जैनेन्द्र, अज्ञेय और जोशी आधुनिक मनोविज्ञान से प्रभावित हैं। आधुनिक मनोविज्ञान को नवीन रूप(वैज्ञानिक रूप) में प्रस्तुत करने का श्रेय फ्रायड, एडलर और युंग को मिला है। इन्हीं मनोविश्लेषणवादियों के विचारों से प्रभावित होने के कारण जैनेन्द्र,अज्ञेय और जोशी आदि व्यक्ति की अन्तश्चेतना की अभिव्यक्ति को ही साहित्य मानते हैं। जैनेन्द्र ने मानव जीवन की आन्तरिक गहराई को अभिव्यक्ति दी है, वे समस्याओं को मन के भीतर से देखते हैं। साहित्य मानव को स्वरति और परालोचन की अहंकारी वृत्ति के संकीर्ण क्षेत्र से ऊपर उठाता है। वह मानव में लोक हितैष्य की भावना को जाग्रत करता है[2]। पर साहित्य के मूल्यांकन की पद्धति में जैनेन्द्र जी प्रभाववादी दृष्टिकोण के समर्थक हैं। जैनेन्द्र ने साहित्य और कला को प्रयोजन से उच्च माना है[3]।लेकिन इस प्रयोजन से उनका तात्पर्य पार्थिव और भौतिक उपयोगिता से है। जैनेन्द्र व्यक्ति-प्रधान प्रभाववादी दृष्टि वाले चिन्तक हैं[4] तथा समाज का नेतृत्व करने वाले साहित्य को वे साहित्य का एक मुख्य रूप मानते हैं। उनपर पाश्चात्य की प्रभाववादी विचारधारा का प्रभाव तो पड़ा ही है साथ ही वे पाश्चात्य मनोविज्ञान से भी प्रभावित दिखाई देते हैं। उनकी कहानियों एवं निबन्धों में मनोविज्ञान की पूरी सामग्री है।

अज्ञेय आधुनिक हिन्दी साहित्य की एक नवीन शिल्प विधि के कथाकार और मनोविश्लेषणवादी समालोचक हैं। उन्होंने `कला का स्वभाव और उद्देश्य` का विवेचन आधुनिक मनोविश्लेषणवादी दृष्टिकोण से किया है। इस

----

१ नन्ददुलारे वाजपेयी : `आधुनिक साहित्य` - भूमिका

२ जैनेन्द्र : `साहित्य का श्रेय और प्रेय` ।

३ जैनेन्द्र के विचार ,`क्या-क्या है`शीर्षक निबन्ध ।

४ साहित्य की कसौटी - `आधुनिक हिन्दी साहित्य` ।

विवेचन में उनपर एडलर के होनता की अनुभूति और क्षतिपूर्ति के सिद्धान्त का प्रभाव स्पष्ट दिखायी देता है, वैसे भी अज्ञेय फ्रायड की अपेक्षा एडलर के सिद्धांतों से अधिक प्रभावित हैं। वे लिखते हैं-- 'कला सामाजिक अनुपयोगिता की अनुभूति के विरुद्ध अपने को प्रमाणित करने का प्रयत्न अपर्याप्तता के विरुद्ध विद्रोह है।'[1] अज्ञेय के अनुसार आज का हिन्दी साहित्य अधिकांश में अतृप्ति या कह लीजिए लालसा का, इच्छित विश्वास का साहित्य है।[2] किन्तु यह भी स्पष्ट है कि एडलर को अधिक महत्त्व देने के पश्चात् भी अज्ञेय एडलर को सैद्धान्तिक रूप में ही ग्रहण कर पाये हैं। एडलर के अनुगमन में भी वे एडलर द्वारा प्रतिपादित वातावरण की महत्ता की अवहेलना ही करते हैं।

जहाँ तक फ्रायड के प्रभाव का प्रश्न है, निश्चित ही उन्होंने साहित्य में कुंठित मौन इच्छाओं और मौन वर्जनाओं को साहित्य का मूल उत्स माना है। वे तारसप्तक की भूमिका में स्पष्ट लिखते हैं-- 'आधुनिक युग का साधारण व्यक्ति सेक्स सम्बन्धिनी वर्जनाओं से आक्रान्त है, उसका मस्तिष्क दमन की गई सेक्स की भावना के भार से दबा रहता है। उसकी सौन्दर्य भावना भी सेक्स से उत्पीड़ित है।'[3] मनोविश्लेषणवाद से प्रभावित होने के कारण अज्ञेय यह भी मानते हैं कि साहित्य की प्रेरणा देने वाली मूल शक्ति साहित्यकार की आन्तरिक विवशता है। उन्हीं के शब्दों में-- 'यदि कलाकार सचमुच कलाकार है, निरा प्रचारक नहीं है, तो उसकी प्रेरणा शक्ति एक निगूढ़ और अत्यन्त व्यक्तिगत विवशता है, जिसके कारण वह संसार की सत्यता को चित्रित करने को बाध्य होता है।'[4] किन्तु अज्ञेय जी कला की वैयक्तिक चेतना के साथ उसकी सामाजिक चेतना भी स्वीकार करते हैं।[5]

आपकी दृष्टि में जीवन दर्शन के निर्माण में डार्विन,

---

१ अज्ञेय : त्रिशंकु, पृ०सं० २३।

२ वही, पृ०सं० ४७।

३ सम्पादक अज्ञेय --तारसप्तक (१९४३), पृ०सं० ७६।

४ अज्ञेय : त्रिशंकु, पृ०सं० ६८।

५ वही, पृ०सं० २८।

आइनस्टाइन और फ्रायड की देन कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण है[१]। अज्ञेय के विचार में फ्रायड ,मार्क्स और डार्विन ने नयी कविता के बारे में नई दृष्टि प्रदान की है इसलिए उनका प्रभाव नई कविता पर भी पड़ा है। डार्विन ने जैविक सम्बन्धों पर मार्क्स ने आर्थिक और फ्रायड ने मानसिक सम्बन्धों पर प्रकाश डाला है[२]।"

फ्रायड और एडलर के अतिरिक्त अज्ञेय इलियट के विचारों से भी प्रभावित दिखाई देते हैं। इलियट के विचारों के प्रति उनके मन में पूर्ण आस्था है। उन्होंने अपनी पुस्तक 'त्रिशंकु' में 'रूढ़ि और मौलिकता' शीर्षक से इलियट के 'ट्रैडिशन एण्ड दी इण्डिविजुअल टैलेण्ट' निबन्ध का प्राय: भावानुवाद ही किया है। वे इलियट के इस विचार को मानते हैं कि --'कविता भावों का उन्मोचन नहीं है, बल्कि भावों से मुक्ति है, वह व्यक्तित्त्व की अभिव्यंजना नहीं बल्कि उससे मोक्ष है[३]।' इलियट के अनुसार 'कलाकार जितना ही सम्पूर्ण होगा, उतना ही भोगनेवाले प्राणी और रचनेवाले मनीषा का पृथकत्व स्पष्ट होगा[४]।' इसी पृथकत्व अथवा तटस्थता का ज़िक्र करते हुए अज्ञेय लिखते हैं --'जब साहित्यकार अनुभूतियों का चित्रण ही नहीं, उसके आगे बढ़कर अनुभूतियों का यथार्थ वस्तुजगत के साथ कार्य-कारण सम्बन्ध भी व्यक्त कर देता हैं, तभी उसे वह तटस्थता प्राप्त होती है और उसकी रचना को वह शक्ति जो परिवर्तन को सम्भव बनाती है[५]।'

विभिन्न विद्वानों ने अज्ञेय को डी०एच० लारेंस,रोम्याँ रोलाँ, सार्त्र आदि पाश्चात्य साहित्यकारों से भी प्रभावित माना है। स्वयं अज्ञेय ने भी[६] अपने शेखर को रोम्याँ रोलाँ के ज्याँ क्रिस्तोफ़ से प्रेरित स्वीकार किया है।

----

१ अज्ञेय : आत्मनेपद,पृ०सं० १९६ ।

२ अज्ञेय : रेडियो परिसंवाद,प्रतीक जून,१९५१

३ इलियट : सिलेक्टेड एसेज़,पृ०सं० २१ ।

४ अज्ञेय : त्रिशंकु,पृ०सं० १८

५ वही,पृ०सं० ७८ ।

६ अज्ञेय : आत्मनेपद,पृ०सं० ६४ ।

इलाचन्द्र जोशी जी मनोविश्लेषणवादी सिद्धान्तों के इतने प्रबल समर्थक हैं कि उन्होंने प्राचीन भारतीय साहित्य को भी मनोविश्लेषण सिद्धान्तों के प्रकाशन में ही देखा है। प्राचीन काव्यकारों का आत्मविश्लेषण करते हुए अपनी विवेचना के अन्तर्गत उन्होंने यही सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि 'इस प्रकार अपने अन्तर्मन की वासना विस्फुरित कल्पनाओं को ब्रह्मानन्द की अलौकिक फैण्टेसी से एक रूप में मिलाकर वे लोग स्वयं मूर्खों के काल्पनिक स्वर्ग में रहना पसंद करते थे और जनता को भी ~~ब~~ उसी मूर्खतापूर्ण गोरखधन्धे में (जिसे काव्यशास्त्र विनोद का भारी भरकम नाम दिया जाता था) भरमाते रहने में कुछ प्राप्त करते थे।'[1]

जोशी जी ने साहित्य का मूल उद्गम और साहित्यकार के उद्देश्य को फ्रायड से ही ग्रहण किया है। कलात्मक रचना की उद्भावना के सम्बन्ध में वे फ्रायड ~~क~~ की 'आब्जेस्ड फैंटेसिस' को ही प्राथमिकता देते हैं। उनके अनुसार 'कवि अथवा कलाकार की कृतियाँ उसके अन्तस्तल में दबी हुई भावनाओं की ही प्रतीक होती है अथवा हमारा प्रत्येक कार्य, प्रत्येक अंग संचालन, प्रत्येक गतिविधि हमारे अज्ञात में हमारी अन्तर्चेतना द्वारा परिचालित होती है।'[2] अपनी इसी मान्यता के आधार पर जोशी जी ने हिन्दी साहित्य की परम्परा में सर्वत्र मौन विकृति की छाप का ही दर्शन किया है तथा फ्रायड और एडलर की विवाद-ग्रस्त धारणाओं को भी आर्ष प्रयोग के समान ग्रहण करते चले हैं। वे कहते हैं-- 'फ्रायड, युंग और एडलर अपने मनोवैज्ञानिक एक्सरे के प्रयोग द्वारा मनुष्य की अन्तश्चेतना के रहस्य का उद्घाटन करने में अद्भुतरूप से सफल हुए हैं।.... कवि अथवा कलाकार की कृतियाँ उसके अन्तस्तल में दबी हुई भावनाओं की ही प्रतीक होती हैं।'[3] अस्तु, उनके (जोशी) मतानुसार साहित्य की मूल प्रेरणा साहित्यकार के

---

१ इलाचन्द्र जोशी : विवेचना, पृ०सं०८ ।

२ वही, पृ०सं० ५५ ।

३ वही, पृ०सं० ५५ ।

अवचेतन मन में दबी पड़ी अतृप्त इच्छाएँ ही होती हैं । जोशी जी ने इन दोनों मनोवैज्ञानिकों के विचारों को सुलझे हुए रूप में प्रस्तुत करके कला विश्लेषण के मनोवैज्ञानिक पक्ष को हिन्दी पाठकों के सम्मुख रखा ।

जोशी जी की समालोचनाओं से प्रकट होता है कि वे फ्रायड की अपेक्षा एडलर के क्षतिपूर्ति वाले सिद्धान्त के अधिक निकट हैं । उन्होंने सामान्यत:सभी श्रेणी के कवियों को और विशेषत: छायावादी कवियों को आत्महीनता की ग्रन्थि से छटपटाने के कारण ही छायावादी कल्पना का आश्रय ग्रहण करते हुए पाया है--'छायावादी कवि अपनी आंतरिक दुर्बलता की क्षति पूर्ति अपने स्वयं सृष्ट काल्पनिक लोक में छायावादी शक्ति से प्राप्त करते रहे हैं, इस बात का उल्लेख पहले किया जा चुका है । उस छायावादी शक्ति से वे बराबर जनतापर अपनी धौंस जमाते आये हैं।'[१] एक अन्य स्थान पर वे लिखते हैं 'कवियों के शैशवकाल के अध्ययन से यह पता चलता है कि वे किसी न किसी आत्म-ग्लानि की भावना से विशेषरूप से पीड़ित रहे हैं..... शारीरिक तथा पार्थिव क्षेत्र की प्रतियोगिता में हार मानकर मानसिक तथा आध्यात्मिक जगत में सबसे अधिक बाजी मार ले जाने की व्याकुलता उसमें अत्यन्त प्रबल रूप से रही है।'[२] इस प्रकार जोशी जी के मतानुसार साहित्य अथवा काव्य क्षतिपूर्ति का एक सशक्त अस्त्र है । उन्होंने फ्रायड और एडलर के जीवन-दर्शन को सम्पूर्ण और मार्क्स के जीवन-दर्शन को अपूर्ण माना । यही उनकी आलोचना की एकांगिता है ।कालान्तर में उन्हें अपनी इस भूल का आभास मिला तो वे अपने आपको फ्रायडवादी कहलाने में भी बदनामी समझने लगे--' मैं फ्रायडवाद का समर्थक नहीं हूं ,हालांकि मेरे आलोचकों ने मेरी रचनाओं को फ्रायडवादी बताकर बदनाम कर रखा है।'[३] 'साहित्य सर्जना' और 'विवेचना' के पश्चात् जोशी जी द्वारा प्रतिपादित साहित्य

---

१ इलाचन्द्र जोशी : विवेचना,पृ०सं० ६४ ।

२ वही, पृ०सं० ५७-५८ ।

३ इलाचन्द्र जोशी : साहित्य चिन्ता,पृ०सं० ५८ ।

के मनोवैज्ञानिक प्रतिमानों की परिधि फ्रायड से आगे बढ़ी है और उन्होंने स्थान-स्थान पर व्याप्ति प्रदान की है । यही कारण है कि उन्होंने कई स्थानों पर फ्रायड और मार्क्स के समन्वय की बात कही है । वे लिखते हैं-- 'वास्तव में मार्क्सवाद और फ्रायडवाद एक दूसरे के विरोधी न होकर पूरक हैं[1] ।' प्रारम्भ से फ्रायड से अत्यधिक प्रभावित जोशी जी धीरे-धीरे अन्य लेखकों के विचारों को ओर भी आकर्षित हुए हैं ।

प्रगतिवादी समीक्षक मुक्तिबोध मार्क्सवाद से प्रभावित दिखायी देते हैं[2] इसीलिए उनका सम्पूर्ण साहित्य-चिन्तन जन-जीवन की अन्तर्धाराओं का स्पष्ट दर्शन कराता है तथा सामाजिक चिन्तन और अनुभव वैविध्य को बल देता है । उनकी सबसे बड़ी शक्ति है-- लोकपरिवेश से गहरी सम्पृक्ति तथा जन जीवन में विश्वास । वे कहते हैं-- जो जाति,जो राष्ट्र,जितना ही स्वाधीन होता है, यानी जहाँ की जनता शोषण और अज्ञान से जितने अंशों तक मुक्ति प्राप्त कर चुकी होती है, उतने ही अंशों तक वह शक्ति और सौन्दर्य तथा भावनादर्श के समीप पहुँचती हुई होती है[3] । वे किसी भी आदर्शात्मक साहित्य को जनता से असम्बद्ध नहीं मानते । मुक्तिबोध साहित्यिक कलाकार के कृतित्व को जीवन की पुनर्रचना स्वीकार करते हैं[4] । उनके अनुसार कला का अपना स्वायत्त तंत्र जीवन तत्वों द्वारा अनुशासित होता है-- ऐसे जीवन तत्त्व जिनका एक सूत्र यदि आभ्यंतर है तो दूसरा वास्तविक जीवन जगत[5] । जीवन की आभ्यंतरीकरण प्रक्रिया में ही व्यक्ति अपनी जीवन-दृष्टि और मूल्य दृष्टि को भी विकसित कर लेता है । वे किसी भी दृष्टिकोण[6] को तभी तक ठीक मानते हैं, जब तक वह जीवन की चेतना[7] से परिपूर्ण हो । मुक्तिबोध ने जहाँ लेखक की संवेदन क्षमता पर बल दिया है,वहाँ

---

१ इलाचन्द्र जोशी : विवेचना,पृ०२२ ।

२ ग०मा०मुक्तिबोध: नये साहित्य का सौन्दर्यशास्त्र,पृ०सं०१०४

३ वही,पृ०सं० ८०

४ कामायनी एक पुनर्विचार,पृ०सं०३-५

५ मुक्तिबोध ० नये साहित्य का सौन्दर्यशास्त्र,पृ०सं०१०२ ०

५ ग०मा० मुक्तिबोध--नयी कविता का आत्म संघर्ष तथा अन्य निबन्ध,पृ०सं०१७६।

६ मुक्तिबोध -- नये साहित्य का सौन्दर्यशास्त्र.प०सं०१०९ ।

पर भी उनपर मार्क्सवाद का प्रभाव लक्षित होता है,क्योंकि वे मानते हैं कि मार्क्सवाद मनुष्य की संवेदन क्षमता से कोई विरोध नहीं करता,अपितु वह मनुष्य की अनुभूति को बोधयुक्त करते हुए अधिक परिष्कृत और उच्चतर स्थिति में ला देता है[1]। उनका सौन्दर्य सम्बन्धी चिन्तन भी पाश्चात्य प्रभाव से प्रभावित है।

डॉ० नगेन्द्र ने अंग्रेजी साहित्य के संस्कारों को अपनाते हुए हिन्दी साहित्य में प्रवेश किया था,अत: उनकी कृतियाँ अंग्रेजी कवियों और आलोचकों की मान्यताओं से प्रेरित हैं। पाश्चात्य विद्वानों में डॉ० नगेन्द्र पर फ्रायड, एडलर, युंग, आई० ए० रिचर्ड्स तथा क्रोचे का पर्याप्त प्रभाव पड़ा है। उनके साहित्य प्रेरणा विषयक सूत्र में काम का बहुत महत्त्व है। वे करुणा में निहित अभाव की पीड़ा और काम में आनन्द सम्मोह के संयोग को ही काव्य-सृजन का मूल मानते हैं[2]। उन्होंने अरस्तु के अनुकरण सिद्धान्त से लेकर हीगेल की सौन्दर्यानुभूति विषयक- विवेचना, क्रोचे के सहजानुभूति सम्बन्धी अभिव्यंजना और फ्रायड,एडलर तथा युंग के मनोविश्लेषवाद का सारांश प्रस्तुत करते हुए अन्त में यही निष्कर्ष निकाला है कि --`काव्य के मूल में आत्माभिव्यक्ति की प्रेरणा है और यह प्रेरणा व्यक्ति के अन्तरंग अर्थात् उसके भीतर होने वाले आत्म और अनात्म के संघर्ष से ही उद्भूत होती है। कहीं बाहर से जानबूझकर प्राप्त नहीं की जा सकती। हमारे आत्म का निर्माण जिन प्रवृत्तियों से होता है,उनमें कामवृत्ति का प्राधान्य है,अतएव हमारे व्यक्तित्व में होने वाला आत्म और अनात्म का संघर्ष मुख्यत: काममय है, और चूँकि ललित साहित्य तो मूलत: रसात्मक होता है, अत: उसकी प्रेरणा में कामवृत्ति की प्रमुखता असंदिग्ध है[3]।` प्रस्तुत कथन से ही उनपर आधुनिक मनोविज्ञान का प्रभाव स्पष्ट हो जाता है।

---

१ मुक्तिबोध : नये साहित्य का सौन्दर्यशास्त्र,पृ०१०४।

२ डॉ० नगेन्द्र :`काव्यचिन्तन`,पृ०सं०५

३ वही, पृ०सं०१०

आधुनिक काव्य की आध्यात्मिकता पर उनको एकदम विश्वास नहीं है[1]। वे आधुनिक मनोविज्ञान के अन्वेषणों से प्रभावित अवश्य हैं, किन्तु उन्हें वे रस-सिद्धान्त की व्यापक प्रतिष्ठा का आधार मानते हैं। फ्रायड दर्शन के सम्बन्ध में उनका कहना है-- 'मैं फ्रायड दर्शन को एकांगी और उसकी आधारभूत अनेक युक्तियों को दुरारूढ़ और अविश्वसनीय मानता हूं। काम जीवन का मुख्य अंग है पर सर्वांग नहीं। ऐसी दशा में मैं फ्रायड के सिद्धान्त को जीवन-दर्शन के रूप में कैसे स्वीकार कर सकता हूं। फिर भी फ्रायड को एक बहुत बड़ी मेधा मानता हूं -- उसका प्रभाव अत्यन्त व्यापक है। रससिद्धान्त में भी फ्रायड का दर्शन साधक है, बाधक नहीं, क्योंकि दोनों ही आनन्द के सिद्धान्त 'प्लेजर प्रिंसिपुल' को लेकर चलते हैं[2]।'

इसके साथ ही नगेन्द्र फ्रायड की ही भाँति[3] मानव के सौन्दर्य प्रेम का उसकी कामवृत्ति से सहज सम्बन्ध स्थापित करते हैं। नगेन्द्र की पुस्तक 'विचार और अनुभूति' पर फ्रायड का प्रभाव सहज रूप में देखा जा सकता है। इसमें वे काव्य की मूल प्रेरणा के विषय में लिखते हैं--'हमारे व्यक्तित्व में होने वाले संघर्ष मूलतया काममय है और चूंकि ललित साहित्य तो मूलत: रसात्मक होता है, अत: उसकी प्रेरणा में कामवृत्ति की प्रमुखता असंदिग्ध है[4]।' डॉ० नगेन्द्र विश्वसाहित्य के अधिकांश को काम कल्पनाओं से प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्षरूप में सम्बधित होता हुआ देखते हैं --'फ्रायड के सिद्धान्त को अतिवाद मानते हुए भी इस बात का निषेध नहीं किया जा सकता कि मानव मन की अधिकांश ग्रंथियों का आधार काम है। साहित्य में भी कामाश्रित स्वप्न कल्पनाओं का असाधारण योग रहता है। मैं समझता हूँ कि विश्वसाहित्य का बृहदांश इन्हीं काम कल्पनाओं से प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष रूप में सम्वर्धन प्राप्त करता है[5]।

---

१ डॉ० नगेन्द्र : 'विचार और अनुभूति', पृ०सं०१२३।

२ डॉ० रणवीर रांग्रा, डॉ० नगेन्द्र : 'व्यक्तिऔर ~~व्यक्तित्व~~ कृतित्व', पृ०सं०२२।

३ फ्रायड : सिविलाइजेशन एण्ड इट्स डिस्कान्टेण्ट्स', पृ०सं०३८।

४ डॉ० नगेन्द्र : 'विचार और अनुभूति'

५ डॉ० नगेन्द्र : 'विचार और विवेचन', पृ०सं०६३।

फ्रायड के अतिरिक्त नगेन्द्र ने एडलर और युंग के कला-सिद्धान्तों पर भी प्रकाश डाला है। डॉ० रामविलास शर्मा मार्क्सवाद के प्रबल समर्थक हैं। उनकी सम्पूर्ण चिन्ताधारा पर मार्क्सवाद का प्रभाव परिलक्षित होता है,इसीलिए वे सर्वत्र वर्गहीन समाज की ही परिकल्पना करते दिखाई देते हैं। इस समाज के निर्माण में अगर वर्ग संघर्ष भी करना पड़े तो वे मुँह चुराने से मना करते हैं[1]। बाबू गुलाबराय के रससिद्धान्त पर विचार करते हुए भी शर्मा जी यही कहते हैं कि जिस सहयोगपूर्ण समाज में बाबू जी रहना चाहते हैं, वह तब तक संभव न होगा, जब तक समाज से वर्ग शोषण न मिटेगा। साहित्यकार सामाजिक उत्तरदायित्व को भूलकर अगर आत्मा की अखण्डता और रस के स्वयं प्रकाश, अलौकिक ब्रह्मानन्द सहोदर होने की बातें दुहराता रहेगा तो वह समाज के विकास में कभी सहायक न हो सकेगा[2]। जिन्दगी से रस का बहिष्कार करने की आवश्यकता वे नहीं समझते।

शर्मा जी का सम्पूर्ण चिन्तन समाज को उन्नत करने की भावनाओं से प्रभावित है,इसीलिए उन्होंने शुक्ल जी के भी लोकहृदय में लीन होने की कसौटी पर अधिक बल दिया है। वे वर्ण्य-विषय की तरह शैली और भाषा को भी जनवादी बनाने के समर्थक हैं। अत्यधिक ऊहात्मक और चमत्कार-प्रधान शैली जनवादी साहित्य के लिए उपयुक्त नहीं होती। भाषा की अत्यधिक कोमलता और मिठास को प्रगतिवादी सामाजिक ह्रास का चिह्न मानता है[3]। उनका प्रत्येक इस बात पर ध्यान रहता है जिससे समाज की उन्नति हो।

शर्मा जी ने प्राचीन साहित्य का चिन्तन भी सामाजिक और आर्थिक पृष्ठभूमि में ही किया है। प्रगतिवादी धारा के मार्क्सवादी दृष्टि-कोण की जिस-जिसने निन्दा की है-- रामविलास जी उसपर बरस पड़े हैं[4]।

---

१ डॉ० रामविलास शर्मा : प्रगति और परम्परा के निबन्ध

२ वही। पृ० ११८

३ डॉ० रामविलास शर्मा, 'हंस', प्रगति अंक,पृ०सं०३६३।

४ डॉ० रामविलास शर्मा : 'संस्कृति और साहित्य',भूमिका।

प्रस्तुत साहित्यकारों के अतिरिक्त आधुनिक हिन्दी साहित्य में और भी अनेकों साहित्यकार हैं,जो अपनी रचनाओं द्वारा साहित्य-जगत में प्रसिद्धि प्राप्त किए हुए हैं । इनमें डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी और रामधारी सिंह 'दिनकर' रोमेण्टिसिज्म से प्रभावित दिखायी देते हैं । द्विवेदी जी मानते हैं कि वर्ड्सवर्थ और शैली,कीट्स आदि ने जिस मोहक सौन्दर्य जगत का निर्माण किया है, वह अपूर्व है ।[१] दिनकर अन्तर्मुखता और बहिर्मुखता के बीच सामंजस्य देखते हुए रोमेण्टिक भाव-भूमि की ओर झुक गए हैं--' यह बात भुलाई नहीं जा सकती कि युगों से आती हुई काव्य परम्परा में पहली विशाल क्रांति रोमांसवादियों ने की थी ।[२] उन्होंने रोमांसवादी काव्य की बहुत सी विशेषताएँ बतायी हैं, जिससे ज्ञात होता है कि उन्हें काव्य की यह भूमि विशेष प्रिय थी,इसीलिए तो वे कहते हैं--'असल में रोमांसवाद गतिशील आन्दोलन था, जिसकी यात्रा जीवन के समुच्चय की ओर थी । यह उस एकांत का काव्य नहीं था, जहाँ आत्मा निष्क्रिय और निस्पन्द रहती है, प्रत्युत, यह जीवन के होने का काव्य था, उसके आस्फालन और शक्तिमयता की कविता थी ।[३] दिनकर मार्क्स और रसेल से भी प्रभावित हैं । रसेल को वे भारतीय मान्यताओं के निकट मानते हैं[४] तथा मार्क्स के विषय में वे कहते हैं कि उसने मानव समाज का लक्ष्य ही बदल दिया है[५]।

शिवदान सिंह चौहान तथा प्रकाशचन्द्र भी मार्क्स से प्रभावित हैं ।

नवलेखन

नवलेखन की परम्परा में डॉ० नामवर सिंह तथा अमृतराय भी मार्क्स के द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद से प्रभावित दिखाई देते हैं । इन

---

१ देवराज उपाध्याय : 'रोमांटिक साहित्य शास्त्र,भूमिका ।
२ दिनकर : शुद्ध कविता की खोज,पृ०सं०३५
३ दिनकर रामधारी सिंह : शुद्ध कविता की खोज,पृ०सं०३५
४ दिनकर रामधारी सिंह : अर्द्धनारीश्वर,पृ०सं०१५२

समीक्षकों ने काडवेल द्वारा प्रतिपादित सामूहिक भाव और साधारणीकरण का सम्बन्ध भी जोड़ा है[1]।

डॉ० रघुवंश, भारती, विजयदेवनारायण साही, लक्ष्मीकान्त वर्मा, डॉ० नामवर सिंह, डॉ० जगदीश गुप्त आदि ने अपने विचारों द्वारा साहित्य में नये मानदण्ड स्थापित किये हैं। लगभग इन सभी साहित्य-चिन्तकों ने साहित्य में व्यक्ति का महत्त्व स्वीकार किया है। लक्ष्मीकांत वर्मा के शब्दों में-- व्यक्ति की निष्ठा, व्यक्ति की अनुभूति..... अधिक आस्था व्यक्त की जाती है[2]।

निष्कर्षत: हम कह सकते हैं कि आधुनिक हिन्दी साहित्य-चिन्तकों में अधिकांश ऐसे हैं, जो किसी न किसी रूप में पाश्चात्य साहित्य-चिन्तकों से अवश्य प्रभावित हुए हैं।

(ख) भारतीय प्रभाव

यह हमने पहले ही स्पष्ट किया था कि आधुनिक हिन्दी साहित्य-चिन्तन की पूर्वपीठिका में हमें साधारणतया दो प्रभाव स्रोत या प्रेरणा केन्द्र दृष्टिगोचर होते हैं, जो क्रमश: पाश्चात्य साहित्य चिन्तन तथा भारतीय साहित्य-चिन्तन नामक श्रेणियों में विभक्त किये जा सकते हैं। आधुनिक हिन्दी साहित्य चिन्तन पर पड़े हुए पाश्चात्य साहित्य चिन्तन के प्रभाव को तो हम विवेचित कर चुके हैं,अत: अब भारतीय प्रभाव को देखना होगा। भारतीय साहित्य-चिन्तन के अन्तर्गत संस्कृत साहित्य-चिन्तन को मुख्यत: तथा मध्ययुगीन हिन्दी साहित्य-चिन्तन को गौणत: लिया जायेगा।

यह स्पष्ट है कि हिन्दी भाषा और साहित्य का विकास प्रत्यक्षत: संस्कृत से न होकर प्राकृत और अपभ्रंश से हुआ है, किन्तु उसका आदि स्रोत संस्कृत साहित्य ही रहा है,अत: हिन्दी के साहित्य-विधान और

---

१ अमृतराय : नई समीक्षा,पृ०सं० ५।

२ लक्ष्मीकान्त वर्मा : नयी कविता के प्रतिमान,पृ०सं० ४०।

स्वरूप निर्माण पर उसका प्रभाव पड़ना स्वाभाविक है। संस्कृत साहित्य-चिन्तन ने रिक्थ के रूप में हिन्दी साहित्य-चिन्तन को प्रभूत सामग्री प्रदान की है। आधुनिक हिन्दी साहित्य-चिन्तन के सैद्धान्तिक पक्ष का निर्माण बहुत कुछ संस्कृत काव्यशास्त्रीय प्रतिमानों से हुआ है। आधुनिक आलोचना पर भी संस्कृत काव्य-शास्त्र का पर्याप्त प्रभाव है। आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने संस्कृत काव्यशास्त्र की व्याप्ति पर प्रकाश डालते हुए लिखा है-- भारत में साहित्यशास्त्र या आलोचना का जो कुछ विचार हुआ है, वह संस्कृत भाषा में ही। आलोचना का विचार न प्राकृत में है और न अपभ्रंश में, न देशी भाषाओं हिन्दी, बंगाला, मराठी, गुजराती आदि में। साम्प्रतिक साहित्य में जो आलोचना का विचार होता है, वह या तो संस्कृत साहित्य[1] का आधार लेकर या पश्चिमी अंग्रेजी भाषा के साहित्यशास्त्र का अवलम्बन करके।

आज के हिन्दी साहित्य दर्शन का मूलाधार अधिकांशतः भारतीय है। काव्य सम्बन्धी विभिन्न पाश्चात्य विचारधाराओं को आज का साहित्य शास्त्रज्ञ भी रस, औचित्य तथा साधारणीकरण आदि भारतीय परम्परा के अनुकूल बनाकर ग्रहण करता है। उसके पास एक कसौटी है, जिसपर वह उनकी उपादेयता की जाँच कर लेता है। आधुनिक हिन्दी साहित्य-चिन्तन के प्रवर्तन युग से लेकर अधतन युग तक जितने प्रमुख साहित्य-चिन्तक हुए हैं, उन सबपर संस्कृत साहित्य -चिन्तन का न्यूनाधिक प्रभाव अवश्य पड़ा है। किन्हीं साहित्य चिंतकों ने संस्कृत साहित्य चिन्तन के कलावादी मुल्यों से प्रभावित होते हुए साहित्य में सौंदर्य और आनन्द पर बल दिया है तो किन्हीं चिन्तकों ने उपयोगितावादी मुल्यों को अपनाते हुए शिवं पक्ष की अनिवार्यता साहित्य में मानी है।

हिन्दी के आधुनिक साहित्य-चिन्तन की परम्परा में संस्कृत साहित्य चिन्तन से प्रभाव ग्रहण करने वाले साहित्य-चिन्तकों को मुख्यतः दो श्रेणियों में विभक्त किया जा सकता है-- एक तो ऐसे साहित्य चिन्तक, जिन्होंने अपने लेखों एवं पुस्तकों द्वारा संस्कृत साहित्य सिद्धान्तों का विवेचन किया है एवं दूसरे वे साहित्य चिन्तक जिन्होंने प्राचीन संस्कृत सिद्धान्तों के नवीनीकरण

या प्राचीन और नवीन के समन्वय पर बल दिया है । पहली श्रेणी में आने वाले चिन्तकों में मुख्य हैं-- सेठ कन्हैयालाल पोद्दार, रमाशंकर शुक्ल रसाल, पं० रामदहिन मिश्र, पं० बलदेव उपाध्याय, सत्यव्रत सिंह, पुरुषोत्तम चतुर्वेदी, पण्डित विश्वेश्वर आदि । दूसरी श्रेणी में आने वाले चिन्तकों में मुख्य हैं-- रामचन्द्र शुक्ल, गुलाबराय, हजारीप्रसाद द्विवेदी, नंददुलारे वाजपेयी तथा नगेन्द्र । इन विद्वान साहित्य-चिन्तकों के अतिरिक्त डॉ० भगीरथ मिश्र, डॉ० आनन्दप्रकाश दीक्षित, श्री राममूर्ति त्रिपाठी, डॉ० भोलाशंकर व्यास, डॉ० सत्यदेव चौधरी आदि विद्वानों ने भी अपने ग्रन्थों में भारतीय साहित्य चिन्तन के विभिन्न पक्षों एवं सिद्धान्तों का विवेचन आधुनिक दृष्टि से किया है ।

पण्डितराज जगन्नाथ तक विकसित होने वाले संस्कृत साहित्य चिन्तन का एवं हिन्दी के मध्ययुगीन साहित्य चिन्तन का प्रभाव, भारतेन्दु से शुक्लोत्तर युग की नवलेखन परम्परा तक के साहित्य-चिन्तकों के चिंतन पर कहाँ तक पड़ा है, हम क्रमशः कालक्रमानुसार इसका विवेचन करेंगे ।

भारतेन्दु युग

इस युग में एक ओर तो रीतिकालीन वैयक्तिक शृंगारमयी कविता लगभग समाप्ति पर थी और दूसरी ओर कवि एवं लेखक गुलामी के बंधनों में जकड़े हुए पराधीन देश को उद्बोधन देने वाली लोकमंगलकारी दृष्टि की ओर उन्मुख होने लगे थे । फलस्वरूप जहाँ साहित्य चिन्तकों ने शृंगाररसात्मक काव्य रचना का अनुमोदन किया है, वहाँ समाज विकास की आवश्यकता को समझते हुए देशभक्ति की भावना को भी स्वीकारा है ।

आलोच्य युग के हिन्दी साहित्य चिन्तन पर पाश्चात्य साहित्य चिन्तन ने अपना पर्याप्त प्रभाव छोड़ा था । इस प्रभाव को तो हिन्दी साहित्य-चिन्तकों (आधुनिक) ने ग्रहण किया ही, परन्तु उनके पास पहले से संस्कृत साहित्य-चिन्तन की समृद्ध परम्परा भी थी, अतः अपनी प्राचीन सभ्यता, संस्कृति एवं साहित्य के प्रभाव से वे अछूते कैसे रह सकते थे ?

भारतेन्दु मूलतः रसवादी कलाकार थे । उनके लगभग सभी

संस्कृत के नाट्य शास्त्र की अनेक मान्यताओं को लेकर उनका विश्लेषण किया था । उन्होंने भारतीय नाटकों के साथ पश्चिमी नाटकों की चर्चा करते हुए भारतीय एवं पाश्चात्य साहित्यशास्त्र के समन्वय की ओर संकेत किया ।भारतेन्दु जी के समकालीन लेखक बदरीनारायण चौधरी प्रेमघन जी नाटक द्वारा आनन्द की पूर्ति होना आवश्यक मानते थे । उनके नाटक सम्बन्धी ये विचार भारतीय परम्परा से बहुत प्रभावित हैं । वे कहते हैं -- जानना चाहिए कि नाटक वहाँ तक नहीं है कि जहाँ तक उसमें नवलयन आवे, किन्तु नाटक और अभिनय वह वस्तु है, जब देखनेवालों को इसका परिज्ञान न रह जाये कि हम नाटक देखते हैं वा सत्य लीला, जिसके शब्द-शब्द से रस चूता और पद-पद पर नये आनन्द का मज़ा मिलता जाये और देखने वाले उस रस में रंगकर तन्मय दशा को प्राप्त हो जायें[1] ।

बालकृष्ण भट्ट और प्रतापनारायण मिश्र भी अपनी साहित्यिक गतिविधियों के लिए इस युग में ख्याति प्राप्त कर चुके थे । भट्ट जी को सूर,तुलसी,बिहारी,भूषण आदि की रचनाएँ अत्यन्त सुन्दर लगी थी,इसीलिए ये इन कवियों के काव्य का सुधापान करने से अपने को वंचित न रख सके एवं तुलसी इत्यादि के काव्य में निहित लोकमंगल की भावना से भी प्रभावित हुए[2] ।

वास्तव में इस युग के लेखकों ने प्राचीन और नवीन का समन्वय करने का भरसक प्रयत्न किया है और उसमें सफल भी हुए हैं । आचार्य शुक्ल भी इनकी इस विशेषता से प्रभावित होते हुए कहते हैं-- उस संधिकाल के कवियों में ध्यान देने की बात यह है कि वे प्राचीन और नवीन का योग इस ढंग से करते थे कि कहीं से जोड़ नहीं जान पड़ता था,[3] उनके हाथों में पड़कर नवीन भी प्राचीनता का ही एक विकसित रूप जान पड़ता था ।

द्विवेदी युग

भारतेन्दु युग के पश्चात् आने वाले द्विवेदी युग में पाश्चात्य चिन्तन से प्रभावित होने के बावजूद भी साहित्य चिन्तन के सैद्धान्तिक पक्ष का

---

१ आनन्द कादम्बिनी,कार्तिक१६३८विक्रमी,संदर्भ प्रेमघन सर्वस्व,भाग२,पृ०सं०३४ ।

२ द्रष्टव्य-- भट्ट निबन्धावली,भट्ट निबंधमाला आदि ।

निरूपण प्राचीन संस्कृत साहित्य-चिन्तन के रस,अलंकार,ध्वनि और वक्रोक्ति आदि काव्यशास्त्रीय सम्प्रदायों से अनुप्राणित हुआ । द्विवेदी युगीन हिन्दी साहित्य चिन्तन भारतीय दृष्टि को अनुपेक्षित किए हुए ही चलता रहा । इस युग के साहित्य चिन्तकों के संस्कार प्राचीन भारतीय आदर्श तथा आचार शास्त्र के अधिक निकट थे । यद्यपि युगधर्म ने उनके मस्तिष्क में सुधारवादी विचारधारा और नैतिकता की भावना का प्रस्फुरण भी किया था, किन्तु वे अतीत के प्रति बनी हुई अपनी आस्थाओं में इतने सुदृढ़ थे कि नवीनता का नव आलोक उन्हें[1] बिना किसी सांस्कृतिक आधार के चमत्कृत और मुग्ध नहीं बना सकता था । राम और कृष्ण इनके आदर्श थे ।

द्विवेदी युगीन साहित्य चिन्तन पर भारतीय उपयोगितावाद का सर्वाधिक प्रभाव है । द्विवेदी जी एवं उनके सहयोगियों के मस्तिष्क में नैतिकता सम्बन्धी कुछ विशिष्ट सिद्धान्त थे,जिनको प्रतिमान बनाकर वे साहित्य निर्माण एवं परीक्षण करते थे । उपयोगितावादी दृष्टि होने के कारण साहित्य चिन्तक काव्य की शुद्ध आनन्ददायिनी शक्ति अर्थात् रस निष्पत्ति का सम्यक् संयोजन नहीं कर पाये । नैतिकता एवं आदर्श की भावना ने उस समय के साहित्य चिन्तन पर अपना गंभीर प्रभाव अंकित किया है ।

इस युग के प्रमुख चिन्तक द्विवेदी जी सैद्धान्तिक दृष्टि से रसवादी आलोचक हैं । रसज्ञरंजन नामक उनकी पुस्तक में उनकी सैद्धान्तिक मान्यताओं का सुन्दर निदर्शन होता है । इस पुस्तक में एक स्थान पर आपने लिखा है-- कवियों का यह काम है कि वे जिस पात्र अथवा वस्तु का वर्णन करते हैं उसका रस अपने अन्त:करण में लेकर उसे ऐसा शब्दरूप देते हैं कि उन शब्दों को सुनने से वह रस सुनने वालों के हृदय में जाग्रत हो जाता है[2] ।

उपयोगितावादी एवं नैतिक दृष्टि के अत्यधिक आग्रह के कारण द्विवेदी जी रस को काव्य की आत्मा मानते हुए भी रसवाद की गहराई

---

१ नन्ददुलारे वाजपेयी : आधुनिक साहित्य,पृष्ठसं०१२ ।

२ महावीरप्रसाद द्विवेदी : रसज्ञ रंजन ।

को छू नहीं पाये । रीतियुगीन शृंगारिक कविता की प्रतिक्रिया स्वरूप वे कट्टर नीतिवादी बन गये थे । उनका संस्कारी मन साहित्य में इस प्रकार के वर्णन को अश्लील समझता था, इसीलिए उन्होंने नैतिक, उपयोगी साहित्य को ही अधिक महत्त्व दिया तथा काव्य के क्षेत्र को स्त्रियों का चेष्टा मात्र तक सीमित न मानकर बहुत व्यापक माना है ।

इस युग के दूसरे प्रमुख चिन्तक हैं, बाबू श्यामसुन्दरदास। श्यामसुन्दरदास ने साहित्य की कसौटी के लिए व्यापक एवं उदार मानदंड स्वीकार किया है । वे साहित्य में भावों का प्राधान्य मानते हैं-- भाव का सम्बन्ध होता है साहित्य के सुकुमार जगत से । इसी से साहित्य में भाव की प्रधानता होती है[1] । भावों को प्रधान मानने के कारण ही उन्हें रसवादी कहा जा सकता है । उनके रसवाद की सीमा अत्यन्त विस्तृत है, जिसमें गंभीर तथा शान्तिमय आनन्द एवं आवेशमय आनन्द को समेट लिया है । हाँ, बौद्धिक आनन्द को वे साहित्यिक आनन्द से भिन्न मानते हैं । साधारणीकरण की अवस्था को भी योग की उस मधुमति भूमिका के समान वे बतलाते हैं, जिसमें हमारा मस्तिष्क तर्क-वितर्क से शून्य होकर आनन्दानुभूति में लीन हो जाता है --'मधुमति भूमिका चित्त की वह विशेष अवस्था है, जिसमें वितर्क की सत्ता नहीं रह जाती । शब्द, अर्थ और ज्ञान इन तीनों की पृथक् प्रतीति वितर्क है । दूसरे शब्दों में वस्तु वस्तु का सम्बन्ध और वस्तु के सम्बन्धी इन तीनों का भेद अनुभव करना ही वितर्क है ।..... इस पार्थक्यानुभव को ऊपर प्रत्यक्ष भी कहते हैं..... योगी की पहुँच साधना के बल पर जिस मधुमति भूमिका तक होती है, उस भूमिका तक प्रातिभ ज्ञान सम्पन्न सत्कवि की पहुँच स्वभावत: हुआ करती है[2] ।

इस प्रकार साहित्य के क्षेत्र में आनन्द को अधिक महत्त्व देने वाले बाबू साहब उसे ऐन्द्रिय अनुभव पर आधृत मानते हुए भी उसका सम्बन्ध

---

१ श्यामसुन्दरदास : साहित्यालोचन ।

२ वही, पृ०सं० २८०-२८२ ।

मन की उस सत् अवस्था से जोड़ते हैं, जिसमें अपने पराये का ज्ञान नहीं रह जाता। उन्होंने साहित्य विवेचन के प्रसंग में आकर्षण[1] शक्ति का उल्लेख करते हुए उसके अस्तित्व को मान्यता प्रदान की है, अर्थात् साहित्य में सौन्दर्य का होना भी वे आवश्यक समझते थे। डॉ० साहब के विचारों से ज्ञात होता है कि उन्होंने भारतीय साहित्य चिन्तन के कलात्मक मूल्यों से[2] ही प्रभाव ग्रहण किया है। बाबू जी निर्गुण संतों की वाणियों में निहित सौंदर्य तथा छायावादी कवियों के सूक्ष्म एवं कल्पना प्रधान काव्य से भी प्रभावित हुए हैं।

कन्हैयालाल पोद्दार और डॉ० रामशंकर शुक्ल रसाल ने भी भारतीय[3] साहित्यशास्त्र से प्रभावित होकर अलंकार शास्त्र विषयक ग्रन्थों की रचना की।

शुक्ल युग

मूलत: द्विवेदी युगीन उपयोगितावाद की प्रतिक्रिया होने के कारण शुक्लयुगीन छायावादी काव्य उपयोगितावाद का विरोधी है। इसीलिए इस युग के कवियों ने द्विवेदीयुगीन इतिवृत्तात्मकता के विरुद्ध सूक्ष्म भावनाओं की प्रतिष्ठा की तथा तत्कालीन ईसाई धर्म प्रचारकों के आरोपों के विरुद्ध प्राचीन भारत के प्राणवान मूल्यों को प्रतिष्ठित किया, मानव मात्र की स्वाधीनता जैसे पक्षों पर जोर दिया, जिससे इनके काव्यों में मूल्यों की अभिव्यक्ति व्यापक मानवीय स्तर पर हुई।

शुक्ल, प्रेमचंद और जयशंकर प्रसाद विवेच्ययुग के ऐसे कृतिकार हैं, जिन्होंने गद्य विधाओं को समृद्ध करने में उल्लेखनीय योगदान दिया। प्रसाद ने पाठकों के हृदय में उत्साह, गौरव तथा प्रेरणा का संचार करने के लिए अपने नाटकों

---

1 डॉ० श्यामसुन्दरदास : अलंकार का प्रयोजन अंग विशेष को अधिक आकर्षक बना देता है..... ।

2 सम्पा० श्यामसुन्दरदास : कबीर ग्रन्थावली, भूमिका ।

3 अलंकार मंजरी, अलंकार पीयूष ।

में अतीतकालीन गौरवपूर्ण इतिहास को ही प्रतिपाद्य के रूप में अपनाया । शुक्ल तो भारतीय रसवाद से अत्यधिक प्रभावित हैं । आपकी समीक्षा का सैद्धान्तिक आधार भारतीय रसवाद ही है । वे हिन्दी के पहले आलोचक हैं, जिन्होंने भारतीय काव्यशास्त्र की अतल गहराई में प्रवेश करके उसकी महत्ता एवं उपयोगिता के प्रति पूर्ण विश्वास व्यक्त किया[१] । यह नहीं कि शुक्ल ने केवल रस सिद्धान्त का ही अध्ययन,मनन किया हो, उन्होंने रीति, अलंकार, ध्वनि,वक्रोक्ति, गुण और औचित्य इत्यादि के सिद्धान्तों का भी अध्ययन किया था, किन्तु काव्य में उनकी सत्ता उन्हें वहीं तक मान्य थी, जहाँ वे रस के पोषक या आश्रित बनकर उपस्थित हों । उनके अनुसार काव्य की आत्मा भाव या रस है[२] । रस की परिभाषा देते हुए वे कहते हैं, जिस प्रकार आत्मा की मुक्तावस्था ज्ञानदशा कहलाती है,उसी प्रकार हृदय की मुक्तावस्था रसदशा कहलाती है[३] । अलंकारों को वे काव्य का बाह्यस्वरूप मानते हैं,आभ्यन्तरिक नहीं[४] । मैं अलंकार को वर्णन प्रणाली मात्र मानता हूं, जिसके अन्तर्गत किसी वस्तु का वर्णन किया जा सकता है । वस्तु निर्देश अलंकार का काम नहीं है[५] । वे इनका उपयोग भी भाव सौन्दर्य की सृष्टि करने में ही मानते हैं[६] । शुक्ल अलंकारों को साधनमात्र मानते हैं, साध्य नहीं-- ये प्रस्तुत वस्तु या भाव के उत्कर्ष करने के साधन मात्र हैं[७] । रीति को शुक्ल ने केवल शरीर का अंगविन्यास मात्र माना है[८] । ध्वनि को भी वे काव्य की आत्मा

----

१ रामचन्द्र शुक्ल : चिन्तामणि,भाग२,पृ०सं० १८६ ।

२ वही, : रसमीमांसा,पृ०सं०१०५ ।

३ वही, पृ०सं०१ ।

४ वही, पृ०सं० १०५ ।

५ वही, काव्य में प्राकृतिक दृश्य(निबन्ध)

६ वही, गोस्वामी तुलसीदास,पृ०सं० १६१ ।

७ वही, चिन्तामणि, पृ०सं० २४८ ।

८ वही, रसमीमांसा, पृ०सं० ३७० ।

मानने के लिए तैयार नहीं, क्योंकि काव्यत्व का अधिवास वे व्यंग्यार्थ में न मानकर वाच्यार्थ में मानते हैं[1]।

शुक्ल ने रस को आध्यात्मिक भूमि से उतार कर वैज्ञानिक आधार प्रदान किया है तथा जहाँ काव्य को पार्थिव जगत की ही एक रागात्मक प्रक्रिया माना है, वहाँ रस को भी पार्थिव आनन्द माना है-- अध्यात्म की मेरी समझ में काव्य और कला के क्षेत्र में कहीं कोई जरूरत नहीं है[2]। इसे और स्पष्ट करते हुए वे कहते हैं कि इसी आध्यात्मिक शब्द के काव्य या समीक्षा में आ जाने के कारण अनुभूति की सच्चाई की भी कम परवाह की जा रही है[3]। उनका यही दृष्टिकोण उन्हें रहस्यवादी कवियों की आध्यात्मिक चेतना से भिन्न स्तर पर अधिष्ठित करता है।

आचार्य शुक्ल की काव्यगत सौन्दर्यमूलक भावनाओं का आधार भी भारतीय रससिद्धान्त ही है। उन्होंने सौन्दर्य को निरपेक्ष अथवा एक विशिष्ट आत्मतोष नहीं माना, वे तो काव्यगत सौन्दर्य को कर्म और मनोवृत्ति को उभारने वाला ही एक तत्त्व मानते हैं और इस भाँति सौन्दर्य का मूल सम्बन्ध सीधा-सादा रस शास्त्र से जोड़ देते हैं--कुछ रूप रंग की वस्तुएँ ऐसी होती हैं, जो हमारे मन में आते ही थोड़ी देर के लिए हमारी सत्ता पर अधिकार कर लेती है...... हमारी अन्तस्सत्ता की यही तदाकार परिणति सौन्दर्य की अनुभूति है[4]। वे जीवन के सौन्दर्य को वैचित्र्यपूर्ण मानते हुए उसमें सभी प्रकार के भावों का समावेश आवश्यक समझते थे। यही कारण है कि उन्होंने निष्क्रिय सौन्दर्य चित्रण को केवल स्वप्नद्रष्टाओं का उपजीव्य बतलाकर उसमें उस व्यापक भावभूमि का अभाव सिद्ध किया है, जिसकी पवित्रता में व्यक्ति जीवन लोकजीवन में

---

१ द्रष्टव्य-- रामचन्द्र शुक्ल का इन्दौर वाला भाषण।

२ रामचन्द्र शुक्ल : रसमीमांसा, पृ०सं० ६६।

३ वही, चिन्तामणि, भाग२, पृ०सं० २१८।

४ वही, चिन्तामणि, भाग१, पृ०सं० १६५।

लय होकर उसमें विश्व हृदय का स्पन्दन पाता है[1]। सौन्दर्यानुभूति को शुक्ल मंगल-विधायिनी मानते हैं[2] तथा सौन्दर्य और मंगल उनकी दृष्टि में पर्याय हैं[3]। उनकी इन सौन्दर्य संबंधी धारणाओं के मूल में संस्कृत साहित्य और उसका महान काव्यशास्त्र ही है जो अपने मौलिक रूप में आदर्शवादिता लिए हुए हैं। यही कारण है कि पाश्चात्य विचारकों की सौन्दर्य विषयक धारणा उन्हें भाषा के गड़बड़झाले के सिवा और कुछ नहीं लगती[4]। रस, अलंकार, सौन्दर्य एवं आनन्द के विषय में शुक्ल जी ने जहाँ संस्कृत आचार्यों-- भरत, विश्वनाथ, आनन्दवर्द्धनाचार्य, पंडितराज जगन्नाथ, क्षेमेन्द्र, भामह, मम्मट इत्यादि का प्रभाव ग्रहण किया, वहाँ वे वाल्मीकि, भवभूति, कालिदास तथा तुलसीदास इत्यादि से भी प्रभावित हुए हैं[5]।

निष्कर्षत: हम कह सकते हैं कि शुक्लजी मूलत: रसवादी आलोचक हैं और यह प्रभाव उन्होंने भारतीय साहित्य-चिन्तन से ग्रहण किया है।

प्रेमचन्द ने साहित्य कहलाने का अधिकारी उसी रचना को माना है, जिसको पढ़ने से मन में सौन्दर्य, प्रेम जागरित हो[6]। अन्यथा वे उसे साहित्य कहाने का अधिकारी भी नहीं मानते। उन्होंने जीवन संग्राम में भी सौन्दर्य के ही दर्शन किये। सौन्दर्य के प्रति उनका यह आकर्षण भारतीयता के प्रति अत्यधिक निष्ठा के कारण ही है।

जयशंकर प्रसाद ने रस का निरूपण करने में काव्य के सम्बन्ध में प्रतिष्ठित शैवागमों की आनन्दवादी धारा का उपयोग किया है। वैसे तो रसवाद की परम्परा अत्यंत प्राचीन है, परन्तु उसकी वास्तविक प्रतिष्ठा भरत के नाट्यशास्त्र से मानी जाती है। भरत के परवर्ती आचार्यों ने भी रस का विश्लेषण किया। प्रसाद ने मुख्यरूप से आनन्दवर्द्धन, अभिनवगुप्त तथा पंडितराज जगन्नाथ के उन दृष्टिकोणों का स्पष्टीकरण किया है, जिनके अनुसार रस काव्य की आत्मा है तथा जिसकी अनुभूति आनन्द तत्त्व से समन्वित रहती है। इस प्रकार उन्होंने इस मान्यता पर विशेष

---

१ शुक्ल : चिन्तामणि, भाग२, पृ०सं०४६ ।

२ वही, भाग१, पृ०सं० १६६ ।

३ वही, भाग२, पृ०सं०५३ ।

४ वही, रसमीमांसा, पृ०सं०२६ ।

५ वही, चिन्तामणि, भाग२, पृ०सं०१२

बल दिया जिसके अनुसार रसवाद मूलत: आनन्दपरक है। आनन्दवर्द्धन ने आगमानुयायी आनन्द सिद्धान्त के रस को तार्किक अलंकार मत से सम्बद्ध किया ।.... अभिनवगुप्त ने अभेदमय अब आनन्दपथ वाले शैवाद्वैतवाद के अनुसार साहित्य में रस की व्याख्या की[1]। मतलब यह कि प्रसाद जी के मतानुसार रस के सम्बन्ध में की गई आनन्दवादियों की व्याख्या सबसे अधिक पूर्ण है। उन्होंने वस्तुत: काव्यानन्द को ब्रह्मानन्द सहोदरत्व की तत्त्व योजना से संयुक्त कर नाट्यरसों में आत्मा के अभिनय को वासना या भाव को अभेद आनन्द के स्वरूप में ग्रहण करने की पुष्टि की है[2]। रस संप्रदाय की श्रेष्ठता पर प्रसादका इतना अधिक विश्वास ह कि वे ध्वनि,रीति,अलंकार और वक्रोक्ति पर उसकी प्रमुखता स्वीकार करना समुचित समझते हैं। उन्होंने रस और अलंकार की कोटियों में ही साहित्य का विभाजन किया है,जो क्रमश: आनंदऔर विवेक वाले अद्वैत और द्वैत दर्शन से अनुप्राणित है।

रसवाद के अतिरिक्त दूसरी मान्यता प्रसादजी की रहस्यवाद से सम्बन्धित है। रहस्यवाद के मूल में उन्होंने भारतीय दर्शन के आनन्दवाद की प्रतिष्ठा पर कर उसके आनुषंगिक रूप में रीति,प्रीति,सौन्दर्य तथा अद्वैत भक्ति का भी सामान्य निरूपण किया है। उनके लिए रहस्यवाद और आनन्दवाद पर्याय हैं। वे रहस्यवाद को पूर्णत: भारतीय मानते हुए उसका विकास वैदिक काल के ऊषा और नासदीय सूक्तों से ही मानते हैं। काम को भी प्रसाद ने प्रेम का प्राचीन वैदिक रूप कहकर उसकी व्यापकता की प्रशंसा की है[3]। हमारे यहाँ ब्रह्म को मूर्त और अमूर्त इन दोनों रूपों में कल्पना होने के कारण उसे जिस आध्यात्मिक आलोक में देखने का प्रयत्न किया गया है, वह प्रसादजी की शैवदर्शन और आनन्दवादी विचारधारा के अत्यन्त निकट है। उनके अनुसार रूप के अभाव में सौन्दर्यबोध नहीं हो सकता। वे सौन्दर्यानुभूति को भारतीय दर्शन के अभेदवाद पर आधृत करते हैं,मूर्त और अमूर्त की सौन्दर्य बोध सम्बन्धी दो धारणाएँ अधिक महत्व नहीं रखतीं। उन्होंने काल को एक श्रेयमयी रचनात्मक ज्ञानधारा कहा है[4]। उनकी यह मान्यता उनके गंभीर भारतीय

---

१ प्रसाद : काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध,पृ०सं०७५-७६।
२ प्रसाद : वही,पृ०सं० ८२ ।
३ वही,पृ०सं० ४७ ।
४ वही, पृ०सं० ३८ ।

चिन्तन का ही परिणाम है[1]। इसी प्रकार काव्य और कला सम्बन्धी उनके विचार भी भारतीयता से प्रभावित हैं।

प्रसाद छायावाद को भी काव्य का नूतन आन्दोलन नहीं मानते। उनका छाया शब्द का विवेचन शास्त्रीय और प्रमाण सम्मत है। वे ध्वनिकार के मत से सहमत होते हुए 'छाया' का तात्पर्य कान्ति या लावण्य मानते हैं--'इस लावण्य को संस्कृत साहित्य में छाया और विच्छित्ति के द्वारा निरूपित किया गया था[2]। अतः प्रसाद के मतानुसार तो यह छायावाद प्राचीन साहित्य में ही अपना स्थान बना चुका था[3]।

सम्पूर्ण शुक्लयुगीन साहित्य चिन्तन किसी स्थूल नैतिक उपदेश से अधिक आनन्ददायक है। आह्लादित करने की शक्ति ही इस युग के काव्य की आत्मा है। शुक्लयुग के चिन्तक उपदेशों के विरोधी हैं। निराला जी अपने सम्बन्ध में लिखते हैं-- सूक्तियाँ और उपदेश मैंने बहुत कम लिखे हैं, प्रायः नहीं, केवल चित्रण किया है। उपदेश को मैं कवि की कमजोरी मानता हूं[4]।

निराला ने वैदिककालीन साहित्य की स्वच्छन्द सृष्टि की प्रशंसा कर परवर्ती काल के उस साहित्य की निन्दा की है जो अनुशासन के नाम पर अनेक प्रकार के बन्धनों से मुक्त बना दिया गया है[5]। उनके मतानुसार साहित्य का फैलाव इतना है जो किसी सीमा में नहीं आता।

निराला ने काव्य कला को सौन्दर्य की पूर्ण सीमा माना है। इसी प्रतिमान से उन्होंने संस्कृत के सुमधुर कवि कालिदास की कृतियों का परीक्षण किया है। उनके विचार से कला केवल वर्ण, छन्द, शब्द, अनुप्रास, रस, अलंकार या ध्वनि के पृथक् सौन्दर्य में सीमित नहीं हो सकती, उसका सौन्दर्य इन

----

१ प्रसाद : काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध, पृ०सं० ३५।

२ वही, पृ०सं० १२४-१२५।

३ वही, पृ०सं० १२७

४ निराला : प्रबन्ध प्रतिमा, पृ०सं० २८४।

५ वही, प्रबन्ध पद्म, पृ०सं० १०।

सभी के सामंजस्य में है[1]।उनके विवेचन का निष्कर्ष यही है कि वे कला को खण्ड रूप में न देखकर सम्पूर्ण रूप में देखते हैं।

पंत जी का काव्यादर्श नवीनता का अन्वेषी होते हुए भी रसवाद का विरोधी नहीं है। उनके कल्पना-वैभव से रस की भूमि व्यापक हुई है। विषय की आत्मा तक पहुंचने के लिए पंत ने सूक्ष्म कल्पनाओं का पूरा उपयोग किया है-- मैं कल्पना के सत्य को सबसे बड़ा सत्य मानता हूँ और इसे ईश्वरीय प्रतिभा का अंश भी मानता हूँ। मेरी कल्पना को जिन-जिन विचार-धाराओं से प्रेरणा मिली है, उन सब का समीकरण करने की मैंने चेष्टा की है[2]।

पंत जी सौन्दर्य प्रबुद्ध कलाकार हैं। आपका विश्वास है कि सौन्दर्य सत्य के माध्यम से शिवत्व में परिणत हो जाता है,इसीलिए सौन्दर्य, सत्य और शिव का समन्वय करते हुए लिखते हैं-- मुझे लगता है कि सत्य शिव में स्वयं निहित है, जिस प्रकार फूल में रूप रंग है,फल में जीवनोपयोगी रस और फूल की परिणति फल में सत्य के नियमों द्वारा ही होती[3] है, उसी प्रकार सुन्दरम् की परिणति शिवम् में सत्य द्वारा ही हो सकती है। सौन्दर्य का विधान करने वाली कला को भी पंत ने जीवन का विरोधी नहीं,माना है[4]।इसी प्रकार उन्होंने प्राचीन भारतीय अलंकार एवं छंद का भी कविता के साथ घनिष्ठ संबंध माना है-- कविता हमारे प्राणों का संगीत है,छंद हृत्कंपन, कविता का स्वभाव ही छंद में लयमान होता है। तथा अलंकार[5] केवल वाणी की सजावट के लिए नहीं, वे भाव की अभिव्यक्ति के विशेष द्वार हैं।

---

१ निराला : प्रबन्ध प्रतिमा, पृ०सं० २७२ ।

२ पंत : आधुनिक कवि,भाग२,पर्यालोचन ।

३ पंत, वही, पृ०सं० १२ ।

४ पंत : गद्य पथ,पृ०सं० १४५ ।

५ वही, पृ०सं० २०-२२ ।

प्राचीन भारतीय कवियों को प्रेरणा प्रदान करने वाली सुन्दर प्रकृति ने पंत के काव्य को भी प्रेरणा प्रदान की है। उन्होंने स्वीकार किया है कि कविता करने की प्रेरणा उन्हें सबसे पहले प्रकृति-निरीक्षण से मिली।[1]

महादेवी वर्मा के विवेचन का प्रमुख दृष्टिबिन्दु जीवन है जिसके अन्तर्गत उन्होंने सत्य और सौन्दर्य का अभिव्यंजन कला के माध्यम से स्वीकार किया है। वे सत्य को काव्य का साध्य एवं सौन्दर्य को उसका साधन मानती हैं। उनका कहना है-- सत्य की प्राप्ति के लिए काव्य और कलाएँ जिस सौन्दर्य का सहारा लेते हैं, वह जीवन की पूर्णतम अभिव्यक्ति पर आश्रित है, केवल बाह्य रूप रेखा पर नहीं[2]। सौन्दर्य के माध्यम से ही सत्य की अनुभूति की प्रक्रिया को भी वे आनन्दमय मानती हैं। रहस्यवाद को वे छायावाद का दूसरा सोपान मानती हैं तथा रहस्यवाद में द्वैत की स्थिति एवं अद्वैत के आभास को आवश्यक मानती हैं[3]। उपनिषदों में द्वैत की स्थिति एवं अद्वैत का आभास मिल जाता है।

महादेवी ने काव्य में कल्पना का विशेष महत्व स्वीकार कर भारतीय साहित्य में प्रकृति सौन्दर्य से उद्भूत ऐश्वर्यमयी कल्पना के चित्रमय स्वरूप की अत्यन्त प्रशंसा की है। प्रकृति के आकर्षण को स्वीकार करते हुए वे कहती हैं-- छायावाद ने मनुष्य के हृदय और प्रकृति के उस सम्बन्ध में प्राण डाल दिये जो प्राचीन काल से बिम्ब प्रतिबिम्ब के रूप में चला आ रहा था और जिसके कारण मनुष्य को अपने दु:ख में प्रकृति उदास और सुख में पुलकित जान पड़ती थी[4]। इस प्रकार महादेवी जी में भारतीय दर्शन और साहित्य के प्रति अद्भुत आस्था का प्रभाव है।

डॉ० रामकुमार वर्मा आत्मा की गूढ़ और छिपी हुई सौन्दर्य राशि का भावना के आलोक से प्रकाशित हो उठना ही कविता मानते हैं[5]।

----

१ पंत : आधुनिक कवि, भाग२, पर्यालोचन, पृ०सं० ७।

२ गंगाप्रसाद पाण्डेय : महादेवी का विवेचनात्मक गद्य, पृ०सं०८८।

३ वही, पृ०सं० १२४।

४ वही, पृ०सं० ६१।

५ डॉ० रामकुमार वर्मा : आधुनिक कवि, भाग३, पृ०सं० ५।

शुक्लोत्तर युग

शुक्लोत्तर युग में पराधीनता की बेड़ियों में जकड़ा भारतवर्ष स्वतन्त्र हुआ, अत: प्रतिक्रिया स्वरूप जैसे साधारण जन-जीवन में परिवर्तन आए,वैसे ही अनेकश: परिवर्तन साहित्य-चिन्तन में के क्षेत्र में भी दिखाई देने लगे । इन परिवर्तनों के फलस्वरूप पाश्चात्य प्रभाव से प्रभावित होने पर भी साहित्यकार प्राचीन भारतीय साहित्य चिन्तन के प्रभाव से अलिप्त न रह सका ।

इस युग के चिन्तकों में सर्वप्रथम बाबू गुलाबराय आते हैं । बाबू गुलाबराय ने अपने विवेचन का मूल आधार भरत के नाट्यशास्त्र को माना है और बतलाया है कि हमारे जीवन में भाव और मनोवेगों का कितना अधिक महत्त्व है ।[1] वे वस्तुत: रस को मनोवेग नहीं,वरन् मनोवेगों का आस्वादन मानते हैं । रस निष्पत्ति के सम्बन्ध में भट्ट लोल्लट ,शंकुक,भट्ट नायक तथा अभिनवगुप्त की मान्यताओं का समीक्षण करते हुए उन्होंने भारतीय साहित्य की सामान्य मान्यता के अनुरूप यही स्वीकार किया है--वह (रस) तो काव्यगत विभावादि द्वारा उद्बोधित एवं रजोगुण तमोगुण विमुक्त सतोगुण प्रधान, आत्मप्रकाश से जगमगाते हुए सहृदय के वासनागत स्थायीभाव का आस्वादजन्य आनन्द है ।[2] रस के प्रति उनका झुकाव उनके इसी कथन से स्पष्ट हो जाता है कि मैंने कलापक्ष की अवहेलना न करते हुए भी भावपक्ष को अधिक मुख्यता दी है ।[3] यही कारण है कि काव्य की आत्मा पर प्रकाश डालने वाले विभिन्न भारतीय मतों (ध्वनि,अलंकार,वक्रोक्ति,रीति) का विवेचन करने के पश्चात् वे रस पर ही ज़ोर देते हैं,क्योंकि 'वह रमणीयता का चरम लक्ष्य है और अर्थ की अर्थ स्वरूपा ध्वनि का भी विश्रामस्थल है । इसलिए वह परमार्थ है, स्वयंप्रकाश्य, चिन्मय,अखण्ड, ब्रह्मानन्द सहोदर है-- रसो वै स: ।[4]

---

१ गुलाबराय : सिद्धान्त और अध्ययन,पृ०सं० १५ ।

२ वही,पृ०सं० ४० ।

३ वही, अध्ययन और आस्वाद, पृ०सं० ५८ ।

४ वही, सिद्धान्त और अध्ययन,पृ०सं० ४२ ।

रस को बाबूसाहब ने सत्यं,शिवं और सुंदरम् से अनुस्यूत कर यह प्रतिपादित किया कि काव्य के ये मूल प्रतिमान अन्तरावलम्बित है,इनमें पृथकता कहीं भी दृष्टिगत नहीं होती--सौन्दर्य की जो वस्तु अपने लक्ष्य या कार्य के अनुकूल हो वही सुन्दर है।[1] जहाँ गुलाबराय जी बहिर्मुखी हैं वहाँ सौन्दर्य की आन्तरिकता को भी पर्याप्तरूप से प्रधानता देते हैं -- सौन्दर्य बाह्य रूप में ही सीमित नहीं है,वरन् उसका आन्तरिक पक्ष भी है।..... सौन्दर्य का आंतरिक पक्ष ही शिवं है। वास्तव में सत्य,शिव और[1] सुन्दर भिन्न-भिन्न क्षेत्रों में एक-दूसरे के अथवा अनेकता में एकता के रूप हैं। इस प्रकार उन्होंने सौन्दर्य के उपयोगितावादी स्वरूप का उल्लेख किया है। भारतीय मनीषियों में अत्यधिक आस्था होने के कारण उनका यह विश्वास है कि भारतीय मनीषियों ने जो सैद्धान्तिक चिन्तन किया है, वह किन्हीं अंशों में नवीन सिद्धान्तों से भी आगे बढ़ा हुआ है, और कम से कम उससे टक्कर लेने में समर्थ है।[2]

जैनेन्द्र की साहित्यिक मान्यताएँ भारतीय सांस्कृतिक परम्परा के अनुकूल है,इसीलिए उन्होंने उस साहित्य को अच्छा माना है,जो सहृदय के चित्त को प्रसन्न करे-- सहृदय[3] का चित्त मुदित करता है, वह साहित्य खरा। संकुचित करता है वह खोटा। साहित्य में शिव और सुन्दर को उन्होंने सत्य का माध्यम माना है।

आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी के विषय में डॉ० नगेन्द्र का कहना है कि इनका दृष्टिकोण भी रसवादी[4] है, काव्य में अनुभूति को ही इन्होंने प्रधान माना है, अभिव्यंजना को नहीं।

भारतीय रस सिद्धान्त को मान्यता देने के कारण ही वाजपेयी जी साहित्य का उद्देश्य लौकिक या अलौकिक आनन्द की उपलब्धि बतलाते हैं -- साहित्य की आत्मा रस अन्तत: क्या है ? वह मानव मात्र की वह

---

१ गुलाबराय : सिद्धान्त और अध्ययन,पृ०सं० ८२।

२ वही, अपना दृष्टिकोण।

३ जैनेन्द्र : साहित्य का श्रेय और प्रेय,पृ०सं० १२३।

आनन्दात्मक प्रतिक्रिया है, जो श्रेष्ठ साहित्य को पढ़कर उसे उपलब्ध होती है[१]। उन्होंने भारतीय रसशास्त्र को व्यापक रूप देने की बात कही है-- इस सिद्धान्त को इतना विशद् और व्यापक रूप प्रदान किया जा सकता है कि वह सारीसमोदा का मूल आधार बन सके[२]।

वाजपेयी जी को भारतीय साहित्यशास्त्र का पूर्ण ज्ञान एवं सम्यक् बोध है। आप रस को भारतीय काव्यशास्त्र का अंतरंग सत्त्व मानते हैं। आपने सौन्दर्य-बोध पर भी बल[३] दिया है,किन्तु आपका सौन्दर्य-बोध नैतिकता के बन्धनों में बंधकर नहीं चला है, क्योंकि जहाँ आप उसपर आवरण देखते हैं,वहीं आवेश में आ जाते हैं। कविता को आप सौन्दर्यमय चित्रण मानते हैं,जो मनुष्य में सौंदर्य संवेदन उत्पन्न करती है,इसीलिए आप कहते हैं-- काव्य प्राकृत मानव अनुभूतियों का नैसर्गिक कल्पना के सहारे ऐसा सौंदर्यमय चित्रण है जो मनुष्यमात्र में स्वभावत: अनुरूप भावोच्छ्वास और सौंदर्य संवेदन उत्पन्न करता है। यही सौन्दर्य संवेदन भारतीय पारिभाषिक शब्दावली में रससंज्ञा से अभिहित होता है[४]।

वाजपेयी जी ने साहित्य और जीवन का भी घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित करते हुए राष्ट्रीय मूल्यों को विशेष महत्त्व दिया है। प्राचीन भारतीय आचार्यों के रससिद्धान्त से[५] प्रभावित वाजपेयी जी को गांधी दर्शन में भी एक प्रकार की पूर्णता लक्षित हुई।

हजारीप्रसाद द्विवेदी जी की अतीत की चेतना पूर्णत: अपने विकसित रूप में उनकी पुस्तक 'हिन्दी साहित्य की भूमिका' में दिखायी देती है। इसके निवेदन में वे कहते हैं-- [६]हिन्दी साहित्य को संपूर्ण भारतीय साहित्य से विच्छिन्न करके न देखा जाये। उनका मूल मन्तव्य यही है कि हजारी

---

१ नन्ददुलारे वाजपेयी : राष्ट्रीय साहित्य तथा अन्य निबन्ध,पृ०सं० २२।

२ वही, हिन्दी साहित्य बीसवीं शताब्दी,पृ०सं० ६७।

३ वही, आधुनिक साहित्य,पृ०सं० २८२।

४ वही,पृ०सं० ४५६।

५ वही, नया साहित्य नये प्रश्न,पृ०सं० २४१।

६ हजारीप्रसाद द्विवेदी,हिन्दी साहित्य की भूमिका,पृ०सं०७।

संस्कृति के अंग-प्रत्यंग में रमी हुई संस्कृत भाषा साहित्य की ज्ञानराशि इतनी समृद्ध है कि उसको अपनाये बिना हिन्दी भाषा एवं साहित्य कभी भी अपनी समस्याओं को सुलझा नहीं सकता । द्विवेदी जी का साहित्य , संस्कृति, आलोचना एवं शोध सभी कुछ मानव के लिए है । वे साहित्य का लक्ष्य भी मानव का हित ही मानते हैं, इसीलिए सारे मानव समाज को सुन्दर बनाने की साधना को साहित्य कहते हैं[1]। यह साधना मंगल के संकल्प को लेकर ह की जा सकती है । भारतीय संस्कृति की इस देन के प्रति निष्ठावान होकर द्विवेदी जी ने साहित्य के मर्म को हृदयंगम किया है । द्विवेदी जी की इस दृष्टि के निर्माण में संतों का जीवन-दर्शन,मुख्यरूप से कार्य करता है । संतों के जीवनदर्शन से प्रभावित द्विवेदी जी ने संतों के विचारों को भारतीय आचार्यों की देन माना है,तो इस प्रकार वे परोक्षरूप में भारतीय आचार्यों से ही प्रभावित होते हैं -- निर्गुण मतवादी संतों के केवल उग्र विचार ही भारतीय नहीं हैं, उनकी समस्त रीति-नीति, साधना, वक्तव्य, वस्तु के प्रति उपस्थापन की प्रणाली,छन्द और भाषा भी पुराने भारतीय आचार्यों की देन है[2]।

सौन्दर्य तत्त्व का विवेचन भी द्विवेदी जी ने भारतीय वाङ्मय के गंभीर अनुशीलन के पश्चात् ही किया है[3]। सौन्दर्य क्षेत्र में उन्होंने कालिदास से प्रेरणा प्राप्त की है ।

इस युग के एक अन्य समर्थ चिन्तक डॉ० नगेन्द्र हैं । डॉ० नगेन्द्र ने साहित्य की आत्मा को रसरूप में ही विवेचित किया है । नगेन्द्र जी रस विवेचन में भारतीय सिद्धान्तों के ही अधिक निकट हैं-- मैं काव्य में इस (रस) सिद्धान्त को ही[4] अंतिम सिद्धान्त मानता हूँ । उसके बाहर न काव्य की गति है और न सार्थकता । उनका रस सिद्धान्त अभिनवगुप्त के सिद्धान्तों से ही अनुपोषित है । उन्हों ने रसपूर्ण रचना में आनन्द तत्त्व की स्थिति को आवश्यक माना है,

----

१ हजारीप्रसाद द्विवेदी : कल्पलता,पृ०सं० १४० ।

२ वही, हिन्दी साहित्य की भूमिका,पृ०सं० २७ ।

३ वही, कालिदास की लालित्य योजना ।

४ डॉ० पद्मसिंह शर्मा 'कमलेश' : मैं इनसे मिला था ,पृ०सं० १५१ ।

किन्तु यह आनन्द मनोरंजन मात्र से निश्चय ही भिन्न ह कोटि का समझा जाना चाहिए-- जिस काव्य में रागात्मक आस्वाद प्रदान करने की क्षमता जितनी अधिक होगी, उतना ही उसका मूल्य होगा[१]। नगेन्द्र ने कलाकृति के साथ अपनी अन्तर्वृत्तियों के सामंजस्य में ही सच्चा आनन्द निष्पन्न माना है[२]। रस की शाश्वतता के प्रति उनका अखंड विश्वास है, इसीलिए वे नयी कविता को चुनौती देते हुए कहते हैं कि नयी कविता का कल्याण इसी में है कि वह रसमय बन्धनों को स्वीकार कर ले[३]। प्राचीन भारतीय सम्प्रदायों -- अलंकार, रीतिवक्रोक्ति, ध्वनि और औचित्य में भी वे किसी न किसी प्रकार रस की महत्ता को दर्शा ही देते हैं।

डॉ० नगेन्द्र की सौन्दर्य चेतना भी अत्यधिक विकसित है, वह बौद्धिकता को सौन्दर्यस्थलों पर रुकने के लिए बाध्य करती है। वे मानते हैं कि सच्चा कलाकार सौन्दर्य की सृष्टि करने के लिए ही कला की साधना करता है[४]। यहाँ शंका यह उठती है कि नगेन्द्र तो साहित्य में आत्माभिव्यक्ति पर ज़ोर देते हैं तो यहाँ सौन्दर्य की सृष्टि करना, कला का उद्देश्य कैसे मान लिया है तो इसका समाधान भी उन्हीं के कथन द्वारा हो जाता है -- उसका (सौन्दर्य) निर्माण भी तो कलाकार की अपनी भावनाओं और धारणाओं के आधार पर ही होता है[५]।

रस को सर्वोपरि मानते हुए भी डॉ० नगेन्द्र ने भावों के साथ शैली (रीति) के संयोग को अनिवार्य माना है, क्योंकि उनके विचार से शैली के अभाव में भाव असहाय हो जाते हैं।

---

१ डॉ० नगेन्द्र : आलोचक की आस्था, पृ०सं० ५।

२ डॉ० नगेन्द्र : विचार और अनुभूति, पृ०सं० १४।

३ डॉ० नगेन्द्र : रस सिद्धान्त, पृ०सं० ३४६।

४ डॉ० नगेन्द्र : आलोचक की आस्था, पृ०सं० २।

५ वही, पृ०सं० ३।

डॉ० रामविलास शर्मा के साहित्य-चिन्तन पर पाश्चात्य साहित्य चिन्तन के प्रभाव के अतिरिक्त हिन्दी के मध्ययुगीन साहित्य चिन्तन का भी प्रभाव पड़ा है। वे संत साहित्य की जनवादी चेतना से प्रभावित हुए हैं[१]। कबीर और तुलसी आदि संतों ने सहज मानवता की प्रतिष्ठा करते हुए जनता को जातीय एवं जनवादी चेतना को पुष्ट किया था। इसी जनवादी चेतना को शर्मा जी ने अपने चिन्तन का विषय बनाया, अत: उनपर संतों के साहित्य का प्रभाव भी लक्षित होता है। संत साहित्य हमें वह जनवादी आधार देता है, जिसपर नयी जनसंस्कृति का प्रासाद बनायाजायेगा, ऐसी संस्कृति का, जिसका उद्देश्य जनकल्याण होगा[२]।

आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र की संस्कृत के साहित्यशास्त्र पर अगाध आस्था है। संस्कृत शास्त्रों द्वारा प्रदत्त साहित्य के प्रतिमानों को वे सर्वेसर्वा मानते हैं और इन्हीं के आधार पर भावी साहित्य का निर्माण मंगलमय हो सकता है-- इस सूत्र में अपनी आस्था रखते हैं। वे रस को ही काव्य की आत्मा मानते हैं[३]।

आचार्य बलदेव उपाध्यायजी[४] ने संस्कृत साहित्यशास्त्र का मूलाधार लेकर साहित्य के सार्वभौमिक और सार्वजनिक मूल्यों की उद्भावनाएँ की हैं।

इन समस्त विद्वानों के अतिरिक्त पं० रामदहिन मिश्र[५], डॉ० भगीरथ मिश्र[६], डॉ० आनन्दप्रकाश दीक्षित[७], डॉ० गोविन्द त्रिगुणायत एवं डॉ० सत्यदेव चौधरी[८] आदि पर भी भारतीय साहित्यशास्त्र का प्रभाव लक्षित होता है।

---

१ डॉ० रामविलास शर्मा : द्रष्टव्य--निबन्ध१-संत साहित्य की ऐतिहासिक भूमिका,
२- संत साहित्य के अध्ययन की समस्याएँ।

२ डॉ० रामविलास शर्मा : स्वाधीनता और राष्ट्रीय साहित्य, पृ०सं०९८।

३ पं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र : हिन्दी का सामयिक साहित्य, पृ०सं० १२६।

४ बलदेव उपाध्याय : भारतीय साहित्य शास्त्र, दो भाग

५ रामदहिन मिश्र : काव्य दर्पण, काव्य विमर्श।

६ डॉ० भगीरथ मिश्र : हिन्दी काव्यशास्त्र का इतिहास।

७ डॉ० आनन्दप्रकाश दीक्षित : रस सिद्धान्त: स्वरूप और विश्लेषण

८ डॉ० सत्यदेव चौधरी : भारतीय तथा पाश्चात्य काव्यशास्त्र का संक्षिप्त विवेचन।

इन विद्वानों ने भारतीय साहित्य शास्त्र के विभिन्न पक्षों एवं सिद्धान्तों का विवेचन आधुनिक दृष्टिकोण से करते हुए हिन्दी साहित्य को विकसित एवं प्रौढ ही किया है । इनके ग्रन्थों में संस्कृत काव्यशास्त्रीय सिद्धान्तों के अनुवाद एवं व्याख्या हुई है ।

(ग) नवीन दृष्टि

आधुनिक युग की साहित्य चेतना का अनुशीलन करने पर पता चलता है कि इसका कार्यकाल अत्यन्त विशद् और व्यापक रहा है ।यह काल विश्लेषण,चिन्तन एवं समीक्षा का काल है । रीतिकाल जिस मौलिक चिन्तन और विश्लेषण के अभाव के कारण साहित्य को कुछ नवीन वस्तु प्रदान नहीं कर पाया था,आधुनिक काल में वही मौलिक चिन्तन और विश्लेषण को प्रवृत्ति आरम्भ में ही जाग गई थी । इस प्रवृत्ति नेसाहित्यशास्त्र को नवीन मार्ग दिखा दिया ।

भारतेन्दु युग से अब तक(नवलेखन) हिन्दी साहित्य चिन्तन का विकास मुख्यत: तीन श्रेणियों में हुआ है-- प्रथम श्रेणी तो उन पुस्तकों की है, जिनके उपजीव्य भारतीय सिद्धान्त हैं । इस श्रेणी में वे पुस्तकें भी आती हैं,जो कि संस्कृत ग्रन्थों का हिन्दी में अनुवाद है । दूसरी श्रेणी उन ग्रन्थों एवं पुस्तकों की है जिनकी विवेचन प्रणाली एवं सिद्धान्त दोनों ही पाश्चात्य हैं । इसके अन्तर्गत पाश्चात्य काव्यशास्त्र के प्रसिद्ध ग्रन्थों का हिन्दी अनुवाद भी सम्मिलित किया जा सकता है । इनमें विभिन्न पाश्चात्य तत्त्वों के आधार पर काव्यस्वरूप की विशद व्याख्या की गई है । तीसरी श्रेणी वह है,जिसमें भारतीय और पाश्चात्य सिद्धांतों का समन्वय किया है । यही हिन्दी की मूलधारा कही जा सकती है । इन तीनों श्रेणियों के के अन्तर्गत आने वाले साहित्यिक ग्रन्थों में हमारे हिन्दी के साहित्य चिन्तक कहाँ तक भारतीय सिद्धान्तों से प्रभावित हुए हैं,और कहाँ तक पाश्चात्य सिद्धान्तों को अपनाकर चले हैं,इसका विवेचन तो हम भारतीय प्रभाव और पाश्चात्य प्रभावशीर्षकों के अन्तर्गत कर चुके हैं । अब हमें देखना यह है कि आधुनिक हिन्दी साहित्य चिन्तकों की नवीन दृष्टियाँ क्या है ?

नवीन दृष्टि से तात्पर्य है कि हिन्दी साहित्य चिन्तकों ने साहित्य के क्षेत्र में कहाँ तक अपनी मौलिक मान्यताएँ स्थापित की हैं। मौलिक मान्यताओं से मेरा मतलब यह नहीं है कि हिन्दी साहित्य चिन्तकों ने प्राचीन भारतीय काव्यशास्त्रीयों अथवा पाश्चात्य साहित्य चिन्तकों के विचारों से एकदम भिन्न किन्हीं और ही विचारों की स्थापना की। मतलब यह है कि भारतीय एवं पाश्चात्य सिद्धान्तों के सम्पर्क में आकर, इन दोनों का प्रभाव ग्रहण करके अथवा दोनों के सिद्धान्तों के मिश्रण से या भारतीय सिद्धान्तों को पाश्चात्य सिद्धान्तों के तथा पाश्चात्य तत्त्वों को भारतीय मान्यताओं के आलोक में रखकर किन नयी मान्यताओं की स्थापना की। क्योंकि जहाँ सिद्धान्तों की उद्भावना करने वाला साहित्यकार साहित्य को एकदम नवीन वस्तु प्रदान करता है, वहाँ उन सिद्धान्तों के आधार पर विवेचना करने वाला विवेचक भी साहित्य को कुछ नवीन देने की क्षमता रखता है। इसी प्रकार सिद्धान्तों एवं उनकी विवेचना का अपने ढंग से संचयन एवं प्रस्तुतीकरण करने वाला रचनाकार भी एक नवीन दृष्टि प्रदान करने में सफल होता है।

उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में यूरोप के जीवन में वैज्ञानिकता, एवं भौतिकता व्याप्त हो गई थी, जिसने प्राचीन धार्मिक अन्धविश्वासों से मानव को मुक्ति दिला दी थी। उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध से ही हिन्दी साहित्य का आधुनिककाल आरम्भ होता है, अतः इस विश्वव्यापी चिन्ताधारा से भारत एवं भारत का हिन्दी साहित्य असम्पृक्त कैसे रह सकता था। मार्क्सवादी और फ्रायडवादी विचारधारा ने यहाँ के साहित्य को भी जड़ काराओं में आबद्ध कर दिया, जिससे भारत में भी नैतिक एवं सांस्कृतिक मूल्यों का कुछ सीमा तक विघटन हुआ तथा भोगवादी और आर्थिक मूल्यों का महत्त्व हो गया, परन्तु यह प्रभाव एकदम ठोस और स्थायी नहीं था, क्योंकि भारत के पास उसका विपुल प्राचीन साहित्य है, उसकी समृद्ध सांस्कृतिक परम्परा है, फलस्वरूप हिन्दीसाहित्य चिन्तक भारतीय एवं पाश्चात्य साहित्य चिन्तकों के तत्त्वों के समन्वय से अपनी मान्यताएँ स्थापित करते हुए आगे बढ़ने लगे।

भारतेन्दु युग

भारतेन्दु युग के विद्वान मुख्यत: अपने समाज और राष्ट्र की दुर्दशा से क्षुब्ध होकर ही साहित्यरचना के कार्य में प्रवृत्त हुए हैं, अत: उनकी रचनाओं में देश की अधोगति का क्षोभ ही विभिन्न भावनाओं के रूप में व्यक्त हुआ है। पराधीन राष्ट्र एवं समाज की अधोगति का वर्णन करते हुए देशवासियों को स्वतंत्र होने की प्रेरणा देने वाले इस युग के साहित्य चिन्तकों में नवीन दृष्टि के रूप में राजनैतिक जागरूकता ही दिखायी पड़ती है[1]। इन्होंने साहित्य में किसी वर्ग विशेष को महत्त्व न देकर जनकल्याण पर बल दिया है।

विवेच्य युग के प्रमुख चिन्तक भारतेन्दु राष्ट्र के लिए परम्परागत मान्यताओं में युगानुकूल परिवर्तन करना चाहते थे, इसीलिए उन्होंने वैष्णव धर्म के मानवीय एकता रूपी संस्कार को नवयुग की राष्ट्रीय चेतना के साथ सहज भाव से जोड़ लिया था[2]। वे बुद्धिवाद के भी कायल थे। भारतेन्दु जी की मौलिकता रस के क्षेत्र में आनन्द, वात्सल्य, सख्य एवं भक्ति रसों की स्थापना में भी दिखाई पड़ती है[3]।

बालकृष्ण भट्ट के निबन्धों में वैज्ञानिक और तथ्यपरक दृष्टिकोण को बहुत समर्थन मिला है। यहाँ तक कि भट्ट साहब ने वेदों का विवेचन भी उन्हें पौरुषेय मानकर ही किया है[4]।

---

१ द्रष्टव्य-- भारतेन्दु युगीन रचनाएँ।

२ भारतेन्दु हरिश्चन्द्र : स्वर्ग में विचारसभा का अधिवेशन (निबन्ध)

३ हरिश्चन्द्रास्तु वात्सल्यसख्यभक्त्यानन्दाख्यामधिकं रसचतुष्टय मन्यते

ताराचरण तर्करत्न, शृंगार रत्नाकर।

डॉ० रामविलास शर्मा : भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, पृ०सं० १३० पर उद्धृत।

४ हिन्दी प्रदीप, मार्च १८८०, पृ०सं० १७-१६।

द्विवेदी युग

द्विवेदी युग का साहित्य चिन्तक भी समाज-सुधार और राष्ट्रोत्थान की लहर से प्रेरित दिखाई पड़ता है । उसकी अन्तश्चेतना एक निश्चित आधार पर अवलम्बित थी । इस युग के चिन्तकों ने साहित्य को जीवन की एक संजीवनी शक्ति और मंगलविधायिनी प्रेरणा के रूप में देखा और उसकी महत्ता का निरूपण व्यक्तिपरकता से न कर सामाजिक दृष्टिकोण से किया । द्विवेदी युग में जिस प्रकार के काव्य,कहानी,नाटक और उपन्यास आदि लिखे गये, उनमें सर्वत्र समाज सुधार,आदर्शनिष्ठा प्राचीन संस्कृति के प्रति प्रेम तथा अभिनवता का स्वस्थ दृष्टिकोण झलकता था । अत: साहित्य चिन्तकों ने साहित्यकला को जीवन के लिए ही माना तथा उसकी उपयोगिता को लौकिक धरातल से पूर्णतया सम्बद्ध कर दिया । इस युग के प्रवर्तक आचार्य द्विवेदी ने काव्य को सोद्देश्य स्वीकार किया है तथा उसमें उपयोगी, प्रभावपूर्ण,नैतिक तथा नवीन विषयों के समावेश पर बल दिया है[1] । साहित्य के क्षेत्र में द्विवेदी जी का सबसे महत्वपूर्ण कार्य भाषा सम्बन्धी परिष्कार थे[2] । वे स्वयं बहुत सोच-समझकर लिखते थे तथा अपने समकालीन कवियों एवं लेखकों को भी होश हवास दुरुस्त रख लिखने की प्रेरणा देते थे । हाँ मूल्यों के क्षेत्र में इस युग में कोई विशेष नवीन दृष्टि दिखाई नहीं देती है,क्योंकि द्विवेदी जैसे आचार्य प्राचीन भारतीय साहित्य एवं संस्कृति के प्रति विशेष आस्था रखने वाले थे,अत: सम्पूर्ण साहित्य में उपयोगितावादी दृष्टिकोण ही मुख्य रहा है । कहीं-कहीं प्राचीन मान्यताओं को युगानुकूल परिवर्तित करने की बात भी द्विवेदी जी करते थे ।

श्यामसुंदरदास को काव्य की उदात्त तथा विस्तीर्ण भूमि ही ग्राह्य है । जिसमें रस,सौन्दर्य,रमणीय अर्थ,अलंकार तथा भाव आदि विषय उसके[3] प्रमुख अंग बनकर उपस्थित होते हैं, परन्तु काव्य में लोकहितवादी पक्ष को वे कभी भी उपेक्षणीय नहीं समझते । उनका विवेच काव्यकार की साधना विषयक निरूपण

---

1 द्रष्टव्य-- रसज्ञ रंजन,समालोचना समुच्चय,विचारविमर्श,आदि ।

2 सरस्वती पत्रिका के माध्यम से द्विवेदी जी ने हिन्दी भाषा को सुधारने के बहुत प्रयत्न किये थे ।

मौलिक कहा जा सकता है । मुख्यत: इस युग की रचनाओं में भी राजनैतिक जागरूकता की ही नवीन दृष्टि दिखाई पड़ती है ।

शुक्ल युग

शुक्लयुग में प्रथम दोनों युगों को अपेक्षा अधिक व्यापक साहित्य का निर्माण हुआ है,क्योंकि इस युग के साहित्यकारों को भाषा सुधारने का प्रयत्न तो करना ही नहीं पड़ा,उनके समक्ष अत्यधिक परिष्कृत एवं व्याकरण सम्मत हिन्दी भाषा उपस्थित थी,जिसमें उन्हें अपनी प्रतिभा का परिचय देना था । आचार्य शुक्ल ने भारतीय और पाश्चात्य विचारधारा का सम्यक् सामंजस्य करते हुए अपने समीक्षा सिद्धान्तों का निर्माण किया । उन्होंने अलंकारवाद की रूढ़िग्रस्तता को दूर कर उसे जीवन सौन्दर्य का पर्याय बनाकर ग्रहण किया । वे जीवन-सौन्दर्य को वैचित्र्यपूर्ण मानते हुए उसमें सभी प्रकार के भावों का समावेश आवश्यक समझते थे । यही कारण था कि उन्होंने निष्क्रिय सौन्दर्य-चित्रण को केवल स्वप्नद्रष्टाओं का उपजीव्य बतलाकर उसमें उस व्यापक भावभूमि का अभाव सिद्ध किया है,जिसकी पवित्रता में व्यक्तिजीवन लोकजीवन में लय होकर उसमें विश्वहृदय का स्पन्दन पाता है[1] । काव्य के स्वरूप लक्षण में सौन्दर्य के स्थान पर वे रमणीय शब्द को अधिक उपयुक्त समझते थे । शुक्ल जी ने पश्चिमी समीक्षा क्षेत्र में प्रचलित कल्पना का समाहार भारतीय रसवाद में[2] व्याख्यात भावयोग के अन्तर्गत करते हुए उसे काव्य का क्रियात्मक बोधपक्ष माना ह और जो लोग उसके लोक को आध्यात्मिक तथा निराला मानते हैं,उसका विरोध किया-- कल्पना के आधार पर[3] केवल विचित्र मूर्ति विधान प्रस्तुत करना उसे कदापि रसकोटि तक नहीं पहुँचा सकता । काव्य के प्रयोजन पर शुक्ल ने जो दृष्टि डाली है, वह मौलिक है । जीवन में प्राकृतिक दृश्यों द्वारा प्राप्त आनन्द को उन्होंने प्रकृति रस कहा, इस प्रकार प्रकृति रस की भी स्थापना उन्होंने की ।

---

१ शुक्ल : चिन्तामणि,भाग२,पृ०सं० ५६ ।

२ वही,पृ०सं० १७१ ।

३ वही, रसमीमांसा,पृ०सं० २६ ।

प्राचीन भारतीय अलंकारशास्त्र के सिद्धान्तों का आधुनिक नवीन दृष्टि से जो विश्लेषण साहित्यशास्त्र के अन्तर्गत होने लगा है, उसने हिन्दी साहित्य का महान कल्याण किया है । शुक्ल जी के साथ प्रसाद जी ने भी पाश्चात्य विचारधारा को आत्मसात् करके नवीन मनोवैज्ञानिक शैली में अपनी प्राचीन निधि का विशद विश्लेषण किया है । भारतीय दर्शन, इतिहास, साहित्य एवं काव्यशास्त्र के विषय में उनकी निश्चित व्यक्तिगत मान्यताएँ थीं । काव्य और अध्यात्म को समकक्ष निर्दिष्ट कर उन्होंने आनन्द और विवेकवादी दृष्टिकोण से समीक्षण का जो प्रतिमान निर्धारित किया है, वह अभूतपूर्व है । काव्य को आत्मा की संकल्पात्मक अनुभूति मानकर वे उसे विश्लेषण, विकल्प तथा विज्ञान से भिन्न मानते हैं[1] । तथा इसी संकल्पात्मक अनुभूति की मुख्य धारा रहस्यवाद को मानते हैं । आदर्श और यथार्थ दोनों ही उनके मतानुसार साहित्य के अनिवार्य पक्ष हैं, इसी के अनुसार उन्होंने साहित्य की परिभाषा भी की है[2] । प्रसाद ने सौन्दर्यानुभूति एवं कला के विषय में भी अपनी नवीन मान्यताएँ प्रस्तुत की हैं ।

छायावादी काव्यरचना करने वाले निराला मौलिक विचारक थे । उनके निबन्धों में उनकी साहित्य एवं काव्य विषयक निजी मान्यताएँ व्यक्त हुई हैं । साहित्य को वे इस विश्व से बहुत ऊँचा उठा हुआ मानते हैं । अत: उसे किसी प्रकार के बन्धनों में बंधा भी नहीं देख सकते-- साहित्य दायरे से छूटकर ही साहित्य है । साहित्य वह है जो साथ है, वह जो संसार को सबसे बड़ी चीज है[3] । निराला ने छंद के समान कविता की भी मुक्ति मानी है[4] । उनके विचार से मुक्त काव्य साहित्य के लिए किसी भी काल में अनर्थकारी नहीं हो सकता, क्योंकि उसके द्वारा साहित्य में कल्याणमयी स्वाधीन चेतना का संचार होता है । काव्यकला के क्षेत्र में भी उनकी नवीन दृष्टि दिखाई देती है उन्होंने काव्यकला को सौन्दर्य की पूर्ण सीमा माना है ।

---

१ प्रसाद : काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध, पृ०सं०३१ ।

२ वही, पृ०सं० १२३ ।

३ निराला : प्रबन्ध प्रतिमा, पृ०सं० २५८ ।

पंतजी समन्वयशील प्रवृत्ति वाले चिन्तक हैं । उन्होंने भारतीय और पाश्चात्य सिद्धान्तों में जहाँ कहीं मानव-कल्याण के तत्त्व देखे हैं, उनका समन्वय करने का प्रयत्न किया है । समन्वय करने के पश्चात् उन्होंने जो अपनी मान्यताएँ स्थापित की हैं, वही उनकी मौलिकता की प्रतीक है या नवीन दृष्टि की सूचक हैं । उन्होंने कला को जीवन का विरोधी नहीं माना है[1] । पंत जी का काव्यादर्श व्यापक मानवीय दृष्टिकोण पर आधारित है, उसमें उन्होंने सूक्ष्म सौन्दर्य चेतना को समाविष्ट करने का भी प्रयत्न किया है ।

महादेवी जी काव्य का साध्य सत्य की उपलब्धि मानती हैं । उनके मतानुसार काव्य का सत्य जीवन-परिधि से बहिर्गत सिद्ध नहीं होता तथा सौन्दर्य उसका साधन बनता है[2] । ऐसा मानते हुए व्यवस्थित स्पष्टत: उन्होंने काव्य और कला को हृदय तथा मस्तिष्क का संधिपत्र निर्दिष्ट किया है[3] जिसमें रागात्मिका वृत्ति का प्राधान्य है । महादेवी जी ने कलाकार के व्यक्तित्व में दार्शनिक का अन्तर्भाव भी माना है तथा छायावाद पर धर्म के अध्यात्म के साथ-साथ दर्शन के ब्रह्म की छाया भी आरोपित की है । उन्होंने काव्य और करुणा का घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित कर उसे काव्य की मूलभूत प्रेरणा माना है । महादेवी जी का यह निर्णय भी अत्यन्त विवेक सम्मत एवं नवीन है कि मूर्त जगत का यथार्थदर्शी ही अमूर्त जगत का रहस्यद्रष्टा बनकर ही पूर्णता प्राप्त करता है[4] । महादेवी जी ने साहित्य के क्षेत्र में प्रचलित यथार्थ और आदर्श के प्रश्नों तथा मूल्यों पर जो अपनी निजी मान्यताएँ व्यक्त की हैं, वे उनके विशुद्ध सांस्कृतिक और साहित्यिक दृष्टिकोण का ही परिणाम है । देवी जी ने समाज में पुरुष के समान ही नारी को भी उचित मर्यादा देने पर बल दिया है ।

प्रेमचन्द सदैव सामाजिक और राजनैतिक प्रगति के साथ चले हैं । उन्होंने मानवता की व्यापक भूमि का तिरस्कार नहीं किया है । उनकी कृतियों का सृजन केवल कलात्मक सृजन नहीं है, अपितु उनकी सामाजिक उपादेयता कहीं अधिक

---

१ पंत ; गद्यपथ, पृ०सं० १४५ ।

२ महादेवी वर्मा : दीपशिखा (भूमिका), पृ०सं०६ ।

३ गंगाप्रसाद पाण्डेय (सं०) महादेवी का विवेचनात्मक गद्य, पृ०सं०८

४ वही, पृ०सं० १११ ।

महत्वपूर्ण है ।

डॉ० रामकुमार वर्मा ने साहित्य का सम्बन्ध जीवन राष्ट्र और विज्ञान से जोड़ने के पश्चात् उसमें रस तथा मनोविज्ञान की स्थिति पर भी प्रकाश डाला है।[1]

शुक्लोत्तर युग

शुक्लोत्तर युग के साहित्य चिन्तन ने भी विभिन्न आदर्शों के घात संघात के बीच भी नये प्रतिमानों का निर्माण किया ।इस युग के प्रमुख साहित्य चिन्तकों में बाबू गुलाबराय, नन्ददुलारे वाजपेयी,हजारी-प्रसाद द्विवेदी, जैनेन्द्र, अज्ञेय, मुक्तिबोध, इलाचन्द्र जोशी, नगेन्द्र और डा० रामविलास शर्मा हैं ।

बाबू गुलाबराय ने भारतीय एवं पाश्चात्य काव्य-सिद्धान्तों के सम्बन्ध में प्रचलित मतों का समन्वय करते हुए उनमें अन्तर्निहित एकता को उभारने की कोशिश की है । वास्तव में समन्वयवादी होने के कारण उनकी अपनी कोई विशिष्ट मान्यता नहीं है । हाँ, रस के क्षेत्र में बाबू साहब ने देशभक्ति रस को ह भी हिन्दी में स्वीकार किया है । काव्य की परिभाषा उन्होंने प्राचीन भारतीय आचार्यों, पाश्चात्य चिन्तकों तथा आधुनिककाल के कुछ हिन्दी विद्वानों के मतों का समन्वय करने के पश्चात् हो दी है और कहा है-- काव्यसंसार के प्रति कवि की भाव प्रधान (किन्तु क्षुद्र वैयक्तिक सम्बन्धों से मुक्त) मानसिक प्रतिक्रियाओं की कल्पना के ढाँचे में ढली हुई,श्रेय की प्रेमरूपा प्रभावोत्पादक अभिव्यक्ति है।[2]

वाजपेयी जी की साहित्यिक दृष्टि शुक्ल युग की नैतिकता एवं मर्यादासम्पन्न दृष्टि से विपरीत थी,क्योंकि वे नैतिकता का बन्धन स्वीकार

---

१ डॉ० रामकुमार वर्मा : द्रष्टव्य-- पुस्तकें साहित्यशास्त्र, साहित्य समालोचना

२ गुलाबराय : सिद्धान्त और अध्ययन,पृष्ठ०५० ।

नहीं करते । वाजपेयी जी तो काव्य को सौन्दर्यमूलक स्वच्छन्दतावादी दृष्टि से विवेचित करना ही अच्छा समझते हैं । उनकी समस्त शैली तो सम्पूर्णत: सौन्दर्य की खोज और व्याख्या की ही शैली है । वाजपेयी जी ने भी पाश्चात्य एवं भारतीय सिद्धान्तों के सुन्दरतम तत्त्वों का समन्वय करते हुए अपने मत निर्धारित किए हैं,इसीलिए जहाँ वे कल्पना को काव्य का नियामक तत्त्व मानते हैं,वहां काव्यसृष्टि का उद्देश्य लौकिक या अलौकिक आनन्द की उपलब्धि बताते हैं । इस प्रकार भारतीय एवं पाश्चात्य मतों का समन्वय करके उन्होंने नवीन परिभाषा प्रस्तुत की है । साहित्य और जीवन का सम्बन्ध वाजपेयी जी ने बहुत व्यापक अर्थ में स्वीकार किया है[१] । वे साहित्यकार को युगीन परिवेश में ही कारावद्ध करना उचित नहीं समझते,क्योंकि साहित्यकार वर्तमान में रहता हुआ भी अतीत और भविष्य को अंकस्थ किये रहता है ।

हजारी प्रसाद द्विवेदी जी की साहित्य को सबसे बड़ी देन यह है कि उन्होंने साहित्य-जगत को मानववादी दृष्टिकोण प्रदान किया है। उनके शब्दों में-- साहित्य मानव जीवन से सीधा उत्पन्न होकर सीधे मानव जीवन को प्रभावित करता है । साहित्य में उन सारी बातों का जीवन्त विवरण होता है, जिसे मनुष्य ने देखा है, अनुभव किया है, सोचा है और समझा है[२] । द्विवेदी जी ने काव्य,साहित्य,ज्ञान विज्ञान,कला तथा दर्शन सभी के मूल में मानवीय चेतना को ही लक्षित किया है । उनका उन लोगों से कट्टर विरोध है जो साहित्य को केवल कला कल्पना के वायवी स्वरूप के रूप में देखते हैं और जिसमें मानवता का भव्यतम लक्ष्य नहीं पाते[३] । द्विवेदी जी ने सौन्दर्य तत्त्व का विवेचन भी मानव सत्य के संदर्भ में ही किया है ।

जैनेन्द्र ने अपने चिन्तन द्वारा विशेष ढंग से सत्य का साक्षात्कार किया है । वे मानव का सम्पूर्ण विकास भी सत्य की साक्षात्

---

१ नन्ददुलारे वाजपेयी : आधुनिक साहित्य,पृ०सं० ४५५ ।

२ हजारीप्रसाद द्विवेदी : साहित्य सहचर,पृ०सं० ३ ।

३ वही : कालिदास की लालित्य योजना,पृ०सं०८६ ।

चेष्टा का ही परिणाम मानते हैं । इस सत्य को साक्षात् चेष्टा में मनुष्य जो कुछ अनुभव करता है, वही अनुभूति जब लिपिबद्ध होकर सामने आती है, उसे जैनेन्द्र साहित्य कहते हैं । जैनेन्द्र का दृष्टिकोण भी मुख्यत: मानववादी ही रहा है ।[1]

अज्ञेय वैज्ञानिक, मनोवैज्ञानिक दार्शनिक एवं कलात्मक आदि सभी मूल्योंको महत्त्व देते हैं, परन्तु सर्वाधिक महत्त्व अज्ञेय ने स्वतन्त्रता को दिया है।[2] नवीन मानवतावाद में आस्था रखने के कारण वे मानसिक स्वातन्त्र्य को अनिवार्य मानते हैं, क्योंकि इसके अभाव में सांस्कृतिक विकास नहीं हो सकता, ऐसा उनका विचार है । अज्ञेय के चिन्तन पर यद्यपि पाश्चात्य चिन्तन का गहरा प्रभाव है, परन्तु उन्होंने उस चिन्ताधारा को आत्मसात् सा कर लिया है । यही कारण है कि उनके सम्पूर्ण चिन्तन पर उनके व्यक्तित्व की मौलिकता की छाप है ।उन्होंने काव्य के विषयवस्तु, श्लील-अश्लील, नैतिकता तथा सौन्दर्यबोध, आधुनिकता, अस्तित्व-वाद आदि सैद्धान्तिक पक्षों का भी विवेचन किया है तथा कला का परिभाषा करते समय उसका दृष्टिकोण विशुद्ध साहित्यिक न रखकर[3] मनोवैज्ञानिक रखा है । तत्कालीन साहित्य क्षेत्र में उनकी कला विषयक परिभाषा सर्वथा नूतन थी । वे अनुभव और अनुभूति में भी अंतर करते हैं ।

इलाचन्द्र जोशी एकांत एवं निर्बाध वैयक्तिक स्वतन्त्रता का विरोध करते हैं । वे मानवीय सभ्यता, संस्कृति, सौन्दर्य-बोध, कला और काव्या-त्मक भावना का विकास, सामाजिक[4] दमन, अनुशासन तथा संयम द्वारा ही मानते हैं-- व्यक्ति स्वतंत्रता द्वारा नहीं । हाँ, व्यक्ति स्वतंत्रता यदि सामाजिक चेतना के साथ बंधी हुई है तो उन्हें कोई आपत्ति नहीं । वे जनता की आर्थिक एवं राजनैतिक समस्याओं को साहित्यिक रस में परिणत करने के लिए प्रतिभा के स्पर्श की बात करते हैं तथा साहित्य का उद्देश्य मानव हित मानते हैं ।

----

२ अज्ञेय : आत्मनेपद, पृ०सं० २५५ । १ जैनेन्द्र : साहित्य का श्रेय और प्रेय, पृ०२०

३ अज्ञेय : त्रिशंकु, पृ०सं० २३ ।

०४ इलाचन्द्र जोशी : देखा परखा, पृ०सं० ८८ ।

४

मुक्तिबोध ने मानव के लिए मूल्यवान उस कला को माना है,जिसमें मार्मिक जीवन विवेक,[1] सूक्ष्म दृष्टियाँ तथा जीवन के वास्तविक पक्षों का उद्घाटन हो । वे मानव चेतना की मूलभूत नींवें मानव सम्बन्ध को मानते हैं और उसी के आधार पर कला,दर्शन, धर्म तथा साहित्य की सृष्टि भी मानते हैं । प्रेरणामयी मानवतावादी दृष्टि इनके विचार से काव्य में होनी आवश्यक है । सृजनात्मक साहित्य को उन्होंने कला का एक रूप माना है तथा रचना प्रक्रिया को सृजन की मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया[2] कहा है,जो कविस्वभाव,कविदृष्टि और विषयवस्तु के अनुसार बनती बदलती है । मुक्तिबोध ने क्षण के महत्व को भी माना है-- उस क्षण के महत्व को जो मानव की अनुभूति को अभिव्यक्ति के लिए मजबूर कर दे । वे कहते हैं कि ये अद्वितीय क्षण हैं, प्रतीति के क्षण हैं,क्योंकि ये सौन्दर्य के क्षण हैं, रसात्मक क्षण हैं, सौन्दर्य क्षण हैं[3] । इन क्षणों को वे कलाकार और साधारण व्यक्ति सभी में उपस्थित मानते हैं । मुक्तिबोध ने जहाँ कहीं कालिदास, भवभूति,कबीर,तुलसी,सूर और घनानन्द आदि में जीवन पक्षों के उद्घाटनों तथा जीवन विवेक आदि को पाया है,उसे अपनी स्थायी संपत्ति मानते हुए ग्रहण कर लिया है । उन्होंने कहा भी है कि प्राचीनों[4] में अगर इस प्रकार की सूक्ष्म दृष्टियाँ मिलें तो उन्हें अपनी सम्पत्ति मानना चाहिए ।

डॉ० नगेन्द्र ने साहित्य सम्बन्धी प्रचलित विभिन्न प्रश्नों का समाधान बहुत सुलझे ढंग से देते हुए साहित्य का स्वरूप,उसका प्रयोजन,उसमें निहित मूल्य,अनुभूति एवं अभिव्यक्ति का सम्बन्ध, उसमें निहित सत्य आदि पर अपने विचार[5] व्यक्त किये हैं । नगेन्द्र ने आत्माभिव्यक्ति को साहित्य का मूल धर्म माना है । तथा ~~सर्वनिहित~~ साहित्य का प्रयोजन वे आनन्द को मानते हैं,जिसके साथ

----

१ ग०मा०मुक्तिबोध :नये साहित्य का सौन्दर्यशास्त्र,पृ०सं०१३८।
२ वही,पृ०सं०६७ ।
३ वही,पृ०सं०६० ।
४ वही,पृ०सं०१३७।
५ नगेन्द्र : विचार और विवेचन,पृ०सं० ५३ ।

लोक कल्याण एवं चेतना का संस्कार भी हो सकता है। अनुभूति एवं अभिव्यक्ति को अभिन्न मानते हैं,किन्तु कहीं-कहीं इनकी पृथक सत्ता भी स्वीकार करते हैं। ऐसा करते समय वे अनुभूति को अधिक महत्त्व देते हैं,क्योंकि उसी के द्वारा तो अभिव्यक्ति होती है। इसी प्रकार कविता की उत्पत्ति के लिए उन्होंने आनंद एवं पीड़ा दोनों के संयोग को अनिवार्य माना है[1]। डॉ० नगेन्द्र यद्यपि रस-सिद्धान्त में अटूट आस्था रखते थे हैं, परन्तु उन्होंने रस को केवल प्राचीन भारतीय आचार्यों द्वारा प्रयुक्त ढंग से ही नहीं अपनाया,अपितु रस के स्वरूप को आधुनिक मनोविज्ञान की दृष्टि से भी स्पष्ट करने की कोशिश की है। साहित्य में नगेन्द्र ने व्यक्ति-चेतना को भी महत्त्व दिया है। वे मानते हैं कि व्यक्ति समाज की एक इकाई है तथा व्यक्ति समाज से अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है,किन्तु[2] फिर भी वे समाज की वेदी पर उसका अस्तित्व आश्रित कोटि का नहीं समझते। वे तो रस को भी शुद्ध मानवीय अनुभूति के स्तर पर प्रतिष्ठित करना चाहते हैं।

डॉ०रामविलास शर्मा जी अपनी आलोचनाओं द्वारा कहीं भी आदर्शवाद, निराशावाद,मनोविश्लेषणवाद,अभिव्यंजनावाद तथा राजनीति के क्षेत्र में भारतीय पूँजीवाद ,सामंतवाद, प्रतिक्रियावाद तथा साम्प्रदायिकता आदि किन्हीं भी प्रतिक्रियात्मक शक्ति से समझौता करने को तत्पर नहीं दिखाई देते हैं। उन्होंने विभिन्न नवीन और प्राचीन विचारकों पर आलोचनात्मक लेख एवं पुस्तकें लिखी हैं। उन चिन्तकों में जहाँ उन्हें अपने मार्क्सवादी जीवनदर्शन के अनुरूप विचारधाराएँ मिली हैं, उनका तो समर्थन किया है, परन्तु अन्य का कड़ा विरोध। शर्मा जी के साहित्य-चिन्तन में नवीन दृष्टि यही दिखायी पड़ती है कि उन्होंने अपना सम्पूर्ण चिन्तन मार्क्सवाद को दृष्टि में रखकर किया है। उन्होंने वर्ग संघर्ष तथा जन कल्याण पर बल दिया है।

नवलेखन

इन प्रमुख साहित्य चिन्तकों के अतिरिक्त आधुनिक हिन्दी साहित्य चिन्तन को विकसित करने में नवलेखन परम्परा के अनेक विद्वानों ने अपना

योगदान दिया है । आज विभिन्न आदर्शों के घात संघात केबीच भी साहित्य चिन्तक नये प्रतिमानों का निर्माण कर रहा है । आज का साहित्य चिन्तक कवि की सृजनात्मकता पर सर्वाधिक बल देते हुए जनवादी परम्परा एवं समाज की सापेक्षता वाले व्यक्ति के स्वातन्त्र्य को आवश्यक समझता है । बौद्धिकता और भौतिक दृष्टिकोण मानववाद, धार्मिकता का विघटन ,आस्थाहीनता, व्यक्तिवादी चेतना तथा प्रयोग का आग्रह आदि इस नवलेखन की विशेषताएँ हैं ।

व्यक्ति स्वातन्त्र्य को सर्वाधिक महत्व देने के कारण कुछ कवियों,साहित्यचिन्तकों[१] ने ईश्वर,धर्म,नैतिकता,सामाजिक मूल्यों आदि से सम्बन्धित परम्परागत धारणाओं को अस्वीकार किया है तथा अनास्थामूलक स्वर को अभिव्यक्ति दी है ।

डॉ० नामवर सिंह, डॉ० रघुवंश, डॉ०धर्मवीर भारती, लक्ष्मीकान्त वर्मा, डॉ० रामस्वरूप चतुर्वेदी, डॉ० जगदीश गुप्त आदि ने मानवीय मूल्य बौद्धिकता,आधुनिकता, सृजनात्मकता, क्षण का महत्व,काव्यवस्तु का महत्व, कलाकार की आन्तरिकता की परख, काव्य में अर्थलयका महत्व आदि साहित्य मूल्यों को उठाया है ।

निष्कर्षत: सम्पूर्ण आधुनिक हिन्दी साहित्य चिन्तन के विकास पर दृष्टिपात करने से स्पष्टहो जाता है कि किस प्रकार भारतेन्दु युग से शुक्लोत्तर(युग) पर्यन्त(जिसका अंतिम चरण नवलेखन है) हिन्दी के साहित्य चिन्तक, विभिन्न पड़ावों को पार करते हुए, इतना विकास कर सके हैं । भारतीय होने के कारण उन्होंने प्राचीन भारतीयों के काव्यसिद्धान्तों से प्रभावित होकर उनकी प्रभूत सामग्री का उपयोग किया है, पाश्चात्य सभ्यता के सम्पर्क में आकर उनके साहित्य चिन्तन का प्रभाव ग्रहण किया है तथा इन दोनों प्रभावों को अपने में आत्मसात् करके अपनी नवीन मान्यताएँ एवं प्रतिमान स्थापित किये हैं । हिन्दी साहित्य चिन्तन का विकास इसी प्रकार निरन्तर होता रहा है एवं आज भी वह इस दिशा में गतिशील है ।

-0-

---

१ धर्मवीर भारती ; भारतभूषण अग्रवाल, आदि ।

चतुर्थ अध्याय

-0-

साहित्य चिन्तन में मूल्यों के विभिन्न स्तर

(१) साहित्य में उपयोगिता -- उपदेश ।

(२) साहित्य का सामाजिक प्रयोजन नैतिक मूल्य, सामाजिक मूल्य, आर्थिक मूल्य, मानवीय मूल्य ।

(३) साहित्य में धार्मिकता तथा आध्यात्मिकता ।

(४) साहित्य का सांस्कृतिक स्वरूप ।

(५) साहित्य में रूपवाद या कलावाद
रूप, सौन्दर्य, आनन्द ।

(६) साहित्य की सर्जनात्मक प्रक्रिया
गत्यात्मक रचनाशीलता,
मूल्यों का विघटन ।

-0-

प्रथम अध्याय के अन्तर्गत मूल्य क्या है ? वे कितने प्रकार के होते हैं ? तथा उन्हें कितने वर्गों में विभक्त किया जा सकता है ? जैसे विषयों को उठाते हुए मूल्यों के विषय में विस्तार से चर्चा की गई है, परन्तु यह संपूर्ण चर्चा मात्र आधुनिक हिन्दी साहित्य-चिन्तन को ही आधार बनाकर नहीं की गई है,अपितु उसमें पाश्चात्य साहित्य चिन्तन तथा भारतीय साहित्य चिन्तन को भी आधार बनाया गया है । आधुनिक हिन्दी साहित्य चिन्तन में वर्तमान मूल्यों के स्तरों को स्पष्ट करने के लिए प्रस्तुत अध्याय में आधुनिक हिन्दी साहित्य चिन्तन के परिप्रेक्ष्य में ही मूल्यों के विभिन्न स्तरों की चर्चा की जायेगी ।

साधारणत: हम जीवन में इस्तेमाल की जाने वाली वस्तुओं में किसी को अच्छा, किसी को उससे अच्छा तथा किसी को सबसे अच्छा कहते हुए स्तरीकरण करते रहते हैं । वस्तुत: यह मनुष्य की एक आम प्रवृत्ति है । वह अपनी आवश्यकताओं एवं रुचियों के आधार पर विभिन्न पदार्थों में स्तरभेद करता रहता है । साहित्य में भी मनुष्य उसकी साधारण प्रभाव-क्षमता तथा विशेष प्रभाव-क्षमता के आधार पर स्तरभेद करता है । साहित्य चिन्तन में इसी प्रकार मूल्यों के विभिन्न स्तर निश्चित होते हैं । कोई चिन्तक स्थूल मूल्यों को अपने चिन्तन में स्थान देते हैं और कोई सूक्ष्म मूल्यों को । कहीं-कहीं स्थूल और सूक्ष्म सभी स्तरों के मूल्य एक साथ ही एक ही चिन्तक के चिन्तन में दिखाई दे जाते हैं ।

आधुनिक हिन्दी साहित्य चिन्तन में मूल्यों के स्तर का एक क्रम मैंने माना है जो उपयोगितावादी मूल्यों में निहित उपदेश जैसी स्थूल प्रक्रिया से प्रारम्भ होकर साहित्य की सर्जनात्मक प्रक्रिया जैसे सूक्ष्म मूल्यों तक निरन्तर विकसित होता चला आ गया है । अत: इन मूल्य स्तरों को क्रम से एक-एक करके प्रस्तुत अध्याय में विश्लेषित किया जायेगा ।

(१) साहित्य में उपयोगिता-उपदेश

साहित्य,दर्शन तथा अर्थशास्त्र में अलग-अलग ढंग से उपयोगिता की विवेचना की गई है । साहित्य के अन्तर्गत कलाओं का वर्गीकरण करते समय उपयोगिता और सौन्दर्य को ही अधिकांशत: आधार बनाया जाता है[1] ।उपयोगिता भौतिक सुख से सम्बन्धित रहती है और सौन्दर्य मानसिक सुख से[2] । दार्शनिक उपयोगितावादी दृष्टि में वस्तुओं की सच्चाई का मूल्यांकन होता है तथा अर्थशास्त्र में उपयोगिता वस्तुओं की अपूर्णता से सम्बन्ध रखती है ।

उपयोगिता का एक तो स्थूल रूप है,जिसको समझना बहुत आसान है-- कोई वस्तु हमारे किसी प्रयोजन को सिद्ध करती है(उसके लिए लाभदायक सिद्ध होती है) या किसी उत्कर्ष का साधन बनती है तो वह उपयोगी ही कहलायेगी,परन्तु इसके विपरीत इसका एक सूक्ष्म रूप भी है,जो आनन्द(कलात्मक मूल्य) तक में पाया जाता है । व्यावहारिक मूल्य का मान होते हुए भी उपयोगिता का नैतिकता से घनिष्ठ सम्बन्ध होता है,क्योंकि बहुत दूर तक न तो नैतिक कार्य ही अनुपयोगी बने रह सकते हैं और न उपयोगी कार्य ही नैतिकता की उपेक्षा कर सकते हैं । व्यावहारिक मूल्य एक अनिवार्य नैतिकता के नियम में आबद्ध पाये जाते हैं,क्योंकि मानव का व्यवहार बहुमुखी होता है और उसमें इच्छित प्रयोजन तथा आत्मविवेक द्वारा आदिष्ट आदर्श मिलकर कर्मों को प्रभावित करते रहते हैं । साहित्य में उपयोगिता के अन्तर्गत उपदेशात्मकता की स्थूल प्रवृत्ति भी पाई जाती है ।

भारतेन्दु युगीन प्रतापनारायण मिश्र के साहित्य चिन्तन में उपयोगितावादी दृष्टिकोण निहित है । वे उसी वस्तु को स्वीकार करने पर बल देते हैं,जिससे प्रयोजन सिद्ध हो उपदेश की प्रवृत्ति भी उनके निबन्धों में पाई जाती है ।

---

१ गुलाबराय : सिद्धान्त और अध्ययन,पृ०सं० ५८ ।
२ डॉ० रमेशकुन्तल मेघ : सौन्दर्य मूल्य और मूल्यांकन,पृ०सं० २१ ।

द्विवेदी युगीन साहित्य-चिन्तन पर भारतीय उपयोगितावाद का गहरा प्रभाव लक्षित होता है । इसी प्रभावस्वरूप तत्कालीन चिन्तक शुद्ध आनंद-दायिनी शक्ति[1] का सम्यक् संयोजन नहीं कर पाये, परन्तु लोकमंगल का आग्रह उनमें प्रमुख हो गया । शुक्ल ने भारतीय रसवाद को शास्त्रीय जड़ता से निकालकर जीवनोपयोगी बनाया[2] है । उनकी दृष्टि उपयोगितावाद के लोकमांगलिक रूप पर आकर रुक जाती है । प्रेमचन्द ने साहित्य में उपयोगिता के तत्त्व को सर्वप्रमुख माना है[3] तथा कला को भी उपयोगिता की तुला पर तौला है । साहित्य-सृष्टि के लिए भी वे उपयोगिता की भावना को उत्तरदायी ठहराते हैं । छायावादी कवियों के काव्य का उद्देश्य स्थूल और जड़ नीतिवाद का उपदेश नहीं,अपितु मंगल विधान रहा है ।निराला ने तो उपदेश को कवि की कमज़ोरी तक कह दिया है[4] । डॉ० रामकुमार वर्मा ने साहित्य में दो प्रमुख दृष्टियाँ मानी हैं,जिनमें एक उपयोगितावादी है जो जीवन के अभावों की पूर्ति करती हुई मानवता का भविष्य-पथ प्रशस्त करती है[5] ।उन्होंने साहित्य में उपयोगितावादी दृष्टि को स्थूल मानते हुए, जीवन के बहिर्जगत से उसका स्पर्श दिखाया है । वाजपेयी जी को साहित्य[6] में स्थूल उपयोगितावादी दृष्टि स्वीकार नहीं है । इससे उन्हें खतरा दिखाई पड़ता है । वैसे भी केवल उपयोगिता के संकुचित क्षेत्र में मन को बांध रखना सच्चे साहित्य की गति को कुंठित ही कर देना है । बाबू गुलाबराय ने अपने चिन्तन में सौन्दर्यबोध के उपयोगितावादी[7] स्वरूप का उल्लेख किया है-- सौन्दर्य स्वयं अपनी उपयोगिता रखता है । उपयोगिता की स्थूल दृष्टि

----

१ महावीरप्रसाद द्विवेदी : रसज्ञरंजन,पृ०सं० १७ ।

२ रामचन्द्र शुक्ल : गोस्वामी तुलसीदास,पृ०सं०५३-५४ चिन्तामणि,भाग१,पृ०सं०११३ ।

३ प्रेमचन्द : विविध प्रसंग(भाग३),पृ०सं०१२६ ।

४ निराला : प्रबन्ध प्रतिमा,पृ०सं०२८४ ।

५ रामकुमार वर्मा : साहित्यशास्त्र,पृ०सं० २६-२७ ।

६ नन्ददुलारे वाजपेयी : आधुनिक साहित्य,पृ०सं०५३ ।

७ गुलाबराय : सिद्धान्त और अध्ययन,पृ०सं० ५६ ।

नहीं,अपितु सूक्ष्म दृष्टि ही इन्हें मान्य है,जो साक्षात्मक मूल्यों तक पहुँचती है। साहित्य की उपयोगिता बाबूसाहब ने उसके द्वारा मानव के हित सम्पादन में मानी है। इस प्रकार उन्होंने उपयोगितावादी दृष्टि को अपने चिन्तन में मुख्य स्थान दिया है। डॉ० रामविलास शर्मा ने साहित्य में सौन्दर्य की उपयोगितावादी दृष्टि को स्वीकार किया है। उनके विचार से साहित्यशास्त्री सौन्दर्य की उपयोगिता से इंकार करते हुए भी उसका अत्यधिक उपयोग करते हैं[1]। इलाचन्द्र जोशी ने साहित्य में उपदेश जैसी स्थूल दृष्टि की प्राय: उपेक्षा ही की है। वे साहित्य में प्राण शक्ति खोजते रहे हैं, उपदेश अथवा विलासिता की ओर उनका ध्यान नहीं गया है। उनके निबन्ध इसका प्रत्यक्ष उदाहरण है। डॉ० नगेन्द्र ने० आनन्द को काव्य का सूक्ष्म प्रयोजन मानते हुए उसे जीवन की चरम उपयोगिता माना है[2]। इनके विचार से उपयोगिता को हमें गहराई में जाकर देखना[3] चाहिए तथा उसका तात्कालिक मूल्य न परखते हुए स्थायी मूल्य परखना चाहिए। इसप्रकार साहित्य में उपयोगिता के स्थूल एवं सूक्ष्म रूप दोनों ही इन चिन्तकों द्वारा विवेचित हुए।

साहित्य का सामाजिक प्रयोजन

जिस प्रकार व्यक्ति और समाज, व्यष्टि और समष्टि का अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है,उसी प्रकार साहित्य और समाज का भी घनिष्ठ संबंध है। यह सम्बन्ध पारस्परिक आदान-प्रदान और सहयोग पर निर्भर करता है। साहित्य समाज से बहुत कुछ लेता है और उसे बहुत कुछ प्रदान भी करता है,क्योंकि साहित्य सृजन करने वाला व्यक्ति एक सामाजिक प्राणी होने के कारण समाज से अनेक प्रभावों को ग्रहण करते हुए उनकी छाप अपने साहित्य पर छोड़ता चलता है। वास्तव में साहित्य मनुष्य के मन में उठने वाले उदात्त और भव्य विचारों के कलात्मक

---

१ रामविलास शर्मा : लोकजीवन और साहित्य,पृ०सं०१।

२ नगेन्द्र : आस्था के चरण,पृ०सं०१०४।

३ वही, पृ०सं० १८७।

चित्रण के अतिरिक्त और कुछ है भी नहीं । यह तो हुआ साहित्य और समाज का सम्बन्ध,इसके अतिरिक्त साहित्य का एक सामाजिक प्रयोजन होता है,जो साहित्य में नैतिक,सामाजिक,आर्थिक तथा मानवीय मूल्यों की अभिव्यक्ति द्वारा सिद्ध होता है । ये सभी मूल्य किसी एक मनुष्य से सम्बन्धित न होकर सम्पूर्ण समाज से सम्बन्धित होते हैं,इसीलिए इन्हें मैंने एक ही स्तर के अन्तर्गत रख लिया है । कुछ विद्वान् साहित्य में मूल्यों की विवेचना ही एक सामाजिक तथ्य के रूप में करना चाहते हैं । यह तथ्य वह पहलू है जो एक विशेष व्यवहार की अपेक्षा रखता है । उपर्युक्त सामाजिक वातावरण में ही साहित्य और सामाजिकता का परिष्कार होता है । इन मूल्यों में आर्थिक आधार या सामाजिक सम्बन्ध बदलने के कारण बदलाव भी आते रहते हैं । इसीलिए किसी कालविशेष में या साहित्य विशेष में भिन्न-भिन्न प्रकार के मूल्य निहित होते हैं । नैतिक मूल्यों में सुख और शुभ का समन्वय होता है, सामाजिक मूल्यों के अन्तर्गत साहचर्य, प्रेम,सहानुभूति आदि आते हैं,आर्थिक मूल्यों में मानव जीवन में मुख्य अर्थ की प्रधानता रहती है तथा मानवीय मूल्य तो जनकल्याण की भावना से ही सम्बन्धित होते हैं । ये सारे मूल्य चूँकि किसी एक मनुष्य से सम्बन्धित न होकर सारे समाज से अथवा समूह से सम्बन्धित होते हैं, इसलिए ही साहित्य का सामाजिक प्रयोजन सिद्ध करते हैं ।

<u>नैतिक मूल्य</u>

संसार में सम्भवत: कोई भी सामान्य बुद्धिसम्पन्न व्यक्ति ऐसा नहीं है जो अपने जीवनकाल में नैतिक व भेदों को प्रकट करने वाले शब्दों का व्यवहार नहीं करता । नैतिक शब्द मुख्यत: कर्म एवं शील का विश्लेषण है तथा इस कर्म और शील के विषय में सत् असत् का विवेचन नैतिकता का मुख्य प्रश्न है । नैतिकता क्रियात्मक जीवन से अधिक सम्बन्धित है । इसके दो रूप पाये जाते हैं-- व्यावहारिक नैतिकता तथा आदर्श नैतिकता । व्यावहारिक नैतिकता के स्तर पर राग,द्वेष,क्षोभ, प्रेम,करुणा तथा हिंसा-अहिंसा के भाव उपयोगी होते हैं, किन्तु आदर्श नैतिकता के स्तर पर प्रेम,करुणा तथा अहिंसा आदि कोटियों के भाव ही स्थान पा सकते हैं तथा इनके सहारे ही यह स्तर परिभाषित होता है ।

कला और नैतिकता के विषय में विचारकों में बहुत मतभेद रहा है,क्योंकि विद्वानों का एक वर्ग तो कला का उद्देश्य सौन्दर्यानुभूति को उत्पन्न करना मानता है, जब कि दूसरा वर्ग कला का नैतिकता के साथ सम्बन्ध जोड़ता है । मनुष्य की नैतिक खोज वास्तव में जीवन विवेक की खोज है या कह सकते हैं विवेकबाध्यता ही मानवीय स्वातन्त्र्य एवं नैतिकता है । नैतिक व्यापार जीवन को सुखी तथा श्रेष्ठतर बनाने में मदद करता है,इसीलिए नैतिक मूल्यों के अन्तर्गत सुख और शुभ का समन्वय होता है तथा अच्छाई और सद्गुणों के व्यापक क्षेत्र में भी वे मूल्य सक्रिय रहते हैं ।नैतिकता मानवीय व्यवहार से संबंधित भले-बुरे , उचित-अनुचित के आदर्श को बताती है । पवित्रता,शुभ,औचित्य, कर्तव्य, उत्तरदायित्व-- ये सभी मूल्य नैतिक सम्बन्धों के परिणामस्वरूप उत्पन्न होते हैं । नैतिकता की दृष्टि से जिस व्यवहार में केवल औचित्य का ध्यान रखा जाता है, निम्नतम कोटि का होता है । अत: नैतिक मूल्यों की दो कोटियाँ बनाई जा सकती हैं-- उच्च नैतिक मूल्य तथा निम्न नैतिक मूल्य । मानवीय स्वतन्त्रता तथा सामाजिक परिस्थितियों से संचालित कल्याण की उत्कृष्टता तो उच्चता से संलग्न है तथा सुख प्रदान करने वाले भाव इस कल्याण की उत्कृष्टता से निम्न स्तर के होते हैं । आधुनिक हिन्दी साहित्य चिन्तन में कई चिन्तकों ने साहित्य चिन्तन में नैतिक मूल्यों की विवेचना की है ।

प्रतापनारायण मिश्र ने नैतिक मूल्यों के समावेश को साहित्य का आधारभूत तत्त्व माना है,इसीलिए वे अभद्र आचरण को बढ़ावा देने वाले, अनैतिक साहित्य की रचना करने वाले लेखकों की कड़े शब्दों में भर्त्सना करते थे । महावीर प्रसाद द्विवेदी भी सुरुचि के पक्षपाती होने के कारण जनता की रुचि को दूषित करने वाले साहित्य को निकृष्ट कोटि का[1] मानते थे । द्विवेदी जी के सुंदर के साथ उनकी नैतिकता की भी सम्पृक्त थी ।शुक्ल जी

----

1 महावीरप्रसाद द्विवेदी : संचयन, प्रभात निबंध ।

का नैतिक दृष्टिकोण बंधी हुई परम्पराओं तक सीमित न था । उनकी दृष्टि से काव्य की उत्कृष्टता का आधार नैतिकता ही है, जिस काव्य से शील विकास न हो सके वह उनकी दृष्टि में श्रेष्ठ काव्य नहीं हो सकता । उन्होंने सुंदर का भी शिवं के साथ तादात्म्य कर दिया है[1] । प्रेमचन्द का विश्वास है कि साहित्य को समाज और नीति से अलग नहीं किया जा सकता । निराला ने समाज को लाभ पहुंचाने वाली कल्याणमयी रचना की आवश्यकता महसूस की है । जिस काव्य को उन्होंने मुक्ति मानी है वह उनके विचार से समाज के लिए कभी भी अनर्थकारी नहीं हो सकता, बल्कि उससे तो कल्याणमयी स्वाधीन भावना का ही संचार होता है[2] । पन्त जी ने मानव जीवन के सुख दुख और जनकल्याण की भावनाओं से पूर्ण साहित्य की रचना की है । उन्होंने नैतिकता तथा आध्यात्मिकता को एक ही सत्य के दो पहलुओं के रूप में ग्रहण किया है तथा सुन्दर को भी सत्य के माध्यम से शिवत्व में परिणत होते दिखाया है[3] । महादेवी की काव्यकला संबंधी मान्यता में सत्य और सुन्दर के साथ शिव का भी सामंजस्य हो गया है । वाजपेयी जी को काव्य से नीति का बहिष्कार मान्य नहीं है, परन्तु फिर भी वे नैतिक सिद्धान्तों का नियंत्रण परोक्ष ही मानते हैं । सत्य को अंतिम सच्चाई मानते हुए जैनेन्द्र ने सौन्दर्य और शिव को उससे नीचे की श्रेणियाँ माना है, क्योंकि सौन्दर्य और शिव दोनों की मर्यादा वे सत्य मानते हैं[4] । गुलाबराय ने भेद में अभेद को सत्य का आदर्श माना है और उसे ही शिव का मापदण्ड भी--

---

१ शुक्ल : चिन्तामणि (भाग२), पृ०सं० ४८-४६ ।

२ निराला : परिमल की भूमिका ।

३ सुमित्रानन्दन पंत : आधुनिक कवि (भाग२), पृ०सं० ६ ।

४ जैनेन्द्र : निबन्ध सत्य शिव सुंदर ।

भेद में अभेद की एकता ही सम्पन्न एकता है। विकास का भी यही आदर्श है-- विशेषताओं की पूर्ण अभिव्यक्ति के साथ अधिक से अधिक सहयोग और संगठन। जो साहित्य हमको इस आदर्श की ओर अग्रसर करता है वह शिव का भी विधायक है।[1] इस हित के आदर्श में वे सौन्दर्य को भी स्थान देते हैं। उनका सत्यं शिवं सुंदरम् विज्ञान, धर्म और काव्य के पारस्परिक सम्बन्ध का परिचायक सूत्र भी है।[2] डॉ० रामविलास शर्मा कवि का कर्तव्य यह मानते हैं कि वह समाज में सुरुचि को विकसित करे।[3] नैतिक मूल्यों के अन्तर्गत हजारीप्रसाद द्विवेदी ने औचित्यपरक मूल्यों की आवश्यकता साहित्य में महसूस की है।[4] इलाचन्द्र जोशी तो मानते हैं कि जब तक साहित्यकार अपने अवचेतन मन के स्वप्नों को सचेतन मन में लाकर विवेक से उनका परिष्कार नहीं करता, तब तक वह साहित्य का निर्माण ही नहीं कर सकता।[5] इस प्रकार उन्होंने तो साहित्य निर्माण ही मानव की विवेक बुद्धि द्वारा मान लिया है। डॉ० नगेन्द्र ने भी अपने चिन्तन में नैतिक मूल्यों का समावेश किया है,[6] क्योंकि उनके प्रिय सिद्धान्त रस के नैतिक मूल्य अपने उदात्त रूप में अन्तर्भूत हैं।[6] रस सिद्धान्त नीतिविरोधी भी नहीं है। नगेन्द्र ने नैतिक एवं सामाजिक मूल्यों का विरोध नहीं किया है,[6] परन्तु इनकी अपेक्षा मानवीय मूल्यों को अधिक विश्वसनीय माना है।[7][8] अज्ञेय श्रेष्ठ नैतिकता को महत्त्व देते हैं, निरी नैतिकता को नहीं। प्रत्येक शुद्ध कला में वे अनिवार्यरूप से किसी न किसी

---

१ गुलाबराय : सिद्धान्त और अध्ययन, पृ०सं० ६३।

२ वही, पृ०सं० ८६।

३ रामविलास शर्मा : संस्कृति और साहित्य, पृ०सं०२४।

४ हजारीप्रसाद द्विवेदी : साहित्य सहचर, पृ०सं० ८२।

५ इलाचन्द्र जोशी : विवेचना, पृ०सं० २२-२३।

६ नगेन्द्र : विचार और विश्लेषण, पृ०सं० ३।

७ नगेन्द्र : आस्था के चरण, पृ०सं० १०७।

८ अज्ञेय : त्रिशंकु, पृ०सं० २१।

नैतिक उद्देश्य को निहित मानते हैं । इसीलिए उच्चकोटि के नैतिक बोध को उच्चकोटि के सौन्दर्यबोध के साथ वे कृतिकार में निहित पाते हैं । मुक्तिबोध ने नैतिक मूल्यों में निहित औचित्य को साहित्य में आवश्यक माना है । इस औचित्य के संयोग से[1] ही वे कलाकार को धीरे-धीरे उच्चतर स्थिति की ओर अग्रसर होते पाते हैं । इनके अतिरिक्त नवलेखन वर्ग के चिन्तकों ने भी मानव-कल्याण की इच्छा की है । सत्य और सौंदर्य पर अपनी अधिक आसक्ति दिखाते हुए भी लक्ष्मीकांत वर्मा ने शिव तत्त्व को भी साहित्य में स्वीकार किया है[2] । वैसे इस वर्ग के चिन्तकों ने अधिकांशत: मानव मूल्यों पर ही प्रकाश डाला है ।

सामाजिक मूल्य

इनमें सामाजिक जीवन से सम्बन्धित मूल्य आते हैं तथा इनका सम्बन्ध समाज के विभिन्न पहलुओं से होता है । सामाजिक मूल्य व्यक्तिगत सीमा से उठकर अपनी स्वतंत्र सत्ता रखते हैं । इनके निर्माण में विभिन्न व्यक्तियों का सहयोग होता है,इसीलिए ये व्यक्तिगत नहीं,अपितु सामूहिक होते हैं । ये मूल्य व्यक्तियों के व्यवहार को प्रभावित करते हैं तथा विशेष प्रकार से उन्हें व्यवहार करने के लिए प्रेरित भी करते हैं । सामाजिक मूल्यों में समूह,पारस्परिक सहयोग तथा सहायता और सामान्य प्रयत्नों में प्रयुक्त व्यवहार से सम्बद्ध मूल्य आते हैं । ये सामाजिक अन्त:प्रक्रिया की व्यवस्था को संगठित करने में सहायक होते हैं । सामाजिक मूल्य व्यक्तियों द्वारा अपनाये जाते हैं ,उनका निरन्तर विकास होता रहता है,परन्तु अनावश्यक होने पर ह्रास भी तुरन्त हो जाता है, इसीलिए इन मूल्यों में हम अन्य मूल्यों की अपेक्षा तुरन्त परिवर्तन का होना पाते हैं । सुंदरता,अच्छाई और प्रेम के आधार पर सामाजिक सम्बन्धों की सृष्टि तथा पुन: सृष्टि भी होती रहती है ।

---

१ मुक्तिबोध : नये साहित्य का सौन्दर्यशास्त्र,पृ०सं० १६।

२ लक्ष्मीकान्त वर्मा : नये प्रतिमान : नये निकष,पृ०सं० ७१

बालकृष्ण भट्ट के चिन्तन में इन मूल्यों का अन्तर्भाव हुआ है । उन्होंने अधिकतर अपने चिन्तन का सबक विषय समाज को ही बनाया है, अत: सामाजिक मूल्य भी इसी के साथ वर्णित होते चले गये हैं । उनके कई एक निबन्धों में ये मूल्य समस्याओं के रूप में आये हैं । प्रतापनारायण मिश्र ने प्राय: प्रयोजन के रूप में इन सामाजिक मूल्यों को साहित्य में स्थान दिया है ।द्विवेदो जी ने एकता,संगठन, सहयोग अनुशासन आदि को ध्यान में रखकर साहित्य में सामाजिक मूल्यों की चर्चा की है तथा जिस प्रेम से सामाजिक सम्बन्धों की सृष्टि होती है, उसे वे निर्व्याज प्रेम कहते हैं जो शुद्ध एवं सात्त्विक है[1] । प्रेमचन्द ने साहित्य में सामाजिक मूल्यों को अनिवार्य माना है । उनका संपूर्ण साहित्य मर्यादा, सुशासन, सहयोग तथा सहानुभूति का जयघोष ही प्रतीत होता है । धर्म को भी उन्होंने सामाजिक रूप प्रदान किया है[2] । पन्त जी के अन्तर्मन में जब भी आध्यात्मिक तथा सामाजिक मूल्यों के विषय में संघर्ष चलता है, वे सामाजिक मूल्यों को ही प्रमुखता प्रदान करते हैं[3] । वे व्यक्ति और समाज प्रेम तथा कला और जीवन को एक दूसरे का विरोधी न मानकर पूरक ही मानते हैं[4] । महादेवी जी का तो अधिकांश गद्य साहित्य समाज केन्द्रित है,परन्तु समाज का अनुशासन साहित्य में उन्हें स्वीकार्य नहीं है । वे चाहती हैं कि मानव स्वभाव का स्वच्छन्दता के साथ मुक्ति को अक्षुण्ण रखते हुए ही साहित्य रचना होनी चाहिए,जिसमें समाज के लिए अनुकूलता की भी संभावना रहे[5] । गुलाबराय समाज में पारस्परिक सहयोग की भावना का विकसित होना बहुत आवश्यक

----

१ महावीर प्रसाद द्विवेदी : संचयन,पृ०सं०६० ।

२ प्रेमचन्द : कुछ विचार ,पृ०सं०१२५-१२७ ।

३ शांति जोशी : सुमित्रानन्दन पंत : जीवन और साहित्य ,पृ०सं०

४ पंत : गद्यपथ,पृ०सं० १४५ ।

५ महादेवी : संकल्पिता,पृ०सं० १२१-२२ ।

मानते थे,इसीलिए सामाजिक विकास केलिए उन्होंने साहित्य-सृजन होना उपयोगी माना है। डॉ० रामविलास शर्मा का तो सम्पूर्ण चिन्तन ही सामाजिक मूल्यों को केन्द्र में रखकर आगे बढ़ता है। उन्होंने वर्गहीन समाज की कल्पना करते हुए साहित्य में सामाजिक मूल्यों को महत्त्व दिया है तथा संस्कृति का उद्गम भी समाज को मानते हुए मानव संगठन के बिना उसकी कल्पना को ही असम्भव कहा है। कवि या[1] साहित्यकार का उद्देश्य वे साहित्य-विकास में सहायता देना कहते हैं। इलाचन्द्र जोशी सामूहिक हित की भावना स्वीकार करने के कारण[2] साहित्यिक रस का उपयोग भी इसी हित के उद्देश्य से करना मानते हैं। डॉ० नगेन्द्र ने सामाजिक मूल्यों का निषेध तो नहीं किया, परन्तु उन्हें मानवीय मूल्यों से निम्न स्तर का माना है। मानव व्यक्तित्त्व[3] की महत्ता को भी वे सामाजिक मूल्यों से निरपेक्ष नहीं मानते। परन्तु एक देश अथवा युग की चेतना का सम्बन्ध ही इन मूल्यों से मानते हैं[4]। शिवदान सिंह चौहान और डॉ० नामवर सिंह जी के साहित्य-चिन्तन में भी ये मूल्य अन्तर्निहित हैं। मार्क्स से प्रभावित होने के कारण इन्होंने साहित्य में सामाजिक और आर्थिक मूल्यों की अनिवार्यता पर विशेष बल दिया है।

आर्थिक मूल्य

यह पहले भी स्पष्ट किया जा चुका है कि अर्थशास्त्रीय दृष्टिकोण से सर्वाधिक प्रचलित अर्थ में मूल्य को एक आर्थिक अवधारणा माना जाता है, जिसका अर्थ धन और एवं द्रव्य से संबंधित है। परन्तु साहित्य में इन

---

१ डॉ० रामविलास शर्मा : संस्कृति और साहित्य,पृ०सं०२२-२४।

२ इलाचन्द्र जोशी : आलोचना पत्रिका,वर्ष१,अंक-३।

३ डॉ० नगेन्द्र : विचार और विवेचन,पृ०सं०५८-५६।

४ डॉ० नगेन्द्र : आस्था के चरण,पृ०सं० १०७।

मूल्यों का क्षेत्र कुछ विस्तृत अर्थ को धारण करता है । आर्थिक मूल्यों पर सर्वप्रथम सर्वाधिक बल देने वाले विचारक कार्ल मार्क्स के आगमन से साहित्य क्षेत्र में इन आर्थिक मूल्यों में नवीन मूल्यों का आविर्भाव हुआ था ।उनके (कार्लमार्क्स) द्वारा आर्थिक मान्यताओं को जो नया मूल्य मिला उसने संसार की आर्थिक समस्याओं को नया मोड़ दे दिया । मार्क्स की आर्थिक मान्यताओं से लगभग संसार का कोई भी देश अप्रभावित नहीं रह सका । परम्परा से पीड़ित, आर्थिक दृष्टिकोण से दलित जीवन को एक नई दृष्टि दिखाई पड़ी तथा पीड़ितों में एक नई आशा का संचार होने लगा , जिससे समाज में धनी-निर्धनों वर्ग का संघर्ष आरम्भ हो गया । इसका प्रभाव साहित्य पर भी बहुत पड़ा जिससे आर्थिक मूल्य साहित्य में अधिक स्थान लेने लगे । वैसे प्राचीन भारतीय साहित्य चिन्तन में ही चार पुरुषार्थों के अन्तर्गत अर्थ की गणना की जाती थी,परन्तु आधुनिक चिन्तन में यह अधिक व्यापक रूप में साहित्य में छाया हुआ है । आर्थिक मूल्यों का मानव के हित से अटूट सम्बन्ध है,क्योंकि जो आर्थिक स्थिति मनुष्य को दासता की बेड़ियों से मुक्त करवायेगी, उसे दरिद्रता से छुटकारा दिलवायेगी तथा आराम,अवकाश, एवं सामाजिक बराबरी देगी, उसके साथ मानवीय हित संलग्न होगा ही, परन्तु केवल मात्र समृद्धि के बढ़ जाने से मनुष्य पूर्णतया तृप्त नहीं हो जाता,क्योंकि धन से अमृतत्त्व की आशा नहीं की जा सकती । हाँ, धन के साथ अन्य प्रकार के कष्टों से भी मानव मुक्ति होनी चाहिए तभी वह संतुष्ट रह सकता है । ये आर्थिक मूल्य संपूर्ण मानव जाति के हित से सम्बन्धित होने के कारण ही सामाजिक प्रयोजन के अन्तर्गत आते हैं । आधुनिक साहित्य में वर्णित आज के आर्थिक मूल्य अधिकतर मार्क्स की विचारधारा से ही प्रभावित है ।

बालकृष्ण भट्ट ने आर्थिक मूल्यों की चर्चा साहित्य में मात्र रुपये-पैसे [तक सीमित] क्षेत्र में ही की है । वे कहते हैं कि जिसके पास पैसा है वह सर्वगुण सम्पन्न है, परन्तु जिसके पास इसका अभाव है, वह श्रेष्ठ गुणों से सम्पन्न होता हुआ भी कुछ नहीं । पैसे की महिमा इतनी विचित्र है कि वह

आर्थिक मूल्यों से तात्पर्य पूँजी से है । प्रेमचन्द ने साहित्य में आर्थिक मूल्यों की चर्चा करते हुए धनाधिक्य को मनुष्यता का अंत करने वाला कहा है । उनका आर्थिक मूल्यों से सम्बन्धित चिन्तन मानवीय हित से प्रेरित है, वे मनुष्य को दरिद्रता से उबारना चाहते हैं, उसे समाज में मानसम्मान का स्थान दिलाना चाहते हैं,इसीलिए धन लोभ से बचने की सलाह मनुष्य को देते हैं[1] । पन्त ने मार्क्स के प्रभावस्वरूप पदार्थ और चेतना को दो किनारों की तरह माना है[2] । महादेवी वर्मा ने साहित्य और कलाओं को तत्त्वत: सृजनशील मानकर उनमें अर्थ व्यवस्था के परिवर्तनशील मानदंडों को स्वीकार नहीं किया है । बाबू गुलाबराय साहित्य के माध्यम से सभी को सहित करना चाहते थे,इसीलिए उन्होंने एक ओर धर्म,अर्थ,काम,मोक्ष जैसे भारतीय चिन्तन के मूल्यों में अपना विश्वास व्यक्त किया है तथा दूसरी ओर मार्क्स के आर्थिक सिद्धान्तों पर भी आस्था रखी है[3] । उनका आर्थिक सिद्धान्त मानव-हित की भावना से सम्बन्धित है । डॉ० रामविलास शर्मा ने साहित्य को आर्थिक परिस्थितियों से नियमित माना,किन्तु उनका प्रतिबिम्ब वे उन्हें नहीं कहते । शिवदान सिंह चौहान तथा डॉ० नामवर सिंह ने भी मानव-हित को ध्यान में रखकर आर्थिक मूल्यों की चर्चा की है ।

मानवीय मूल्य

साहित्य में मानवीय मूल्यों की सत्ता अनिवार्य है, क्योंकि साहित्यकार अथवा कलाकार के स्वयं मानव होने तथा सभी धरातलों पर मानव से सम्पृक्त होने के कारण मानवीय मूल्यों अथवा सामाजिक दायित्वों का सम्प्रेषण ही साहित्य का दायित्व होता है । जो साहित्यचिन्तक मानव-वादी आस्था में अडिग है, वह अपने साहित्य में मानव की प्रतिष्ठा और

---

१ प्रेमचन्द : महाजनी सभ्यता,पृ०सं० २५६ ।

२ पंत : प्रतीक ३,शरद्,पृ०सं० १०० ।

३ गुलाबराय : काव्य के रूप,पृ०सं०३-४ ।

मर्यादा को अनाहत और अक्षुण्ण रखकर ही संतुष्ट होता है। कोई भी जीवन-दर्शन या साहित्य चिन्तन मानव को छोड़कर पूर्ण नहीं होता,इसलिए वही साहित्य चिरन्तन होता है जो मानवता के तत्वों से पोषित होता है।अत: मानव मुल्यों का आश्रय एवं अभिव्यक्ति का माध्यम मानव जीवन ही होता है। साहित्य के प्रतिमान भी मुलतः मानवीय प्रतिमानों से भिन्न या उनके विरोधी नहीं हो सकते, जिन विषयों का वर्णन साहित्यकार अपने साहित्य में करता है, उनका कोई न कोई सिरा कहीं न कहीं से मानव के साथ अवश्य बंधा हुआ होता है। मध्यकाल में इन मुल्यों का प्राधान्य नहीं था,क्योंकि उस समय समस्त मुल्यों का स्रोत ईश्वर को माना जाता था ,मानव को नहीं, परन्तु अब मानववाद का स्फुरण हो जजाने के कारण इन मुल्यों की प्रतिष्ठा साहित्य में पर्याप्त मात्रा में होने लगी है। मानव मुल्यों के अन्तर्गत लोकमांगलिक मुल्यों को भी ले लिया गया है, जो इनकी उच्चतर स्थिति है। ये मुल्य पूर्णतया मानव से ही सम्बन्धित होते हैं। इनका अन्तर्भाव हमारे आधुनिक हिन्दी-साहित्य-चिन्तन में बहुत अधिक हुआ है।

सर्वप्रथम भारतेन्दु हरिश्चन्द्र का ध्यान ही इन मुल्यों की ओर गया। उनके निबन्धों में जनसाधारण के कल्याण की,मंगल की भावना अन्तर्निहित है। कुछ निबंध तो उन्होंने जनहित की भावना से प्रेरित होकर लिखे[1]।भट्ट जी के चिन्तन में भी इस लोकमंगल की भावना की छाप दिखायी पड़ती है। वे स्वयं ही किसी का मंगल नहीं चाहते,अपितु दुसरे लोगों को भी प्रेरित करते हैं कि वे सबका भला करें[2]। प्रतापनारायण मिश्र के चिन्तन में भी लोकमंगल की भावना प्रमुख है। इसी भावना के कारण उन्होंने समाज में प्रचलित

---

१ भारतेन्दु हरिश्चन्द्र : जातीय संगीत(निबंध)

२ बालकृष्ण भट्ट : परचिन्तानुरंजन,(निबंध)

पुरानी परम्पराओं और रूढ़ियों की उपेक्षा की है तथा जन-जन के मंगल के लिए साहित्य-रचना करने का प्रयत्न किया है । लोकमंगल की भावना से महावीरप्रसाद द्विवेदी जी इतने प्रभावित थे कि जनसाधारण को किसी भी प्रकार का कष्ट देना बर्दाश्त नहीं करते थे । साहित्य में भाषा की सरलता पर भी उन्होंने इसीलिए बल दिया जिससे सबका मंगल हो, क्योंकि अगर साधारण जनता भाषा की दुरूहता के कारण साहित्यानुशीलन नहीं कर पायेगी तो उससे उसका मंगल कैसे होगा ?[1] रामचन्द्र शुक्ल की दृष्टि तो लोकमंगल पर ही आकर रुक जाती है । उनका लोकमंगल का सिद्धान्त बहुत विस्तृत है, इसमें[2] धर्म-सौन्दर्य आदि सभी मूल्यों का समावेश हो जाता है । उनका धर्म लोकधर्म है तथा सौन्दर्यानुभूति मंगलविधायिनी है ।[3] उनकी लोकधर्म एवं सौन्दर्य की भावना जिस प्रकार लोकपक्ष से सम्पृक्त थी, उसी प्रकार आनन्द एवं कविता विषयक धारणा भी उसी से सम्पृक्त है । इसीलिए कविता को भी लोकमांगलिक भावना के कारण उन्होंने बहुत ऊँचे धरातल पर प्रतिष्ठित किया था । प्रेमचन्द की सभी कृतियों का लक्ष्य जनहित ही रहा है ।[4] लोकमंगल की कामना ही उनका अंतिम लक्ष्य तथा उद्देश्य है । निराला की मूल्यदृष्टि मानवतावादी थी, इसीलिए उन्होंने साहित्य में मानव की मुक्ति तथा कल्याण की कामना की थी । निराला साहित्य में साधारण जनता का पक्षसमर्थन करने वाले चिन्तक थे तथा उसके मंगल के लिए बहुत चिंतित रहते थे ।[5] पन्त की

---

१ महावीरप्रसाद द्विवेदी : रसज्ञरंजन, पृ०सं० १७ ।

२ रामचन्द्र शुक्ल : गोस्वामी तुलसीदास ।

३ रामचन्द्र शुक्ल : चिन्तामणि (भाग २), पृ०सं० ५२-५४ ।

४ प्रेमचन्द : विविध प्रसंग, पृ०सं० १५०-१५४ ।

५ सुधा, जून ३४, सम्पादकीय टिप्पणी ।

विचारधारा में तो मानव कल्याण का कोई न कोई पक्ष मिल ही जाता है। उनका विश्वास है कि अगर कोई भी साहित्यकार अपने साहित्य में लोकमंगल की भावना का चित्रण करता है तो उसका साहित्य बहुत श्रेष्ठ हो सकता है।[1] वे मानवीय मूल्यों में अपनी चेतना को एकाकार करके फिर उसे मूर्तिमान करना ही साहित्य स्रष्टा का कर्तव्य मानते हैं। महादेवी जी ने इन मूल्यों को स्वीकार किया है। वे वस्तुतः उसी साहित्यकार या कलाकार को सच्चा मानती हैं,जो लोक-हृदय को पहचानता है। नन्ददुलारे वाजपेयी के समस्त विचार मानव जीवन की मार्मिक एवं स्वस्थ चेतना से जुड़े हुए हैं। उन्होंने जीवन और साहित्य का संबंध बहुत गहरा माना है।[2] जैनेन्द्र के चिन्तन में मानव कल्याण एवं लोकमंगल की भावना का स्पष्ट अनुभव होता है।[3] वे साहित्य को मानव की उन्नति का मार्ग मानते हैं तथा लोकमांगलिक मूल्यों[4] की चरमोन्नति उनके अखंड मानवता के सिद्धांत को देखकर ही सिद्ध हो जाती है। बाबू गुलाबराय बहुजनहिताय को कला के वर्ण्य विषय का नियामक मानते थे। डॉ० रामविलास शर्मा ने साधारण मानव का जिक्र करते हुए उसके मंगल की कामना की है। हजारीप्रसाद द्विवेदी ने अपने चिन्तन में सर्वाधिक महत्व मानव मूल्यों को दिया है। वे साहित्य का प्रयोजन लोककल्याण को मानते हैं,जो मनुष्य को संकीर्णता की प्रवृत्ति से उबार कर विवेकी बनाता है।[5] उनके विचार और वितर्क, साहित्य का मर्म, अशोक के फूल आदि सभी निबन्ध संग्रहों में इन मूल्यों की चर्चा बहुत विस्तार में हुई है। उनकी सबसे बड़ी विशेषता भी यही रही है कि उन्होंने साहित्य को मनुष्य सत्य के सन्दर्भ में ही देखा है। इलाचन्द्र जोशी भी निरन्तर मानवतावाद की ओर अग्रसर रहे हैं।

---

१ पंत : शिल्प और दर्शन,पृ०सं०१०६-१०७ ।

२ नन्ददुलारे वाजपेयी : नया साहित्य : नये प्रश्न,पृ०सं०२-४ ।

३ जैनेन्द्र : साहित्य का श्रेय और प्रेय,पृ०सं०३१३-३१४ ।

४ जैनेन्द्र : मन्थन,पृ०सं० २००-२०४ ।

५ हजारीप्रसाद द्विवेदी :विचार और वितर्क,पृ०सं० ७०-७२ ।

डॉ० नगेन्द्र ने सामाजिक और नैतिक मूल्यों का अन्तर्भाव मानवीय मूल्यों में संभव माना[1] है । अगर इनमें विरोध हो तो वे कहते हैं कि मानवीय मूल्य ही श्रेष्ठ होते हैं । अज्ञेय सहज लोकजीवन की ओर आकर्षित होकर मानव मूल्यों का अंकन करते हैं । मुक्तिबोध ने अपने चिन्तन में जीवनमूल्यों को अत्यधिक महत्त्व देकर वास्तव में मानव मूल्यों को ही स्वीकार किया है । उन्होंने उसी साहित्य को श्रेष्ठ माना है जो मानवीय[2] भावनाओं का उदात्त वातावरण प्रस्तुत करते हुए मन को मानवीय बना दे । नवलेखन वर्ग के चिन्तकों में तो लगभग सभी ने मानवीय मूल्यों में अपनी आस्था प्रकट की है । इनमें मुख्य हैं-- डॉ० धर्मवीर भारती, डॉ० नामवर सिंह, डॉ० रघुवंश, लक्ष्मीकांत वर्मा तथा डॉ० रामस्वरूप चतुर्वेदी ।

(३) साहित्य में धार्मिकता तथा आध्यात्मिकता

धार्मिकता का सूक्ष्म रूप ही आध्यात्मिकता है । भारतीय संस्कृति में इन धार्मिक - आध्यात्मिक मूल्यों को सबसे ऊँचा स्थान दिया जाता रहा है । धर्म की व्यावहारिक परिभाषा ईश्वर को सर्वोच्च मूल्य मानकर की गई है, जिसमें विश्वास का नियंत्रण है । बिना आस्था एवं विश्वास के मनुष्य ईश्वरीय सत्ता के प्रभाव को स्वीकार करने में हिचकिचाता है,परन्तु धार्मिक साधक का अनुराग परम श्रेय से सम्बन्धित निर्वैयक्तिक मूल्यों से होता है । इन मूल्यों का मूल सामाजिक सम्बन्ध होता है । परन्तु इनमें सामाजिक परिवर्तन के अनुरूप अधिक परिवर्तन नहीं होता । हमारे यहाँ आध्यात्मिक शब्द का प्रयोग प्राय: मोक्षा-न्वेषी जीवन के लिए होता है । आत्मनियंत्रण,आत्मत्याग तथा आत्मबलिदान आदि का विस्तार आध्यात्मिक मूल्यों के अन्तर्गत होता है । भारतीय साहित्य में ईश्वर एक आध्यात्मिक सत्ता, विश्व का कल्याण करने वाला तथा मनुष्यों में श्रेष्ठता का प्रतीक माना गया है । उसकी परिकल्पना शाश्वत न होकर प्राकृतिक शक्ति, इष्टदेवता,अवतार, देव पुरुष आदि में परिवर्तित होती रही है । डॉ

---

१ डॉ० नगेन्द्र : आस्था के चरण,पृ०सं०१०७ ।

२ मुक्तिबोध : नये साहित्य का सौन्दर्य शास्त्र,पृ०सं० १००,११७,१३५ ।

वह शुभ, सत्य और सौन्दर्य,सत् चित, आनंद का मूल मूल्यकोष भी माना गया है । आध्यात्मिक अनुभूति, श्रद्धा और उपासना जिससे मनुष्य व्यक्तिगत और सामाजिक जीवन में देवताओं की सहायता अर्जित करता है एवं अपना इहलोक तथा परलोक बनाता है, धर्म की मूल परम्परा के तत्त्व हैं । धर्म का कला पर भी प्रभाव पड़ता है, जिससे सौंदर्य पूर्ण धार्मिक मूल्य उत्पन्न होते हैं।जैसा कि पहले भी कहा जा चुका है कि आधुनिक काल से पूर्व ईश्वर को ही सब मूल्यों का स्रष्टा समझा जाता था,परन्तु वैज्ञानिक प्रगति के कारण ये धार्मिक मूल्य पंगु होते जा रहे हैं, परन्तु हमारे आधुनिक हिन्दी साहित्य के कई चिन्तकों ने इन मूल्यों पर प्रकाश डाला है ।

प्राचीनकाल से धर्म साहित्य का प्रभावशाली प्रेरणा स्रोत रहा है,क्योंकि इसकी स्थिति जीवन की पवित्रता में है और यह पवित्रता श्रद्धा का रूप धारण करके मनुष्य के क्रियाकलापों में अवतरित होती है,जिससे चिन्तन का विकास होता है ।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के सांस्कृतिक निबन्धों में उनकी धार्मिक भावना प्रकट होती है । वे परिष्कृत[1] धर्म का समर्थन करते हैं तथा उसी से समाज की[2] उन्नति भी संभव मानते हैं भट्ट जी ने धर्म का मूल आधार विश्वास को माना है तथा ईश्वर द्वारा ही समाज की[3] उन्नति की कल्पना की है,क्योंकि वे समस्त सृष्टि को ईश्वर के अधीन मानते हैं । प्रतापनारायण[4] मिश्र ने धार्मिक मूल्यों में प्रेम एवं ऐक्य की भावना को मुख्य माना है । महावीर प्रसाद द्विवेदी ने धार्मिक मूल्यों में भक्ति भावना को सर्वप्रमुख माना है, इनका विश्वास है कि भक्त चाहे जिस प्रकार एवं जिस भी भाव से ईश्वर की भक्ति करेगा, ईश्वर उसकी

---

१ भारतेन्दु हरिश्चन्द्र : तदीय सर्वस्व तथा वैष्णवता और भारतवर्ष (निबन्ध)

२ बालकृष्ण भट्ट : विश्वास (निबन्ध)

३ बालकृष्ण भट्ट : विवाह वाटिका (निबन्ध)

४ प्रतापनारायण मिश्र: शैव सर्वस्व,गोरक्षा तथा गंगा आदि निबन्ध ।

भक्ति के उसी भाव को स्वीकार कर लेगा[१]। यह ईश्वर में उनकी दृढ़ आस्था का ही परिणाम है। रामचन्द्र शुक्ल तो समाज में लोकधर्म की स्थापना के आदर्श को लेकर चले हैं, जिसके उन्नायक राम है। उन्होंने धर्म की रसात्मक अनुभूति को भक्ति कहा है। उनकी पुस्तक गोस्वामी तुलसीदास में इसी लोक-धर्म का स्वरूप दिखाई पड़ता है। इस प्रकार उन्होंने लोकसंग्रह में ही धर्म का सौन्दर्य देखा है। प्रेमचन्द ईश्वर की सच्ची सेवा संसार में मेल और एकता तथा सहयोग जैसी भावनाओं को विकसित करने में ही मानते हैं[२]। वे साहित्य में धर्म के गिरे हुए रूप के चित्रण के विरोधी है, इसीलिए अपने चिन्तन में स्थान-स्थान पर धर्म की कटु आलोचना भी करते हैं। उन्होंने धर्म के ढकोसले वाले रूप से घृणा की है तथा उसे एक सामाजिक रूप प्रदान कर दिया है। प्रसाद ने कविता को ही आध्यात्मिक कह दिया है[३]। निराला ने धर्म के रूढ़ि रूप को ही स्वीकार नहीं किया,[४] अपितु उसे धर्म कहा है, जिसमें अर्थ, काम तथा मोक्ष का भी समन्वय रहता है। धर्म के साथ सम्बन्धित आस्तिकता की भावना को भी निराला ने साहित्य के साथ जोड़ा है। पन्त ने भी धर्म के रूढ़ि रूप को स्वीकार नहीं किया है तथा मानवतावाद के धर्म को धर्म माना है। उन्होंने नैतिकता और आध्यात्मिकता को एक ही सत्य के दो रूपों में स्वीकार किया है। महादेवी वर्मा धर्म को साहित्य का उपादान मानती हैं, उनका दुखवाद आध्यात्मिक है तथा उनकी सभी कविताओं में आत्मा का परमात्मा के प्रति प्रणय निवेदन दिखाई पड़ता है, इसीलिए उनकी सम्पूर्ण काव्यसाधना ही आध्यात्मिक है[५]। नन्ददुलारे वाजपेयी ने साहित्य को कभी-कभी आध्यात्मिक मूल्यों से भी आँका है। जैनेन्द्र ने धर्म को साहित्य के लिए

---

१ महावीर प्रसाद द्विवेदी : गोपियों की भगवद्भक्ति (निबंध) पु० संचयन

२ प्रेमचंद : विविध प्रसंग (संपादक अमृतराय), पृ०सं० १५३-५४।

३ प्रसाद : काव्य और कला (निबन्ध)

४ निराला : प्रबन्ध प्रतिमा, पृ०सं० ६२-६३।

आवश्यक माना है तथा उसमें श्रद्धा, प्रेम, भक्ति आदि की चर्चा भी की है[१]। वे आत्मस्वभाव को धर्म कहते हैं। धार्मिक मूल्यों ने बाबू गुलाबराय के चिन्तन में भी स्थान पाया है, किन्तु अधिकांशत: उन्होंने कलात्मक मूल्यों का ही वर्णन किया है। हजारीप्रसाद द्विवेदी के चिन्तन में मानव मूल्यों के साथ धार्मिक मूल्यों का अन्तर्भाव भी हुआ है। वे धर्म को व्यष्टि तथा समष्टि का नियमन करने वाला मानते हैं, जिससे विश्व स्थित है[२]। डा० नगेन्द्र धर्म का अर्थ मानव धर्म मानते हैं[३]। अति आधुनिक साहित्य चिन्तकों ने अपने साहित्य-चिन्तन में धार्मिक एवं आध्यात्मिक मूल्यों की चर्चा अधिक नहीं की है, क्योंकि इनमें मानव मूल्यों को प्रतिष्ठा देने की भावना ही प्रधान रही है।

(४) साहित्य का सांस्कृतिक स्वरूप

संस्कृति का मानव जीवन से बहुत निकट का सम्बन्ध है, क्योंकि मनुष्य की कुछ क्रियाएँ ही संस्कृति कहलाती हैं। संस्कृति मानवीय जीवन के महत्त्वपूर्ण क्षणों का समुदाय है, जिसका सम्बन्ध मानव जीवन की अर्थपूर्ण उपयोगी अनुपयोगी वास्तविकताओं से होता है। मानव जीवन की चेतना का बोध की क्रिया से संस्कृति सम्बद्ध होती है, इसीलिए इसकी व्याख्या करते हुए डॉ० देवराज कहते हैं-- संस्कृति की व्याख्या मूल्य रूप में करते हुए उसे उन क्रियाओं का समुदाय मानना चाहिए जो हमारे अस्तित्व की रक्षा के लिए जरूरी न होते हुए हमारे व्यक्तित्व को समृद्ध बनाने वाली है, मनुष्य के व्यक्तित्व की यह समृद्धि मुख्यत: उसके चेतनामूलक विस्तार द्वारा घटित होती है, अर्थात् उन क्रियाओं द्वारा जिनसे मनुष्य यथार्थ की सार्वभौम रूप में अर्थवती छवियों से संबंध स्थापित करता है और उनके प्रति उपयुक्त मनोभाव बनाता है[४]। संस्कृति का

---

१ जैनेन्द्र : मन्थन, पृ०६२, ६४, १०० ।

२ हजारीप्रसाद द्विवेदी : आलोकपर्व, पृ०सं०४८--४६ ।

३ डॉ० नगेन्द्र : समस्या और समाधान, पृ०सं० २७-२८ ।

४ डॉ० देवराज : संस्कृति का दार्शनिक विवेचन, पृ०सं० २०६ ।

निर्माण करने वाली यह चेतना दो चीज़ों से निर्धारित होती है । एक ओर वह यथार्थ द्वारा निर्मित या निर्धारित होती है तथा दूसरी ओर मानवीय रुचियों द्वारा । इसमें व्यक्ति की आंतरिकता तथा यथार्थ की वस्तुनिष्ठता का सामंजस्य होता है । संस्कृति के सर्जन के रूप में यथार्थ की अनन्त संभावनाओं की खोज भी निहित रहती है । साहित्य के सांस्कृतिक स्वरूप के अन्तर्गत संस्कृति को एक मुल्य के रूप में लिया गया है । इसके मुल्यबोध के विकास में परम्परा का महत्त्वपूर्ण योग रहता है । साहित्य में सांस्कृतिक प्रक्रिया को एकसाथ मुल्यवान,अर्थवान, निरुपयोगी तथा निरपेक्ष माना है जाता है,क्योंकि सांस्कृतिक मुल्य मनुष्य के सामाजिक जीवन की अपेक्षा में उपयोगी नहीं होते, उनकी अर्थवत्ता देश काल की सीमाओं से परे होती है,उनमें आबद्ध नहीं होती । सांस्कृतिक मुल्यों का प्रतिमान प्रतिभाशाली व्यक्तित्त्व भी होता है,क्योंकि वह अपनी रचनात्मक क्षमता से संस्कृति के किसी न किसी पक्ष को समृद्ध बनाये रखता है । इन सांस्कृतिक मुल्यों में नैतिकता का भी समावेश हो गया है, परन्तु नैतिक मुल्यों ह को सामाजिक प्रयोजन के अन्तर्गत विवेचित किया जा चुका है,अत: पुन: यहां वर्णन अनुपयोगी होगा । साहित्य का सांस्कृतिक स्वरूप मनुष्य जीवन को सत्य,शिव और सुन्दर के मुल्यों से निरूपित करता है ।

आधुनिक हिन्दी साहित्यचिन्तकों में कुछ ने ही साहित्य के सांस्कृतिक स्वरूप अथवा सांस्कृतिक मुल्यों पर अलग से विचार किया है ।प्रेमचंद के चिन्तन का मुल उद्देश्य लोकहित की संस्कृति को फलीभुत करना था । उन्होंने सांस्कृतिक मुल्यों पर अधिक विचार तो नहीं किया, परन्तु फिर भी उसके दो रूप स्वीकार किये -- भावना, शिष्टाचार आदि का सम्बन्ध वे संस्कृति के बाह्य स्वरूप से मानते हैं तथा धार्मिक एवं आध्यात्मिक विचारों को संस्कृति के आंतरिक स्वरूप से संबंधित करते हैं[1] । प्रसाद ने सांस्कृतिक राष्ट्रीयता को महत्व दिया तथा

---

१ प्रेमचन्द : विविध प्रसंग(सं०अमृतराय)भाग२,पृ०सं०४२६-२७ ।

सौन्दर्यबोध के विकसित करने में उसे (संस्कृति) मौलिक चेष्टा माना[१]। पंत ने सांस्कृतिक चेतना में धर्म, अध्यात्म, नीति, सामाजिक रूढ़ि, रीति और व्यवहारों के सौंदर्य का सामंजस्य कर लिया है[२]। उन्होंने क्षुधा, काम आदि मनुष्य के मौलिक संस्कारों का कोई सांस्कृतिक मूल्य नहीं माना है। महादेवी वर्मा ने अपने चिन्तन में सभ्यता और संस्कृति पर विचार व्यक्त किये हैं वे संस्कृति को केवल बाह्याचार तक सीमित नहीं देखना चाहती[३]।

नन्ददुलारे वाजपेयी काव्य में जीवन की प्रेरणा तथा सांस्कृतिक चेतना को आवश्यक मानते हैं। जैनेन्द्र ने साहित्य में सांस्कृतिक मूल्यों पर बहुत बल दिया है, क्योंकि वे संस्कृति को केवल भव्य वस्तु ही नहीं मानते, अपितु नींव मानते हैं, जिससे भव्यता का विकास होता है[४]। इसीलिए अपना सम्पूर्ण चिन्तन, चाहे वह धर्म से संबंधित हो अथवा दान, कर्म, दया या आर्थिक वैषम्य से वह अधिकतर संस्कृति को आधार मानकर करते हैं।

रामविलास शर्मा ने तो संस्कृति की कल्पना को ही मानव संगठन के बिना असम्भव माना है। वे साहित्य के स्थायी मूल्यों को भी मानव जाति की सांस्कृतिक निधि के रूप में देखते हैं[५]। हजारीप्रसाद द्विवेदी ने साहित्य और संस्कृति को एक दूसरे में अनुस्यूत माना है[६]। उनके विचार से संस्कृति प्रयोजनातीत आंतर आनंद की अभिव्यक्ति होती है। जो वास्तव में मनुष्य की श्रेष्ठ साधनाएँ ही होती हैं। नगेन्द्र सांस्कृतिक मूल्यों को जिनमें नैतिकता की भावना भी निहित रहती है, मौलिक नहीं मानते हैं[७]। अज्ञेय ने

----

१ प्रसाद : काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध, पृ०सं० २८ ।

२ पंत : शिल्प और दर्शन, पृ०सं० १०७ ।

३ महादेवी वर्मा : संकल्पिता, पृ०सं० २० ।

४ जैनेन्द्र : पूर्वोदय, पृ०सं०६५-६६ ।

५ रामविलास शर्मा की पुस्तकों प्रगति और परम्परा तथा स्वाधीनता और राष्ट्रीय साहित्य के निबन्धों में उनके ये विचार मिलते हैं ।

६ हजारीप्रसाद द्विवेदी : अशोक के फूल, पृ०सं० ८३-८४ ।

सांस्कृतिक स्वरूप के विकास के लिए स्वातन्त्र्य को मुख्य तत्व माना है तथा[1] सांस्कृतिक सत्य को व्यापक सत्य कहा है। नवलेखन वर्ग के चिन्तकों ने नैतिकता के प्रत्यय को भी मानवतावादी दृष्टि के साथ संयुक्त किया है तथा सांस्कृतिक प्रक्रिया पर विचार व्यक्त करते हुए सांस्कृतिक मूल्यों पर भी प्रकाश डाला है।[2]

(५) साहित्य में रूपवाद या कलावाद

यह प्रश्न युगों से चला आ रहा है कि काव्य का सर्वप्रथम प्रयोजन क्या हो ? कोई इस प्रयोजन को काव्य द्वारा प्राप्त आनन्द में देखता है, कोई नैतिक शिक्षा में तथा कोई सौन्दर्यबोध में। जहाँ तक सौन्दर्य और आनन्द का प्रश्न है, ये दोनों प्रयोजन कलावाद से संबंधित हैं। कला के विषय में विचार तो प्लेटो के समय से ही प्रारम्भ हो गया था, परन्तु रूपवाद या कलावाद का आरम्भ आलोचना के क्षेत्र में बीसवीं शताब्दी में हुआ।

कला का विकास मानव को आनन्द एवं सौंदर्य की अनुभूति कराने के लिए हुआ, इसीलिए इसका मूल उद्देश्य भी सौन्दर्य बोधात्मक आनन्द की उपलब्धि कराना ही है, वैसे कला के तीन मुख्य उद्देश्य हो सकते हैं- कला सुख या आनन्द के लिए हो सकती है, वह सत्य और नैतिकता के उपदेश के लिए हो सकती है तथा सौन्दर्य की अनुभूति के लिए हो सकती है। कला के इन तीनों उद्देश्यों में से सौन्दर्य और आनन्द की अनुभूति को कलात्मक मूल्यों के अन्तर्गत परिगणित किया जाता है। इनमें रूपात्मक मूल्य भी होते हैं, जो सौंदर्य और आनन्द की सूक्ष्म अनुभूति से कुछ स्थूल पड़ते हैं। रूपविधान के साथ विषय वस्तु के साथ अभिन्न सम्बन्ध होता है, क्योंकि विषय तो हम उस वस्तु को कहते हैं जो उसे आकार देता है। किसी बात की अभिव्यक्ति करने के लिए यह आवश्यक है कि किसी रूप को किसी विषय पर लादा जाए, क्योंकि जब हम किसी कृति की प्रशंसा करते हैं तब विषय और आकार की संयुक्ति को विशिष्ट नहीं कहते हैं कहते, अपितु विषय के साथ संयुक्त आकार को प्रशंसनीय मानते हैं।

---

१ अज्ञेय : आत्मनेपद, पृ०सं० २५४-५५ ।

२ डॉ० रघुवंश ने अपने एक लेख 'सांस्कृतिक प्रक्रिया' के अन्तर्गत इस विषय में बहुत

क   कलात्मक मूल्यानुभूति अनेक स्तरीय एवं समूह पर आधारित होती है तथा विभिन्न कलाओं, कलाविधाओं या कलाकृतियों में एक सी नहीं होती । कलात्मक मूल्य कई मूल्यों की समुचित देन है । किसी कलाकृति का विशिष्ट कलात्मक मूल्य उसके चमत्कार विधायक रचनात्मक तत्वों पर निर्भर करता है,इसीलिए किसो कृति में निहित अनूठे सौंदर्य के कारण अथवा उसके द्वारा दिए जाने वाले अलौकिक आनन्द के कारण ही हम उसे अपने ढंग की अनूठी रचना कह सकते हैं । कलामूल्य रूप और वस्तु, सृजनात्मक स्वातन्त्र्य तथा परम्परा रक्षित अर्थ,मनोरंजन और व्युत्पादन, व्यक्ति का निजीपन तथा समाज की व्यवस्था के द्वैत तक जाता है । इसकी अपनी विशेष रंजकता होती है । कलोपलब्ध मनोरंजन केवल लोकसामान्य नहीं होता,क्योंकि वह वास्तविक कारणों से उत्पाद्य और वैयक्तिक रूप से योग्य मनोवृत्तियों में उपलब्ध नहीं होता । साहित्य चिन्तन में निहित कलात्मक मूल्यों की तीन श्रेणियां -- रूप,सौंदर्य और आनन्द की बनाई जा सकती है ।

रूप

आकार या रूप किसी उद्देश्य की विशेषता को कहते हैं, जो अनुभव की गई हो, या वह रचना जिसमें किसी अनुभव या किसी वस्तु के तत्त्वों को संयोजित किया गया हो । रूप जिस ओर संकेत करता है,वही उसका अर्थ है और उस अर्थ का रूप लक्षण या मूर्तिमान संकेत होता है,अत: रूप को एक सामान्य लक्ष्य मात्र न समझकर एक अर्थद्योतक विशिष्टता या लक्षण ही मानना चाहिए । रूप दृश्य सामान्य न होकर मूर्त संकेत या लक्षण है,क्योंकि जब किसी रचना को रूपवादी मूल्यों से जाँचा जाता है तो इन मूल्यों की शब्दावली प्राय: अस्पष्ट होती है ।

रूपवादी मूल्यों[1] की उत्पत्ति डा० निर्मला जैन लय और रूपाकार संबंधी आह्लाद से मानती है । भारतीय काव्यशास्त्र सदा से वस्तुपरक

१ आलोचना,जुलाई,सितम्बर,१९७१- शुद्ध साहित्यिक मूल्यों का प्रश्न(लेख) ।

चिन्तन, रूपवादी विश्लेषण पर बल देता आया है, परन्तु रूपवादी मूल्यों का एकांत प्रयोग साहित्य को जीवन के लिए बेकार बना देता है। साहित्य में न तो केवल रूपवादी मूल्यों का प्रयोग होना चाहिए और न ही अकेले नैतिक मूल्यों का, क्योंकि जहाँ रूपवादी मूल्य जीवन को बेकार करते हैं, वहाँ नैतिक मूल्य या एकमात्र नैतिकता का प्रयोग भी साहित्य की सरसता को समाप्त कर देता है, इसीलिए इन दोनों मूल्यों का प्रयोग लगभग एक साथ होना चाहिए अथवा इनके साथ अन्य मूल्य भी साहित्य में आने चाहिए।

रूपवादी मूल्य वस्तुत: आकार एवं सौंदर्य से संबंधित है, किन्तु इनकी एक अति बाह्य सीमा भी है, जिसमें गणित, विज्ञान जैसे विषयों का उपयोग किया जाता है, परन्तु वैसे काव्य में ये मूल्य महाकाव्य, नाटक, उपन्यास कहानी आदि का तंत्रविधान रचने, तुक और ताल और छंद का संचालन करने, कला प्रवाह तथा प्लाट को जटिलता को कलात्मक धरातल पर रखे रखने पर निर्भर करते हैं[1]। रूपवादी मूल्यों के अन्तर्गत रागात्मक मूल्यों की गणना भी की जा सकती है। आधुनिक हिन्दी साहित्य-चिन्तन में इन रूपवादी मूल्यों को अधिक महत्त्व नहीं मिला है, क्योंकि अन्य मूल्यों की अपेक्षा इन मूल्यों को चिन्तकों ने अधिक महत्त्वपूर्ण नहीं माना।

रामचन्द्र शुक्ल ने रूप और शब्द के बिना न तो संसार की सत्ता और न ही साहित्य की सत्ता संभव मानी है[2]। रूप के अभाव में प्रसाद सौंदर्यबोध नहीं मानते[3]। उनके विचार से व्यक्ति का हृदय अमूर्त पदार्थों का भी रूपानुभव करता है। सुमित्रानंदन पंत ने रागमूल्यों को अपने चिन्तन में स्थान दिया है तथा इन्हें देह की संकीर्णता से ऊपर उठाकर व्यापक सामाजिक[4] भूमि पर प्रतिष्ठित करते हुए, उसका बहि: संस्कार करने का प्रयत्न किया है।

---

१ रमेशकुन्तल मेघ: सौन्दर्य मूल्य और मूल्यांकन, पृ०सं०७६।

२ रामचन्द्र शुक्ल : रसमीमांसा, पृ०सं० २५६।

३ जयशंकर प्रसाद : काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध, पृ०सं० ३४-३५।

४ सुमित्रानंदन पंत : कला और संस्कृति।

महादेवी वर्मा सौन्दर्य का सम्बन्ध रूप से मानती हैं और इसीलिए उसे मानव जीवन के निकट भी महसूस करती हैं[१]। परन्तु उनका सौन्दर्य केवल बाह्य रूपरेखा पर आधारित नहीं है। महादेवी वर्मा ने रागात्मक अभिव्यक्ति के महत्त्व को भी अपने चिन्तन में दिखाया है। वे कलाकार का लक्ष्य रागात्मकता ही मानती हैं, जिसमें सुन्दर-असुंदर, पूर्णता-अपूर्णता आदि की सामंजस्य अभिव्यक्ति होती है[२]। नन्ददुलारे वाजपेयी ने साहित्य में रूप के स्थूल चित्रण को स्वीकार नहीं किया, वे सौन्दर्य की सूक्ष्मता में ही अपनी आस्था रखते हैं। जैनेन्द्र ने जो अव्यक्त है, उसे गुण कहा तथा जो व्यक्त है उसे रूप। उनके विचार से गुण ही (सौंदर्य) इंद्रियगोचर होकर रूपमय हो जाता है[३]। रामचन्द्र शुक्ल की भाँति रामविलास शर्मा भी रूप और शब्द के बिना साहित्य एवं संसार की सत्ता असंभव मानते हैं[४]।

सौंदर्य

'सुन्दर' शब्द का प्रयोग विशेषण के रूप में हम विभिन्न प्रसंगों में करते हैं, जैसे विशिष्ट प्रकार के प्राकृतिक दृश्यों के लिए, विशिष्ट प्रकार की मानव आकृतियों के लिए, विशिष्ट प्रकार की ललित कलाओं (चित्र, मूर्ति, वास्तु और संगीत के प्रसंग में) तथा विशिष्ट साहित्य के लिए। सामान्य भाषा में इस सुन्दर या सौन्दर्य शब्द की चर्चा एक ओर रूप की विशेषता के रूप में होती है और दूसरी ओर इसका निरूपण मन पर पड़ने वाले प्रभाव के वर्णन द्वारा किया जाता है। सौंदर्य के प्रति मनुष्य की रुचि साहित्य की अनेक प्रेरणाओं में से एक है। आदिकाल से मनुष्य सौन्दर्य के प्रति आकृष्ट होता रहा है और आगे आने वाले अनन्तकाल तक भी होता रहेगा। सौन्दर्य के इस सहज आकर्षण ने उसे मानव

---

१ महादेवी वर्मा : संकल्पिता, पृ०सं० ५०-५२।

२ महादेवी वर्मा : क्षणदा, पृ०सं० ४८-४६।

३ जैनेन्द्र : प्रस्तुत प्रश्न, पृ०सं० ११८।

४ रामविलास शर्मा : स्वाधीनता और राष्ट्रीय साहित्य, पृ०सं० २४।

जीवन को अधिकाधिक सुंदर बनाने के लिए प्रेरित किया है । कुछ विद्वान तो मनुष्य की उन्नति,सभ्यता एवं मननशीलता साहित्य के प्रति उसकी आसक्ति के कारण ही मानते हैं । सौंदर्य का प्रत्यय विषय और विषयी दोनों के सम्बन्ध की अपेक्षा रखता है । वह वस्तु में स्थित रहता है,अत: वस्तुगत है,किन्तु वस्तु को सौंदर्य प्रदान करने वाला तो मानव ही है,इसलिए ये मूल्य(सौन्दर्य) प्रेषणीय हैं । मानवीय पूर्णता(विचारों और कृतित्वों की) का बोध कराने वाली वस्तु सुंदर होती है ।[1] सौन्दर्यात्मक मूल्यों द्वारा सुख,शिव तथा आनन्द सभी की प्राप्ति होती है,परन्तु आनन्दात्मक मूल्यों की अपनी सत्ता भी कम महत्वपूर्ण नहीं है । सौन्दर्यात्मक मूल्य आत्मगत और बहिर्गत हैं,आत्मगत होने से इनमें गहराई तथा बहिर्गत होने से व्यापकता का समावेश होता है ।[2] कुछ विद्वान सुन्दर और सौन्दर्य मूल्य में पर्याप्त अन्तर मानते हैं,उनके विचार से सौन्दर्य मूल्य किसी वस्तु की प्राप्ति से नहीं, अपितु कर्तृत्व के अर्थबोध द्वारा मूल्य बनता है ।[3] सौन्दर्य मूल्यों पर आधुनिक हिन्दी साहित्य चिन्तकों ने विस्तार से विचार किया है--

बालकृष्ण भट्ट सौंदर्य के दो भेद करते हैं--बाह्य सौंदर्य और आन्तरिक सौंदर्य । इनमें आंतरिक सौन्दर्य पर मुग्ध होने के लिए वे मानव को प्रेरित करते हैं ।[4] उन्होंने सौन्दर्य और आकर्षण का सम्बन्ध भी साहित्य में स्वीकार किया है ।[5] महावीर प्रसाद द्विवेदी जी भी साहित्य में सौन्दर्य मूल्यों की

---

१ रमेशकुन्तल मेघ : सौन्दर्य मूल्य और मूल्यांकन,पृ०सं० ६७ ।

२ वही ,पृ०सं० ७१ ।

३ आलोचना,जुलाई-सितम्बर,१९६७ यशदेव शल्य का लेख ।

४ बालकृष्ण भट्ट : मधुप(निबन्ध) ।

५ बालकृष्ण भट्ट : मुग्ध माधुरी(निबन्ध) ।

अनिवार्यता को मानते थे,किन्तु उनके सुन्दर के साथ नैतिकता संयुक्त थी[१]। रामचन्द्र शुक्ल काव्यगत सौन्दर्य को कर्म और मनोवृत्ति को उभारने वाला तत्त्व मानते हैं[२]। उन्होंने सौंदर्यात्मक मूल्यों के साथ नैतिक मूल्यों का समन्वय करके धर्म में जो शिव है,उसी को साहित्य में सुन्दर कह दिया है। मतलब यह कि सौन्दर्यानुभूति को उन्होंने मंगलविधायिनी भी मान लिया है[३]। उनका सौंदर्य स्थिर न होकर गत्यात्मक भी है[४]। प्रेमचन्द ने अपने साहित्य-चिन्तन में सौंदर्यात्मक मूल्यों का बहुत विस्तार से विवेचन किया है। वे साहित्य का साधन ही सौंदर्य प्रेम को मानते हैं[५]। साहित्य में उन्होंने सुंदर के साथ असुंदर का प्रयोग भी उपयोगी माना है,क्योंकि इससे सुंदर और सुन्दर बन जाता है[६]। जयशंकर प्रसाद ने मूर्त सौन्दर्यबोध एवं अमूर्त सौन्दर्य बोध को नकारा है। वे काव्य का उद्देश्य सौंदर्य सृष्टि करना भी मानते हैं। निराला काव्य को सौन्दर्य को सृष्टि मानते हैं तथा काव्य कला को सौन्दर्य की पूर्ण सीमा[७]। उन्होंने सौंदर्य को साहित्य के स्थूल प्रयोजन उपदेश का रूप धारण करने वाला भी कहा है, अर्थात् सौंदर्य उनके विचार से स्वयं ही उपदेश है। सुमित्रानन्दन पंत सौन्दर्यविहीन सत्य को दर्शन कहते हैं,काव्य नहीं। मतलब उनके विचार से काव्य का सत्य सौन्दर्य के माध्यम से ही अभिव्यक्ति पाता है[८]।महादेवीवर्मा ने अपनी काव्यकला संबंधी मान्यताओं

---

१ महावीर प्रसाद द्विवेदी : प्रभात(निबन्ध) ।

२ रामचन्द्र शुक्ल : रसमीमांसा,पृ०सं० ३०-३२ ।

३ रामचन्द्र शुक्ल : चिन्तामणि (भाग२),पृ०सं० ५२-५४ ।

४ वही ।

५ प्रेमचन्द : कुछ विचार(भाग१),पृ०सं० १२६-१२८ ।

६ प्रसाद : काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध,पृ०सं० ३४-३५ ।

७ निराला : प्रबन्ध प्रतिमा,पृ०सं० २७४-२७५ ।

८ सुमित्रानन्दन पंत : शिल्प और सौन्दर्य ।

में सत्य, शिव और सुंदर का सामंजस्य कर लिया है । वे सौन्दर्यानुभूति को सहज एवं सुखद मानती हैं[1] तथा सौंदर्य को सनातन । नन्ददुलारे वाजपेयी ने काव्य को सौन्दर्यमय चित्रण[2] माना है जो मनुष्य मात्र में सौंदर्य संवेदन उत्पन्न करने की क्षमता रखता है । कला और सौंदर्य को वे सदैव समाज सापेक्ष मानते हैं । जैनेन्द्र ने सत्य,सुंदर और शिव को एक ही स्तर के माना है[3] । बाबू गुलाबराय ने भी सौन्दर्य के दो रूप माने हैं-- बाह्य एवं आंतरिक । आंतरिक पक्ष को उन्होंने बिम्ब कहा है तथा सौन्दर्य को भावक्षेत्र का सामंजस्य[4] । वे सत्य और सुंदर का समन्वय भी चाहते हैं । रामविलास शर्मा सौन्दर्य को इन्द्रियबोध तक सीमित न मानकर बहुत व्यापक क्षेत्र में फैला हुआ कहते हैं । वे सुंदर वस्तुओं में सौन्दर्य की सत्ता को मानते हुए उसके (सौंदर्य के) साथ उपयोगिता को भी सम्बन्धित करते हैं[5] । रामविलास शर्मा जनवाद के समर्थक होने के कारण सौन्दर्य का स्रोत जनता को ही मानते हैं[6] । हजारीप्रसाद द्विवेदी सम्पूर्ण मानव समाज को सुंदर बनाने की साधना को साहित्य कहते हैं तथा साहित्य में विभिन्न तत्त्वों के सामंजस्य को सुंदरता कहते हैं[7] । इलाचन्द्र जोशी की सौन्दर्य संबंधी धारणा में मंगल का अन्तर्भाव हुआ है[8] । नगेन्द्र ने भी सौन्दर्य को सृष्टि करना ही साहित्य का धर्म माना है तथा सौन्दर्य को किसी प्रकार को निरपेक्ष वस्तु नहीं माना[9] । कलात्मक मूल्यों को शाश्वत मानने वाले अज्ञेय ने सौन्दर्यबोध को मूलत: बुद्धि का व्यापार माना है[10] ।

---

१ महादेवी वर्मा : संकल्पिता,पृ०सं० ५२ ।

२ नन्ददुलारे वाजपेयी : आधुनिक साहित्य,पृ०सं०४५८-५६ ।

३ जैनेन्द्र : सत्य शिव सुंदर(निबन्ध) ।

४ गुलाबराय : सिद्धान्त और अध्ययन,पृ०सं० १८,१८२,१८३ ।

५ रामविलास शर्मा : लोकजीवन और साहित्य,पृ०सं० १-२ ।

६ वही ,पृ०सं० १५ ।

७ हजारीप्रसाद द्विवेदी: अशोक के फूल,पृ०सं० १८६ ।

८ इलाचन्द्र जोशी: विश्लेषण,पृ०सं० १३५-१३६ ।

मुक्तिबोध ने सौन्दर्य को आन्तरिक मानते हुए,उसके मानों को नित्य काल-सापेक्ष्य कहा है[1]। अति आधुनिक चिन्तकों की मानवता दृष्टि के साथ सौंदर्य-बोध के प्रत्यय जुड़े हुए हैं। ये चिन्तक यथार्थ की संवेदना में ही सौन्दर्य देखते हैं। लक्ष्मीकान्त वर्मा ने साहित्य-चिन्तन में सत्य,शिव और सुंदर[2] और सत्य को अधिक महत्त्व दिया है।

आनन्द

कोई भी मनुष्य किसी कार्य का आरम्भ मुख्यत: आनन्द प्राप्ति के लिए करता है, यह आनन्द ही प्राणिमात्र का लक्ष्य है,हाँ इसके प्राप्ति के रूपों कके में अन्तर हो सकता है। साहित्यचिन्तन मेंभी काव्य या कला का उद्देश्य मुख्यत: आनन्द ही माना जाता है, जिसके अभाव में काव्य या कला जीवित नहीं रह सकते, इसलिए आनन्द का भी अपने आप में बहुत मूल्य है। आनन्दवादी मूल्य मनोरंजन जैसे स्थूल मूल्य तक सीमित न होकर मानसिक सन्तोष तथा तुष्टि जैसी सूक्ष्म भावना तक विकसित पाये जाते हैं। प्राचीनकाल से भारत तथा विदेश में कविता का प्रयोजन जन मानस को आनंदित करना माना जाता रहा है। साहित्य चिन्तन साहित्य में अथवा कला में आनन्द के विभिन्न स्तरों को मान्यता प्रदान करते हैं,जो क्रमश: सामाजिक, धार्मिक, आध्यात्मिक, कलात्मक तथा सर्जनात्मक स्तरों तक में पाया जाता है। वास्तव में आनन्दवादी मूल्यों का क्षेत्र साहित्य चिन्तन में कलात्मक मूल्यों के अन्तर्गत ही है। सौन्दर्यवादी मूल्यों की भाँति ये मूल्य भी कलात्मक मूल्यों में अपनी विशिष्टता रखते हैं। आधुनिक हिन्दी साहित्य-चिन्तकों में अधिकांश के चिन्तन में इन मूल्यों(आनन्दवादी) का अन्तर्भाव हुआ है।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने आनन्द को स्वतंत्र रस के रूप में मानकर कविता या साहित्य में इसका होना आवश्यक माना है[3]। प्रतापनारायण मिश्र

---

१ मुक्तिबोध : नये साहित्य का सौन्दर्यशास्त्र,पृ०सं०१२५।

२ लक्ष्मीकान्त वर्मा : नये प्रतिमान : पुराने निकष,पृ०सं० २०७।

३ केदारनारायण शुक्ल : भारतेन्दु के निबन्ध-सम्पादक के नाम पत्र में।

रचना द्वारा पाठक का मनोरंजन होना जरूरी मानते थे, इसीलिए उन्होंने अपनी रचनाओं द्वारा भी पाठकों का मनोरंजन करने का ही प्रयत्न किया है[1]। महावीर-प्रसाद द्विवेदी ने कविता का उद्देश्य मनोरंजन तो माना है, किन्तु उनके इस शब्द में स्थूलता नहीं आनन्द की गंभीरता सन्निहित है[2]। उन्होंने रस को भी मनोरंजकता का प्रधान कारण माना है, वहाँ वे कविता की श्रेष्ठता की जाँच करते समय उसका मापदण्ड भी आनन्द को ही बनाते हैं[3]। रामचन्द्र शुक्ल ने रस को आनन्द रूप मानते हुए ब्रह्म के तीन स्वरूपों में आनन्द रूप को काव्य के लिए स्वीकार किया है तथा काव्य में आनन्द की अभिव्यक्ति के दो रूप माने हैं और उन्हीं के अनुसार काव्य का विभाजन भी किया है[4], परन्तु आनन्द के साथ उन्होंने मंगल की भावना को भी सम्बद्ध कर दिया है।

प्रेमचन्द ने आनन्द को चाहे वह मानसिक हो या आध्यात्मिक उपयोगिता के साथ जोड़ा है। वे साहित्य के आनन्द के साथ ही मनुष्य का मनुष्य होना संभव मानते हैं[5]। जयशंकरप्रसाद आनन्द एवं उल्लास की साधनापद्धति को ही महत्त्व देते हैं तथा जीवन की सार्थकता, सफलता आनन्द की खोज बताते हैं[6]। काव्यानन्द को पंत ने ब्रह्मानन्द सहोदर कहा है। नन्ददुलारे वाजपेयी आह्लाद को काव्य में प्रधान तो मानते हैं, किन्तु रस की अलौकिकता से सहमत नहीं[7]। आनन्द को अनुभूति कह जैनेन्द्र ने उसे ब्रह्मानन्द तक भी कह दिया है[8]। बाबू गुलाबराय ने आनन्द को लाभ कहा है[9] तथा अपने चिन्तन में भावपक्ष को मुख्यता देने के कारण

---

१ द्रष्टव्य हैं उनके लेख एवं कविताएँ।

२ महावीरप्रसाद द्विवेदी : संचयन, पृ०सं० ८६।

३ महावीरप्रसाद द्विवेदी : निबन्ध "कविता", कवि और कविता, कवि कर्तव्य आदि

४ रामचन्द्र शुक्ल : रसमीमांसा, पृ०सं० ६०-६१।

५ प्रेमचन्द : साहित्य के उद्देश्य।

६ प्रसाद : काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध--"रहस्यवाद" निबन्ध।

७ नन्ददुलारे वाजपेयी : हिन्दी साहित्य: बीसवीं शताब्दी, पृ०सं० ६७-६८।

८ जैनेन्द्र : प्रश्न और प्रश्न, पृ०सं० २३७।

रस की महत्ता को स्वीकार किया है। रस को बाबू साहब ब्रह्मानन्द सहोदर भी कहते हैं[1]। रामविलास शर्मा ने भी साहित्य से प्राप्त आनन्द पर विचार किया है, परन्तु इसमें वे बहुत भिन्नता देखते हैं, यह आनन्द स्थूल से लेकर बहुत सूक्ष्मता तक जाता है[2]। रस को वे आनन्द ही कहते हैं[3]। हजारीप्रसाद द्विवेदी ने रस एवं आनन्द को एक ही मानते हुए साहित्य का उद्देश्य ब्रह्मानन्द उत्पन्न करना माना है[4]। इलाचन्द्र जोशी आनन्द को कला का मूल उत्स तथा शुद्ध एवं प्रयोजनातीत कहते हैं। डॉ० नगेन्द्र ने तो काव्य का प्रयोजन ही आनन्द माना है[5]। उनके विचार से काव्यानन्द में सभी मूल्य पर्यवसित हो जाते हैं तथा रस भी आनन्द का ही एक रूप है[6]। अज्ञेय ने आनन्द को मन की एक प्रवृत्ति कहा है जो जीवन की अभिव्यक्ति करती है[7]। अति आधुनिक साहित्य चिन्तकों ने भी साहित्य अथवा काव्य के प्रयोजन की चर्चा करते समय आनन्द पर विचार व्यक्त किए हैं।

(६) साहित्य की सर्जनात्मक प्रक्रिया

साहित्य की सर्जनात्मक प्रक्रिया से तात्पर्य है कि किस प्रकार साहित्य का निर्माण होता है तथा किन माध्यमों से उसमें गत्यात्मकता एवं रचनाशीलता बनी रहती है। जिस प्रकार प्रकृति में नित नया परिवर्तन होता रहता है तथा उसे परिवर्तन के कारण नये-नये रूप विकसित होते रहते हैं, उसी प्रकार साहित्य मेंभी सर्जन की प्रक्रिया निरन्तर चलती रहती है, क्योंकि कभी कोई मूल्य साहित्य में अपना स्थान बनाते हैं और कभी कोई। मूल्यों में विघटन होता है तो

---

१ गुलाबराय : सिद्धान्त और अध्ययन, पृ०सं० ४२-४८।

२ रामविलास शर्मा : संस्कृति और साहित्य, पृ०सं० १८७-१८६।

३ वही, पृ०सं० १६०।

४ हजारीप्रसाद द्विवेदी : साहित्य सहचर, पृ०सं० १४६-१५०।

५ नगेन्द्र : आस्था के चरण, पृ०सं० ८२।

६ नगेन्द्र : विचार और अनुभूति, पृ०सं० १४-१५।

कुछ मूल्य नष्ट होते हैं और कुछ उनका स्थान अपना लेते हैं। साहित्य में मूल्य का सर्जन से अभिन्न सम्बन्ध है, यहाँ मूल्यों की स्थिति अलग और स्वतंत्र नहीं है। सर्जनशीलता से अलग होकर मूल्य मात्र परम्परा और रूढ़ियाँ रह जाते हैं, क्योंकि उनमें कुछ परिवर्तन न होने के कारण नवीनता नहीं आ पाती। सर्जन प्रक्रिया चलती रहे तो मूल्य रूढ़ नहीं हो सकते, इसीलिए मूल्यों को सर्जन से अलग करके उनके महत्त्व की परीक्षा नहीं की जा सकती अर्थात् सर्जनशीलता के साथ ही मूल्य की महत्ता प्रतिपादित की जा सकती है। सर्जन की अन्तर्वृत्ति क्रियाशील होती है, इसमें विषय और विषयि का भी समान महत्त्व होता है। सर्जन एवं सृजन को यहाँ एक ही अर्थ में प्रयुक्त किया गया है, क्योंकि इनका कार्य साहित्य की सृष्टि एवं निर्माण ही होता है, इसलिए साहित्य के साथ इन दोनों का सम्बन्ध है। मूल्यों की सर्जनशीलता की प्रवृत्ति भारत में चिरकाल से अन्तर्निहित है, क्योंकि यहाँ राजनीतिक, आर्थिक तथा सामाजिक सभी मूल्य चेष्टाओं को अन्त में सर्जनात्मक मूल्यों की ओर उन्मुख किया जाता रहा है।

सर्जनात्मक मूल्यों के निर्माण में गत्यात्मक रचनाशीलता तथा मूल्यों में होने वाला विघटन ही मुख्य रूप से कार्य करते हैं।

गत्यात्मक रचनाशीलता

गत्यात्मक रचनाशीलता से तात्पर्य है कि साहित्य सर्जन में बिना किसी रुकावट के, बिना स्थिरता आये रचनाशीलता की प्रवृत्ति मौजूद रहे। इस गत्यात्मक रचनाशीलता के मूल में कुछ तत्त्वों का होना अनिवार्य है, जिनके बल पर साहित्य में सर्जनात्मक अथवा सृजनात्मक प्रक्रिया गतिशील हो। ये तत्त्व हैं-- कल्पना, अनुभूति, अभिव्यक्ति तथा प्रतिभा। साहित्य में भावनाओं का चित्रण कल्पना-शक्ति के प्रयोग द्वारा ही सम्पन्न होता है। उसमें सौन्दर्य और चमत्कार की सृष्टि का माध्यम भी कल्पना ही बनती है। कल्पना यथार्थ की नयी सृष्टि करती है। कल्पना के सहारे ही मनुष्य का अनुभव प्रतीकात्मक सर्जन कर्म में समर्थ होता है। इस सर्जन का प्रभाव हमारे मूल्यबोध को अधिक व्यापक, गहरा तथा सूक्ष्म करता है। साहित्यकार अथवा चिन्तक की कल्पना असत् को सत् में, स्थूल को

सूक्ष्म में तथा लौकिक को अलौकिक में परिवर्तित कर देने की विशेष शक्तियों से भी सम्पन्न होती है। सबसे पहले यह कवि अथवा साहित्यकार के मन में सक्रिय होती है, फिर रचना का रूप ग्रहण करती है। कोई भी कवि या लेखक प्रकृति में अपनी रुचि के अनुरूप जब सौन्दर्य या रमणीयता नहीं पाता तो वह अपनी कल्पना द्वारा उन प्राकृतिक सुन्दर वस्तुओं की अपेक्षा अधिक आश्चर्यजनक एवं सुंदर वस्तुओं की कल्पना कर लेता है। अत: कल्पना का साहित्य की सर्जनात्मक प्रक्रिया में अपना विशेष मूल्य है। गत्यात्मक रचनाशीलता में कल्पना के अतिरिक्त मनुष्य की अनुभूति अभिव्यक्ति की क्षमता तथा प्रतिभा भी सक्रिय सहयोग देती है, क्योंकि सर्वप्रथम तो कवि अथवा लेखक प्रकृति के सम्पर्क में आकर सुखद अथवा दुखद अनुभवों को अर्जित करता है, फिर अपनी प्रतिभा के बल पर कल्पना के माध्यम से उन्हें अभिव्यक्त करता है, इसीलिए सर्जनात्मक प्रक्रिया की रचनाशीलता में मुख्यत: कल्पना, अनुभूति, अभिव्यक्ति तथा प्रतिभा ही कार्य करते हैं। अनुभूति की भूमिका पर मनुष्य सौंदर्य, सत्य, शिव और आनन्द जैसे मूल्यों का साक्षात्कार भी करता है। मनुष्य की अनुभूति किसी न किसी रूप में अभिव्यक्त अवश्य होती है, चाहे वह शब्दों में अभिव्यक्त हो, चाहे मुख मुद्रा से और चाहे किसी अन्य चेष्टा से। साहित्य में अनुभूति शब्दों के माध्यम से अभिव्यक्त होती है। किसी वस्तु प्रकृति या मनुष्य के सम्पर्क में आकर उसके बारे में सोचना या उनके बारे में अच्छा-बुरा निर्णय लेना ही वास्तव में अर्जित अनुभव या अनुभूति होती है जो शब्दों द्वारा साहित्य में अभिव्यक्ति पाती है। मनुष्य की अनुभूति जितनी ही श्रेष्ठ होगी, उतनी ही उसकी अभिव्यक्ति भी विशेष होगी। अनुभूति एक रचनात्मक क्रिया ही है। जीवन और परिस्थितियों के बदलने से मनुष्य की अनुभूतियाँ भी परिवर्तित होती रहती हैं, उनमें नवीनता आती रहती है तथा मानव-मानव की अनुभूतियों में भी अन्तर होता है, क्योंकि किसी वस्तु की भिन्न-भिन्न चेतनाओं पर भिन्न-भिन्न प्रतिक्रिया होगी, फलस्वरूप अलग-अलग विचार भी उत्पन्न होंगे, इसीलिए प्रतिभासम्पन्न व्यक्ति की अनुभूति एवं अभिव्यक्ति में तथा साधारण व्यक्ति की अनुभूति एवं अभिव्यक्ति में अत्यधिक अन्तर पाया जाता है। अनुभूति एवं कल्पना के प्रसंग में प्रतिभा शब्द का

बार-बार उल्लेख हो रहा है, इस प्रतिभा का भी साहित्य की सर्जनात्मक प्रक्रिया में मुख्य स्थान है। मनुष्य की प्रतिभा क्षमता को किसी भी प्रकार सीमित नहीं किया जा सकता। प्रतिभा को कुछ विद्वान तो ईश्वरीय देन के रूप में मानते हैं, परन्तु कुछ इसे अ अभ्यास के बल पर चमकाने की बात भी करते हैं। सर्जनात्मकत्व प्रतिभा के प्रायः दो रूप पाये जाते हैं जो भारत एवं विदेशों के साहित्य में भी द्रष्टव्य हैं-- संस्कारी प्रतिभा तथा स्वच्छन्द प्रतिभा। संस्कारी प्रतिभा की सर्जनशीलता में भी बौद्धिक गरिमा, कल्पना की महानता तथा अनुभवों की विराटता आदि अभिव्यंजित होते हैं तथा स्वच्छंद प्रतिभा में कल्पना की स्वच्छन्दता, भावात्मक उल्लास, आत्मीयता, सहानुभूति आदि का आग्रह पाया जाता है। प्रतिभाशाली व्यक्ति तथा साधारण व्यक्ति में बहुत अन्तर पाया जाता है, क्योंकि साधारण व्यक्ति जीवन और जगत के मूल्यों पर सीधे दृष्टि नहीं डालता, परन्तु प्रतिभाशाली की दृष्टि स्वीकृत मान्यताओं को भेदकर सीधे यथार्थ से सम्पर्क कर लेती है। प्रतिभाशाली व्यक्ति की महसूस करने की शक्ति बहुत विकसित होती है, इसीलिए वह साधारण जनों से बहुत श्रेष्ठ पड़ता है, वह अपनी प्रतिभा के बल पर युग की अनुभूतियों तथा संवेदनाओं को नया रूप प्रदान करता है, इसीलिए कई विद्वान साहित्य के निर्माण में सर्जनात्मक प्रतिभाओं को प्रेरक रूप में स्वीकार करते हैं। इस प्रकार साहित्य की सर्जन प्रक्रिया में प्रतिभा का योगदान बहुत महत्त्वपूर्ण है। आधुनिक हिन्दी साहित्य चिन्तकों ने साहित्य सर्जन करने वाली कल्पना, अनुभूति अभिव्यक्ति तथा प्रतिभा शक्तियों को अपने चिन्तन में बहुत महत्त्व दिया है।

बालकृष्ण भट्ट प्रतिभा एवं कल्पना दोनों को ही साहित्य सर्जन में आवश्यक मानते हैं[1]। वे कल्पना का सूक्ष्म अंकुर प्रतिभा को कहते हैं जो प्रत्येक मानव-मन में विद्यमान रहती है तथा अभ्यास द्वारा बढ़ायी जा सकती है। इसप्रकार कल्पना को एक मानसिक शक्ति मानते हुए प्रतिभा का योग उसमें कर दिया है तथा

---

१ द्रष्टव्य भट्ट निबन्धावली के निबन्ध।

अभ्यास द्वारा उसे बढ़ाने की भी बात की है। महावीरप्रसाद द्विवेदी जी को कवि की कल्पना तथा प्रतिभा की स्वतंत्रता ही मान्य थी, उन्हें वे किसी प्रकार के बन्धनों में जकड़ा देखना पसन्द नहीं करते थे[1], इसलिए वे साहित्य सर्जन करने वाली इन शक्तियों द्वारा ही हिन्दी साहित्य में व्यापक विधाओं को देखने के इच्छुक थे। रामचन्द्र शुक्ल ने अनुभूति, भावुकता तथा कल्पना तीनों को कवि के लिए अनिवार्य माना है[2]। उनके विचार से कवि की अनुभूति सारे विश्व में व्याप्त है तथा प्रतिभा के दोनों रूप कल्पना के अतिरिक्त कुछ नहीं है, इसीलिए वे मार्मिक स्थलों की व्यंजना (काव्यमें) भी कल्पना द्वारा ही सम्भव मानते थे। उनकी कल्पना निरपेक्ष नहीं, अपितु भावस्वरूपा है[3]। प्रेमचन्द ने अनुभूति एवं कल्पना को साहित्य सृजन के लिए आवश्यक माना है, क्योंकि उनके विचार से कवि जो अनुभव करते हैं वही कल्पना में पहुँचकर, उसके माध्यम से साहित्य सृजन करता है[4] अर्थात् अनुभूति और कल्पना का अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है। प्रसाद ने अनुभूति एवं अभिव्यक्ति को साहित्य सर्जन में आवश्यक माना है, क्योंकि वे अनुभव का सम्प्रेषण ही रचना मानते हैं[5], परन्तु इस अनुभूति की अभिव्यक्ति में उन्होंने प्रतिभा कोभी स्वीकार किया है जिससे साहित्य सृजन में मदद मिलती है। निराला ने साहित्य, कला अथवा काव्य में प्रतिभा की अनिवार्यता मानी, परन्तु इस प्रतिभा को केवल पाण्डित्य नहीं[6] कहा अगर प्रतिभा के साथ पाण्डित्य का मेल हो जावे तो उसे वे श्रेष्ठ भी कहते हैं। पंत कल्पना के सत्य को सबसे बड़ा सत्य मानते हुए उसे ईश्वरीय प्रतिभा का अंश तक

---

१ महावीरप्रसाद द्विवेदी : रसज्ञ रंजन, पृ०सं० २६, ३०, ५२, ५३।

२ रामचन्द्र शुक्ल : चिन्तामणि(भाग२), पृ०सं० ७८-७६।

३ रामचन्द्र शुक्ल : रसमीमांसा, पृ०सं० २५-२७।

४ प्रेमचन्द : कुछ विचार(प्रथम भाग), पृ०सं० ८-१०।

५ प्रसाद :काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध, पृ०सं० ४३-४५, ८४-८६।

६ सुधा- नवम्बर ३४, सम्पा० टि०।

कह देते हैं[1]। महादेवी वर्मा ने प्रतिभा की महत्ता को स्वीकार करते हुए कल्पना तथा अनुभूति को काव्य के मुक्ताकाश में विचरण के लिए बहुत आवश्यक माना है[2]। नन्ददुलारे वाजपेयी ने साहित्य की सृष्टि ही आत्मानुभूति की प्रेरणा से मानी है[3] तथा कल्पना का यथेष्ट संयोग काव्य में आवश्यक कहा है[4]। जैनेन्द्र प्रतिभा नहीं, अपितु कल्पना एवं अनुभूति को ही साहित्य-सर्जन में आवश्यक मानते हैं, परन्तु उनकी कल्पना विवेक वियुक्त न होकर श्रद्धामूलक है[5]। आनन्द को भी उन्होंने अनुभूति ही मान लिया है। बाबू गुलाबराय ने प्रतिभा को बुद्धि संगत कहते हुए उसे असाधारण प्रकार की कल्पना स्वीकृत[6] माना है तथा कल्पना का कार्य अनुभूति एवं अभिव्यक्ति दोनों में स्वीकार किया है। रामविलास शर्मा ने काव्य में तरह-तरह के रूप पाठक के सम्मुख उपस्थित[7] करने वाली चित्रमय कल्पना-शक्ति को साहित्य सर्जन के लिए आवश्यक माना है। हजारीप्रसाद द्विवेदी कल्पना को सत्यग्रहण में सहायक मानते हुए[8] साहित्य की रचना, व्यक्ति की विशेष प्रतिभा द्वारा होनी मानते हैं। इलाचन्द्र जोशी ने प्रतिभा को आवश्यक तो माना है, किन्तु उसे व्यक्ति जीवन के घेरे से बाहर आकर जनजीवन में सामाजिक चेतना जगाने वाली भी कहा है[9]। डॉ० नगेन्द्र ने साहित्य को मूलत: हृदय का व्यापार मानते हुए इसका माध्यम अनुभूति को कहा है[10]। कल्पना एवं प्रतिभा पर विचार करते हुए समय वे कल्पना का मुख्य कार्य रिक्त स्थानों का भरना मानते हैं[11] तथा प्रतिभा को चेतना का रूप कहते हैं[12]। अज्ञेय ने अनुभव एवं अनुभूति में अंतर करते

---

१ पन्त : शिल्प और सौन्दर्य,पृ०सं० ५८-६० ।

२ महादेवी वर्मा : संकल्पिता, पृ०सं० १२६ ।

३ नन्ददुलारे वाजपेयी : आधुनिक साहित्य,पृ०सं०४६३-६५ ।

४ नन्ददुलारे वाजपेयी : जयशंकर प्रसाद,पृ०सं० २५ ।

५ जैनेन्द्र : साहित्य का श्रेय और प्रेय,पृ०सं० ५५-५७,२७५ ।

६ गुलाबराय : सिद्धान्त और अध्ययन,पृ०सं० १००-१०३ ।

७ रामविलास शर्मा : स्वाधीनता और राष्ट्रीय साहित्य,पृ०सं० २६-२७ ।

८ हजारीप्रसाद द्विवेदी : विचार और वितर्क,पृ०सं० २००-०८ ।

हुए अनुभूति को संवेदना और कल्पना के सहारे सत्य को आत्मसात् कर लेने वाली माना है तथा प्रतिभा को महत्व दिया है,जिसके बल पर व्यक्ति नैतिक एवं सौंदर्य मूल्यों को पहचानता है[1]। मुक्तिबोध ने प्रतिभा,कल्पना तथा संवेदनात्मक अनुभवों को साहित्य सर्जन में आवश्यक माना है। साहित्य रचना में वे ० महान प्रतिभा का बहुत बड़ा योगदान मानते हैं परन्तु उसे अभ्यास द्वारा परिष्कृत करते रहने की बात भी करते हैं[2]। उन्होंने संवेदनात्मक अनुभवों द्वारा जो अभिव्यक्ति होती है, उसमें कल्पना का होना भी आवश्यक माना[3]।

नवीन चिन्तन के चिन्तकों ने कवि की सृजनात्मकता पर बहुत बल दिया है। सर्जन में वे अन्त:प्रेरणा को सर्वाधिक बल देते हैं। नामवर सिंह ने अनुभूति को रचनात्मक प्रक्रिया कहते हुए प्रतिभा को भी साहित्य सर्जन में आवश्यक माना है, परन्तु उसके साथ साधन की अनिवार्यता पर भी बल दिया है। इनके अतिरिक्त अन्य कई चिन्तक भी अनुभूति कल्पना तथा प्रतिभा को सर्जनात्मक क्रिया में आवश्यक मानते हैं।

मूल्यों का विघटन

साहित्य और समाज का चूँकि अटूट सम्बन्ध है, इसलिए अगर समाज में किसी प्रकार का विघटन उपस्थित होता है तो हमारे साहित्य में भी मूल्यों का विघटन उपस्थित हो जाता है अर्थात् कुछ मूल्योंकी सत्ता एकदम नष्ट या बेकार होने लगती है और उनके स्थान पर कुछ अन्य मूल्य स्थान ग्रहण करने लगते हैं। युग में होने वाले परिवर्तनों के फलस्वरूप हमारे विचार एवं आस्थाएँ बदलने लगती हैं तथा इन आस्थाओं एवं विचारों की प्रक्रिया में जब तारतम्य नहीं रहता तो समाज में विघटन की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। इस विघटन के उपस्थित होते ही साहित्य चिन्तन में निहित मूल्यभी विघटित होने शुरू हो जाते हैं, क्योंकि ० मूल्य

---

१ आलोचना, ६,पृ०सं० १३०-१३१।

२ मुक्तिबोध,:नये साहित्य का सौन्दर्यशास्त्र,पृ०सं० १००,१०१,१२-१३।

३ वही,पृ०सं० ६३-६४।

समाज सापेक्ष्य होते हैं। समाज के आरम्भ के साथ मूल्य क्रिया का जन्म हुआ है। पर प्रक्रिया समाज के साथ निरन्तर चलती रहती है तथा इसका ह्रास विकास भी समाज के साथ ही होता है। आज के समाज में विघटन की प्रक्रिया चल रही है, अतः मूल्यों में भी विघटन आ रहा है, परन्तु इतना भी स्पष्ट है कि ऐसा कोई परिवर्तन आमूल नहीं होता और पिछले युग के सांस्कृतिक उपादान पूर्णतया विलुप्त या परिवर्तित नहीं हो जाते, एक प्रकार की प्रवहमानता के कारण पिछले युग से संपूर्ण संबंध विच्छेद कभी नहीं होता। ये मूल्य पुराने अवश्य पड़ जाते हैं।[1] वैसे मूल्यों में विघटन अधिकतर तब उपस्थित होता है, जब वैचारिक प्रगति वैज्ञानिक उन्नति की अपेक्षा पिछड़ जाती है। चरम विकास के युगों में ही मनुष्य की आस्था भावना असन्तुलित हो जाती है और वैचारिक अस्थिरता बढ़ती है।

आज समाज में गहरा परिवर्तन हो रहा है, जिसके फलस्वरूप स्थापित मान्यताओं को कड़ा आघात पहुँचा है और मूल्यों में विघटन उपस्थित हो गया है। विज्ञान, धर्म, दर्शन, नैतिकता, मूल्य, समाज गठन, जातीय श्रेष्ठता तथा साहित्यिक स्तर सभी तेजी से बदल रहे हैं तथा यह ह्रास की स्थिति केवल बौद्धिक स्तर तक सीमित न होकर व्यवहार में भी लक्षित होती है। मूल्यों के विघटन की इस समस्या को शिवदान सिंह चौहान एक सामयिक विकृति के रूप में देखते हैं, इसीलिए वे कहते हैं-- मूल्यों का विघटन, मानवद्रोही भावना और कुंठा, अनास्था की प्रवृत्तियाँ कोई ऐसी विश्वव्यापी वास्तविकताएं नहीं हैं कि हम उन्हें युग की अनिवार्यता मानकर अपना लें या चुपचाप स्वीकार कर लें।[2]

साहित्य में जब सत्य पर आघात पहुँचता है तब सौन्दर्य और शिव भी अप्रभावित नहीं रहते, इसलिए उसके विघटित होने पर इनमें भी विघटन उपस्थित होता है। धर्मवीर भारती मूल्यों में विघटन को स्पष्ट शब्दों में स्वीकार करते हुए कहते हैं-- संपूर्ण सभ्यता जिन मूल्यों पर आधारित थी वे झूठे पड़ गये हैं,

---

१ नेमिचन्द्र जैन : बदलते परिप्रेक्ष्य, पृ०सं० १५।

२ शिवदान सिंह चौहान : साहित्य की समस्याएं, पृ०सं० ६।

परिणाम यह है कि एक भयानक विघटन उपस्थित होता है[1]। आज के बुद्धिजीवी वर्ग में मानव निर्मित नैतिक मूल्यों तथा अदृश्य सत्ता(ईश्वर) के प्रति आस्था नहीं रह गई है इसीलिए साहित्य में भी नैतिक, धार्मिक, एवं आध्यात्मिक मूल्यों का विघटन उपस्थित हुआ है। डॉ० नगेन्द्र कहते हैं-- आध्यात्मिक, नैतिक और सामाजिक मूल्यों के विघटन के फलस्वरूप आधुनिक युग के प्रतिनिधि जिस जीवन दर्शन का विकास हुआ है, उसको अन्तर्मुख चिन्तकों ने अस्तित्ववाद और बहिर्मुख विचारकों ने निराशावादी वैज्ञानिक मानववाद कहा है[2]। इस कथन द्वारा नगेन्द्र यह स्पष्ट करते हैं कि आध्यात्मिक, नैतिक और धार्मिक मूल्यों में विघटन हुआ है।

विज्ञान के प्रभावस्वरूप, साहित्य में भी परीक्षा विधि अपनायी जाने लगी है, जिससे ईश्वर का परीक्षण-निरीक्षण करने के प्रयत्न किए गए हैं, परन्तु ईश्वर का निरीक्षण असंभव है, अत: उसे असत्य सिद्ध कर दिया गया है-- इससे धार्मिक एवं आध्यात्मिक मूल्य विघटित हुए हैं(अति आधुनिक साहित्य चिन्तन में)। उनके स्थान पर भौतिक परिवेश को अधिक महत्त्व दिया जाने लगा है, जिससे मार्क्सवाद, पूँजीवाद, मानवतावाद तथा बुद्धिवाद आदि के मूल्यों का विकास होने लगा है।

इस प्रकार साहित्य चिन्तन के क्षेत्र में मूल्यों के विभिन्न स्तर हैं, जो साहित्य की उपयोगिता से लेकर सर्जनात्मक प्रक्रिया तक निरन्तर विकसित होते रहते हैं। उपर्युक्त सभी मूल्य हमारे आधुनिक हिन्दी साहित्य-चिन्तन में पाये जाते हैं।

-0-

---

१ धर्मवीर भारती : मानव मूल्य और साहित्य, पृ०सं० १३४-१३५।

२ डॉ० नगेन्द्र : आस्था के चरण, पृ०सं० २१६।

पंचम अध्याय

-0-

आधुनिक काल के प्रमुख हिन्दी साहित्य चिन्तकों की मूल्यदृष्टियाँ

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, बालकृष्ण भट्ट, प्रतापनारायण मिश्र, महावीरप्रसाद द्विवेदी, रामचन्द्र शुक्ल, प्रेमचंद, जयशंकर प्रसाद, सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला', सुमित्रानन्दन पंत, महादेवी वर्मा, नन्ददुलारे वाजपेयी, जैनेन्द्र, गुलाबराय, डॉ०राम-विलास शर्मा, डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी, इलाचन्द्र जोशी, डॉ० नगेन्द्र, स० ही० वात्स्यायन, अज्ञेय, गजानन माधव-मुक्तिबोध, अन्यान्य साहित्य चिन्तक ।

-0-

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र

भारतेन्दु ने साहित्य-चिन्तन के क्षेत्र में मूल्यों की चर्चा सीधे न करके समस्याओं के रूप में की है। भारतेन्दु जी में (पर) यद्यपि शृंगारिक रीतिकाल एवं भक्तिभावना से पुष्ट भक्तिकाल का प्रभाव था, परन्तु फिर भी वे आधुनिकता से भी अत्यधिक प्रभावित हुए थे। उन्होंने कविता की धारा को नए-नए क्षेत्रों (देश भक्ति, लोकहित, समाज सुधार, मातृभाषा का उद्धार आदि) की ओर मोड़ा। उनके समस्त मौलिक नाटकों में युग-सत्य अपने सीधे रूप में चित्रित हुआ है, परन्तु उनकी समस्त कृतियों की अपेक्षा उनकी निबन्ध-कला ने ही पूरी तरह रीतिकालीन साहित्य से नाता तोड़कर यथार्थवाद के विकास का मार्ग दिखाया।

सामयिक प्रगति, परिस्थिति तथा उद्देश्य का उनके निबंधों के विषयों के चुनाव तथा निरूपण में विशेष प्रभाव पड़ा था।

सांस्कृतिक निबन्धों 'तदीप सर्वस्व' एवं 'वैष्णवता और भारतवर्ष' के द्वारा साहित्य में उनकी धार्मिक मूल्य दृष्टि का अंदाजा लगाया जा सकता है, इनमें उनकी धार्मिक सुधार की भावना सुरक्षित है। धार्मिक तथा आध्यात्मिक अनुभूति जीवन के समस्त मूल्यों का आधार समझी जाती है। भारतेंदु जी भी मानते हैं कि 'जहाँ का धर्म परिष्कृत नहीं वहाँ कभी भी समाज उन्नति नहीं करता।' धर्म में गहरी आसक्ति होने के कारण धार्मिक अवनति पर क्षोभ प्रकट करते हुए वे कहते हैं --'धर्म हमारा ऐसा निर्बल एवं पतला हो गया है कि केवल स्पर्श से या एक चुल्लू पानी से मर जाता है। कच्चे, गले, सड़े सूत या चिउंटी की दशा हमारे धर्म की हो गई है। हाय।'[1] धर्म में अत्यधिक श्रद्धा होने के कारण वे धर्म के इस गिरते हुए रूप को देखकर दुखी हो उठे थे। इस प्रकार अपने साहित्य-चिन्तन में धार्मिक मूल्यों की चर्चा उन्होंने जहाँ-तहाँ की है।

---

१ केसरीनारायण शुक्ल : भारतेन्दु के निबन्ध (तदीय सर्वस्व)।

हिन्दी साहित्य में जन-साहित्य की ओर पहली बार भारतेन्दु जी ने इशारा किया । उनकी रचनाओं में कई स्थानों पर जनकल्याण (जनता को विभिन्न आडम्बरों और धार्मिक ढोंगों से बचने की शिक्षा दी है) की भावना लक्षित होती है,किन्तु केवल जनहित को लक्ष्य करके उन्होंने 'जातीय संगीत' नामक निबंध ही लिखा था । इसमें उन्होंने किसी एक जाति की चर्चा नहीं की अपितु सम्पूर्ण जनता के कल्याण हेतु ग्राम्यभाषा में ग्रामगीतों की रचना करने के लिए लेखकों को प्रोत्साहित किया है । डॉ० रामविलास शर्मा के अनुसार --' वे जिस संस्कृति का निर्माण करना चाहते थे वह भी जनवादी थी [1] ।' यह कथन बहुत हद तक सत्य सिद्ध होता है । अपने चरित नायकों का वर्णन करते हुए उन्होंने नैतिकता का पाठ भी पढ़ाया है ।

साहित्य मनीषी भारतेन्दु जी ने आनन्दवादी अर्थात् रसात्मक मूल्यों का निर्वचन विशेषरूप से किया है । अपनी हास्य व्यंग्य की कृतियों द्वारा तो उन्होंने समय-समय पर पाठकों को आनन्दित किया ही है, किन्तु इसके अतिरिक्त आनन्द को स्वतन्त्र रस के रूप में ग्रहण कर उसकी स्वतंत्र स्थापना में भी वे प्रवृत्त हुए हैं--' लोग कहते हैं कि इस रस के मानने से कोई लाभ नहीं है .... किसी वर्ण या शब्द चित्र के पाठ से जो आनन्द होता है,तुम कौन रस मानोगे वा जहाँ कोई नीति की बात वा किसी वस्तु की शोभा वर्णन की जायगी वहाँ कौन सा रस होगा [2] ।' इस प्रकार हिन्दी साहित्य में आनन्द रस की स्थापना करके उन्होंने अपनी मौलिकता का परिचय दिया है ।

भारतेन्दु के साहित्यिक निबन्धों में सूक्ष्म निरीक्षण की प्रवृत्ति का पता चलता है । उनकी विदग्धता,मार्मिकता, सजीवता और क्षमता का परिचय उनके इन्हीं निबन्धों से मिलता है । सृजनात्मक मूल्यों के अन्तए में निहित प्रतिभा का दर्शन भी उनके इन निबन्धों में हो जाता है । चूँकि सृजनात्मक

---

१ डॉ० रामविलास शर्मा : भारतेन्दु हरिश्चन्द्र

२ केसरीनारायण शुक्ल : भारतेन्दु के निबन्ध- सम्पादक के नाम पत्र

क्रिया के ही परिणामस्वरूप सभ्यता संस्कृति का जन्म होता है,इसलिए रचनात्मकता एवं अपने आप में एक मूल्य है ।

निष्कर्षत: भारतेन्दु जी ने साहित्य में जनकल्याण पर विशेष ध्यान देते हुए धार्मिक एवं आनन्दवादी मूल्यों को महत्त्व दिया है ।

बालकृष्ण भट्ट

अपने साहित्यिकता की आभा से आलोकित मौलिकता एवं गम्भीरता से परिपुष्ट सामाजिक, साहित्यिक, नैतिक इत्यादि सब प्रकार के लेखों एवं निबन्धों में बालकृष्ण भट्ट जी की दृष्टि रूढ़ शाश्वत मूल्यों की अपेक्षा गतिशील मूल्यों का आकलन करने वाली रही है ।

प्राचीन संस्कारों के प्रति प्रबल आकर्षण होने के कारण प्राचीन युग यथार्थों का चित्रण करते हुए करते भट्ट जी अपने युग की भी छाप बड़े संयत और सांकेतिक ढंग से छोड़ गए हैं । भट्ट जी ने धर्म,समाज, राजनीति एवं राष्ट्रीयता को ही अपना वर्ण्य एवं विवेच्य विषय बनाया था,इसीलिए उनकी रचनाओं में हमें धार्मिक, आर्थिक, सामाजिक, लोकमांगलिक, सौन्दर्यात्मक मूल्यों की झलक दिखाई पड़ती है । वे मानते हैं कि प्रतिभा,कल्पना, आशा एवं विश्वास के बल पर ही मनुष्य कुछ ग्रहण कर सकता है ।

ईश्वर पर आस्था होने के कारण वे समस्त सृष्टि को उसी के अधीन मानते हैं --`तू जो इन्हें सनाथ किया चाहे तो निमेषमात्र में सब कुछ कर सकता है । सब तेरे अधीन है ।`[1] परन्तु इसके साथ ही वे यह भी कहते हैं कि बिना विश्वास के धर्म अथवा मजहब की जड़ ही नहीं जम सकती--` सुमार्ग पर चलने, कुमार्ग से बचने और जगत के प्रबन्ध की उत्तमता के लिए विश्वास एकमात्र सहारा है । धर्म या मजहब की जड़ केवल विश्वास है । इसी पर ईश्वर का

---

1 बालकृष्ण भट्ट : विशाल वाटिका ।

अस्तित्व निर्भर है, क्योंकि विश्वास बिना रखे जो कुछ किया जाये वह न करने के तुल्य है । विश्वास होने पर ही श्रद्धा या भक्ति का दर्जा आता है ।`[1]

इसप्रकार भट्टजी ने धर्म का मूलाधार विश्वास को मान लिया है, क्योंकि विश्वास के बिना वे किसी कार्य का होना ही बेकार समझते हैं, किन्तु धर्म में विश्वास का होना आवश्यक होते हुए भी प्रेम के विस्तार का वर्णन इस प्रकार करते हैं-- `प्रेम महामोह का सारभूत, निश्चलता का लौहस्तंभ, करुणा का अपार समुद्र, नैराश्य का गगनस्पर्शी उच्च पर्वत, सहिष्णुता का जनक, मन की गति का सीमा चिन्ह, सुख और दु:ख दोनों का निश्चित सिद्धान्त है । ...... यह हृदय के उस तहखाने के खोलने की कुंजी है, भीतर अनंत आनन्द रत्न राशि का आकर सुगम है । भक्ति, आदर, ममता, आनन्द, वैराग्य, करुणा आदि जो भाव प्रतिक्षण मनुष्य के चित्त में उठा करते हैं, उन सबों के मूल तत्त्व को एक में मिलाकर उसका इत्र निकाला जाये तो उसे हम प्रेम इस पवित्र नाम से पुकार सकेंगे[2] ।प्रेम के अन्तर्गत भट्ट जी ने भक्ति, आनन्द, आदर इत्यादि सभी भावों को समाहित कर लिया है । प्रेम के द्वारा ही वे अनंत आनन्द की प्राप्ति होना संभव मानते हैं । प्रेम एवं विश्वास के संयोग से कार्य करने पर मनुष्य किसी प्रकार अपने देश का हित कर सकता है एवं अपने समाज को उन्नत कर सकता है, इसका अनुमान हम भट्ट जी के निबन्धों को पढ़कर ही लगा सकते हैं । धर्म को समाज के विकास और राष्ट्र निर्माण की कसौटी पर परखना भट्ट जी के प्रगतिशील और यथार्थवादी दृष्टिकोण का ही परिणाम है ।

आर्थिक मूल्यों के प्रति भट्ट जी के विचार बहुत ही स्पष्ट हैं --

`साहब जिसे आप मान, आत्मगौरव और धर्माचरण कहते हैं, वह भी रुपये के लिए है और रुपये से सधता है । बड़े से बड़े मनस्वी, तपस्वी,

---

1 बालकृष्ण भट्ट : विश्वास (निबन्ध) ।

2 वही, प्रेम के बाग का सैलानी (निबन्ध) ।

संयमी, न्यायशील सब रुपये के लिए तपस्या इत्यादि से हाथ धो बैठते हैं। मैंने बड़े-बड़े तपस्वी और मनस्वियों को अजमाया, रुपया देख सब फिसल गए।'[1]

इस प्रकार उन्होंने दिखाया है कि पैसे की महिमा इस दुनिया में कितनी अधिक है, इसको देखते ही संयमी भी अपना संयम खो बैठता है। पुरातन एवं आधुनिक सभ्यता के अंतर का मुख्य कारण भी भट्ट जी ने मेटीरियलिज़्म को ही माना है, क्योंकि इस समय मेटीरियल (भौतिक) उन्नति पर ज़ोर दिया जाता है, जिसका परिणाम यह है कि हम आध्यात्मिक विषय में दिन-दिन गिरते जाते हैं। आधुनिक सभ्यता बिलकुल रुपए पर निर्भर है। पैसे का अभाव होने पर मनुष्य सर्वगुण सम्पन्न होता हुआ भी श्रद्धास्पद नहीं होता। इस प्रकार आर्थिक मूल्यों की चर्चा उन्होंने स्थान-स्थान पर की है।

सामाजिक मूल्यों के अन्तर्गत उन्होंने अपनी रचनाओं में विभिन्न समस्याओं को उठाया है। 'नए तरह का जुनून' नामक निबन्ध में समाज में उत्पन्न विभिन्न समस्याओं को उठाते हुए सामाजिक कुरीतियों का भंडाफोड़ करके उनकी ब निन्दा की है। वे कहते हैं कि 'हमारे देश के लोग बड़े से बड़ा गलत काम करने पर भी अपनी भूल को कभी एक बार भी न पछताएँगे, न अपने गंदे समाज को कुछ दोष देंगे।'[2] एक प्रगतिशील विचारक होने के कारण अपने 'स्त्रियाँ' शीर्षक निबन्ध में स्त्रियों को समाज में नीचा स्थान देने के लिए उन्होंने मनु को बुरा-भला कहा है। पश्चिमी सभ्यता की आंधी में देश के नवयुवक बह न जायें इसके लिए परम्परा निर्वाह का समर्थन करते हैं पर 'संसार कभी एक सा न रहा' में बतलाते हैं कि हमारे समाज की अवनति का मूल कारण हमारी परिवर्तन विमुखता है। जनता में राजनीतिक जागरूकता का अभाव उन्हें बहुत खटकता था, अतः कई निबंधों में उन्होंने इसी की चर्चा की है।

राष्ट्र के उत्थान की चिन्ता, भारतीय जनता की सच्ची हितकामना सभी कुछ भट्टजी के लेखों में पाया जाता है। वे लोकमंगल को प्रमुख

---

1 बालकृष्ण भट्ट : जगत प्रवाह (निबन्ध)

मानते हुए ही कुछ कहते थे,इसीलिए उन्होंने कहा भी है--

'साहित्य जनसमूह के हृदय का विकास है',किन्तु साहित्य की यह परिभाषा उन्होंने किसी ग्रन्थ से नकल करके नहीं दी,बल्कि जीवन संघर्ष में पड़कर इसे पाया है । भट्ट जी कहते हैं कि --'ऐसे पुरुष जो पर चित्तानुरंजन में कुशल हैं अर्थात् जिनकी सदा चेष्टा रहती है कि हमसे किसी को दुख न मिले और कैसे हम दूसरे के मान को अपनी मुठी में कर लें ऐसे पुरुष मनुष्य के चोले में भी साक्षात देवता हैं । इस लोक परलोक दोनों को उन्होंने जीत लिया ।'[1]

दूसरे के कल्याण करने की ओर तो सदैव ही उनकी दृष्टि रहती थी,इसलिए जो मनुष्य दूसरों की भलाई करते थे,उनको वे बहुत ही श्रद्धा की दृष्टि से देखते थे ।

सौन्दर्यात्मक मूल्यों को भी भट्टजी ने अपनी रचनाओं में लिया है --

'मन को सुखद एवं आकर्षण प्रदान करने वाली वस्तुओं का बड़ा महत्त्व होता है । इसलिए सौन्दर्य एवं आकर्षण का भी अपने-आपमें एक मूल्य है । स्वाभाविक सरल सौन्दर्य वही है,जो देखने वालों को आकर्षित कर ले ।'[2] परन्तु वे यह भी मानते हैं कि मनुष्य को केवल बाह्य सौन्दर्य पर ही मुग्ध न हो जाना चाहिए,अपितु आन्तरिक सौन्दर्य को भी जानने का प्रयत्न करना चाहिए, क्योंकि --'जो देखने में भव्याकृति और चेष्टा से जिनके शिष्टता, सभ्यता,बड़प्पन बरस रहा है, उनके गुप्त आचरण इतने महामलिन और दुर्गन्धिपूरक हैं कि कहा नहीं जाता ।'[3] सौन्दर्यात्मक मूल्यों का वर्णन तो भट्टजी ने किया है, किन्तु वे सौन्दर्य के दोनों ही पक्षों --बाह्य एवं अन्तर को महत्त्वपूर्ण मानते हैं ।

सृजनात्मक मूल्यों के अन्तस् में निहित प्रतिभा एवं कल्पना का भी महत्त्व उनकी रचनाओं में दृष्टिगोचर होता है । उन्होंने प्रतिभा शक्ति को

---

१ बालकृष्ण भट्ट : परचित्तानुरंजन(निबन्ध) ।

२ बालकृष्ण भट्ट : मुग्ध माधुरी (निबन्ध) ।

स्वाभाविक माना है, जो अभ्यास द्वारा और बढ़ाई जा सकती है । कल्पना शक्ति कल्पना करने वाले के हृदगत भाव या मन के परखने की कसौटी या आदर्श है । मनुष्य की अनेक मानसिक शक्तियों में कल्पना शक्ति भी एक अद्भुत शक्ति है । यद्यपि अभ्यास से यह शतगुण अधिक हो सकती है, पर इसका सूक्ष्म अंकुर किसी-किसी के अन्तःकरण में आरम्भ ही से रहता है, जिसे प्रतिभा के नाम से पुकारते हैं । प्रतिभा बुद्धि का वह गुण और मनुष्य में वह शक्ति है, जो स्वाभाविक होती है और अभ्यास से अधिक बढ़ाई जा सकती है ।

कल्पना और प्रतिभा के बारे में लिखकर भट्ट जी ने सृजनात्मक मूल्यों पर ही प्रकाश डाला है ।

प्रताप नारायण मिश्र

प्रतापनारायण मिश्र साहित्य सेवा के साथ ही सामाजिक और राजनैतिक उन्नति की ओर भी ध्यान देते थे । इनके समय से ही साहित्य और समाज का सघन रूप विकसित हो चला था । मिश्र जी ने व्यक्ति और समाज के समुचित सामंजस्य के साथ जीवन को ऐसी सम्पूर्णता के साथ ग्रहण किया कि वह अपनी देशकाल की सीमाओं के बावजूद भी सर्वदेशीय और सर्वकालीन बन गया ।

प्रतापनारायण मिश्र जी ने अपनी रचनाओं में (लोकमांगलिक, नैतिक, मानवीय, धार्मिक, सामाजिक एवं आनन्दात्मक) मूल्यों को सीधे न उठाकर परोक्ष रूप में समस्याओं द्वारा व्याख्यायित किया है । वे सम्पूर्ण समस्याएँ जिनपर कि उन्होंने अपनी लेखनी चलाई है, गिने चुने लोगों की समस्याएँ न होकर समस्त जनता की हैं ।

रीतिकालीन परम्परा (अत्यधिक शृंगारिक) का अवसान एवं आधुनिक जनवादी विचारधारा का उत्थान दोनों उनमें एकीकृत हो गए थे, किन्तु उन्होंने प्राचीन को तिरस्कार की ठोकर मारकर नहीं, उसकी शक्ति को महत्व देकर नवीन जन-वादी विचारधारा की मशाल जलाकर जनता को उचित पथ दिखाया था ।

सर्वप्रथम तो उनके लोकमंगल की भावना से ओत-प्रोत साहित्य को देखकर ही यह ज्ञात होता है कि उनकी दृष्टि लोकमंगल की भावना से आक्रान्त थी । लोक कल्याण के लिए वह पुरातन परम्पराओं और रूढ़ियों की अवहेलना करने में किंचित न हिचकते थे । उनका समन्वयवादी दृष्टिकोण भी लोककल्याणकारी ही है, परन्तु साहित्य की अन्य विधाओं की अपेक्षा निबन्ध में उनका उद्देश्य अधिक स्पष्ट और जोरदार है । मिश्र जी कहते हैं--

'यद्यपि हमारा धन, बल, भाषा इत्यादि सभी निर्जीव हो रहे हैं तो भी यदि हम पराई भौंहें ताकने की लत छोड़ दें, आपस में बात-बात पर भौंहें चढ़ाना छोड़ दें, दृढ़ता से कटिबद्ध होकर वीरता से भौंहें तान के देशहित में सन्नद्ध हो जायें, अपने देश की बनी वस्तुओं का, अपने धर्म का, अपनी भाषा का , अपने पूर्व पुरुषों के रुजगार और व्यवहार का आदर करें, तो परमेश्वर अवश्य हमारे उद्योग का फल दे ।'[1]

इसमें यद्यपि मिश्र जी ने बातें भौं पर ही कही हैं, परन्तु उनमें अपने देश, धर्म, व्यापार, साहित्य, भाषा, इतिहास सबके प्रति जनता को सजग किया है । देश-सेवा एवं समाज की उन्नति के लिए तो वे अपना तन, मन, धन सब कुछ न्योछावर करने को तत्पर रहते थे ।

अपने देशवासियों को लोलुपता त्यागने का परामर्श देते हुए वे कितनी सत्य बात कह गए हैं कि जब तक मनुष्य एक-दूसरे को समझे बिना लड़ते रहेंगे एवं एक अपरिचित व्यक्ति को बिना जाने-बूझे उसके बाह्य सौन्दर्य पर आकर्षित हो जायेंगे, तब तक वे कभी भी उन्नति नहीं कर सकते । अतः उनके विचार से सब में ऐक्य की एवं प्रेम की भावना होनी चाहिए, जिससे कि वे स्वयं को, अपने समाज को, एवं देश को सुधार सकें । इसी प्रकार उनके काव्य एवं नाटकों में भी लोक-हित की भावना सर्वत्र व्याप्त है ।

---

१ प्रतापनारायण मिश्र : भौं (निबन्ध) ।

यद्यपि उनके निबन्धों द्वारा उपदेशात्मकता की प्रवृत्ति झलकती है तथापि ईश्वर के प्रति अटूट विश्वास का भी ज्ञान होता है। ईश्वर पर आस्था होने के कारण वे अपनी कृतियों में धार्मिक मूल्यों की भी चर्चा कर बैठे हैं। धार्मिक मूल्यों में प्रेम एवं ऐक्य की भावना को अत्यधिक महत्वपूर्ण मानते हुए शैव सर्वस्व में उन्होंने प्रेम की व्यापकता दर्शाते हुए कहा है-- 'जहाँ तक सहृदयता से विचारिएगा वहाँ तक यही सिद्ध होगा कि प्रेम के बिना वेद झगड़े की जड़, धर्म बेसिर पैर के काम, स्वर्ग शेखचिल्ली का महल और मुक्ति प्रेत की बहन है।'[1] धर्म, स्वर्ग एवं मुक्ति तक को प्रेम के अभाव में निरर्थक सिद्ध कर दिया है।

वास्तव में यह किसी हद तक सत्य भी है, क्योंकि क्रोध करने की अपेक्षा प्रेम से कार्य शीघ्र सम्पन्न होते हैं। प्रेम होने पर ही मनुष्य अधिक सभ्यता से एक दूसरे से व्यवहार कर सकता है एवं अपनी तथा देश की उन्नति कर सकता है। मिश्र जी तो प्रेम के बिना प्रत्येक कार्य का होना असम्भव पाते हैं --'प्रेम बिना कभी, कहीं, किसी प्रकार किसी की उन्नति न हुई है, न होगी, न होती है।'[2]

गोरक्षा एवं गंगा जी आदि निबंध भी उनकी धार्मिक भावना को प्रकट करते हैं।

धार्मिक एवं लोकमांगलिक मूल्यों के अतिरिक्त नैतिक मूल्यों के समावेश को साहित्य का आधारभूत तत्त्व मानते हुए मिश्र जी ने अभद्र आचरण को प्रोत्साहित करने वाले कवियों एवं लेखकों की स्पष्ट शब्दों में भर्त्सना की है। वे साहित्य में देश-प्रेम, ईश्वर-भक्ति आदि विषयों को स्थान देना चाहते थे जिससे कि लोग नैतिक भावना का परितोष कर सकें।

---

१ प्रतापनारायण मिश्र : शैवसर्वस्व

२ वही : देशोन्नति (निबन्ध)

बंधुत्व, बराबरी, स्नेह सम्बन्ध, सहयोग जैसे मानवीय मूल्यों का अवलोकन तो उनके निबन्धों में जहाँ-तहाँ हो जाता है । यदि हमने यह न जाना कि अपने तथा दूसरों के लिए हमें किस-किस रीति से क्या-क्या कर्तव्य करना है तो हमारा दूसरे जीवों से उत्तम [बनना] वृथा है । उनकी ऐसी बातों में मानवीयता झलकती है । वे केवल अपने सुख का ही ध्यान न रखकर मानवमात्र के सुख की भी सोचते हैं,इसीलिए तो इतने मार्मिक ढंग से अपने विचार व्यक्त कर गए हैं ।

हास्य एवं व्यंग्य के पुट में आवेष्टित होने के कारण उनका साहित्य बौद्धिक और आत्मिक विकास के साथ पाठकों का मनोरंजन करते हुए आनंदात्मक मूल्यों को अपने में समाहित कर चुका है-- जन्म सुफल कब होय? को निम्नांकित पंक्तियाँ इसके लिए द्रष्टव्य हैं--

गौरण्डदास उवाच --

जग जानै इंगलिश हमैं वाणी वस्त्रहि जोय ।
मिटै बदन कर श्याम रंग जन्म सुफल तब होय ।

सेठ उवाच--

बुधि , विधा, बल, मनुजता छुवहिं न हम कहं कोय ।
लछमिनियाँ घर में बसै जन्म सुफल तब होय ।

इन उद्धरणों द्वारा मिश्र जी ने सेठों एवं अंग्रेजों की नकल करने वाले व्यक्तियों पर करारा व्यंग्य करते हुए हँसाया है कि बुद्धि,विधा के अभाव में भी सेठ वर्ग पैसे की अधिकता होने पर अपने जन्म को सफल समझने लगता है, जब कि वह नितांत उनकी मूर्खता है । मिश्र जी की स्वच्छन्दता एवं बेतकल्लुफी उनके निबन्धों में अपूर्व सरसता का संचार करती है । इसी प्रकार की रोचक बातें करते हुए उन्होंने अनेक बार पाठकों को प्रफुल्लित किया है ।

सामान्यतया प्रयोजन के रूप में ही मिश्र जी ने साहित्य में सामाजिक मूल्यों को स्वीकृति दी है,किन्तु उन्होंने अपनी कृतियों में किसी न किसी सामाजिक बुराई की ओर भी संकेत किया है । 'सोने का डंडा और पोंडा'

शीर्षक लेख में मिश्र जी ने इसी तथ्य का सफल विवेचन किया है । सोने का डंडा शुष्क ज्ञान का द्योतक है,जो देखने में बड़ा मनमोहक होता है,किन्तु सदैव(अत्यधिक मूल्यवान होने के कारण) जिसके कारण किसी की आत्मा को शान्ति नहीं मिल सकती,वहाँ दूसरी ओर एक साधारण से पौंडे से हार्दिक रसीलापन उपलब्ध होता है । इस प्रकार मिश्र जी ने यह समझाने की कोशिश की है कि मनुष्य को बाह्य सौन्दर्य पर न जाकर आन्तरिक सौन्दर्य को खोजने का प्रयत्न करना चाहिए,क्योंकि स्थायी शान्ति एवं आनन्द उसी के द्वारा प्राप्त होता है ।कहने का तात्पर्य यह है कि जिस वस्तु(उपयोगी) से प्रयोजन सिद्ध हो,उसी को स्वीकार करना चाहिए, चाहे वह कुरूप ही क्यों न हो । उपयोगी वस्तुओं एवं प्रयोजन आदि को उठाते हुए वे साधनात्मक मूल्यों को बड़े ही सुन्दर ढंग से विवेचित कर गए हैं । उनका विचार था कि वे कभी-कभी ऐसी बातें भी लिखा करें जो इनके काल के लिए प्रयोजनीय हों तथा हास्यपूर्ण न होकर सीधी साधी भाषा में हों । व मिश्र जी में प्रतिभा का आधिक्य था । उनकी रचनाओं में हृदय पक्ष एवं बुद्धिपक्ष का समुचित संयोग दिखाई पड़ता है ।

महावीर प्रसाद द्विवेदी

जिस युग में द्विवेदी जी का साहित्य क्षेत्र में आगमन हुआ, वह युग नैतिकता और आदर्श का युग था । अत: द्विवेदी जी ने अपनी कल्पना की सूझ-बूझ,अनुभूति की गहनता तथा व्यापकता के द्वारा उस समय की मुख्य प्रवृत्तियों को जानकर उसी के साँचे में हिन्दी साहित्य को ढालना चाहा ।

प्रारम्भ में तो द्विवेदी जी पद्य की ओर झुके परन्तु शीघ्र ही गद्य ने भी उन्हें आकर्षित किया, इसीलिए द्विवेदी जी ने कई एक पुस्तकों का श्रेष्ठ अनुवाद करने के साथ ही साथ अपने मौलिक लेखों तथा निबन्धों के द्वारा भी हिन्दी साहित्य को गौरवान्वित किया । द्विवेदी जी के साहित्यिक निबन्धों से उनकी परिपक्व बुद्धि एवं विलक्षण प्रतिभा का पता चलता है । साहित्य-चिन्तन में निहित मूल्य दृष्टि का अन्तर्भाव द्विवेदी जी के साहित्यिक निबन्धों में भी हुआ

किन्तु प्रमुखता कुछ को ही दी है ।

वे साहित्य में सुरुचि के पक्षपाती थे,इसीलिए किसी भी कला को जनसाधारण की रुचि को दूषित करने की स्वतन्त्रता नहीं प्रदान कर सकते थे । उन्होंने कविता का उद्देश्य मनोरंजन माना है, परन्तु उनके इस शब्द में भी आनन्द की गंभीरता सन्निहित है-- 'जिस कविता से जितना ही अधिक आनंद मिले उसे उतना ही अधिक ऊँचे दरजे की समझना चाहिए ।'[1] इस उद्धरण से स्पष्ट हो जाता है कि द्विवेदी जी आनंद की उपलब्धि पर इतना अधिक बल देते थे कि कविता की श्रेष्ठता का मापदंड भी उससे प्राप्त आनंद को ही बना दिया था ।द्विवेदी जी यह भी मानते थे कि कविता में दुरूहता आ जाने से आह्लादकता का ह्रास हो जाता है, इसलिए सरलता और स्पष्टता का होना आवश्यक है ।[2]

द्विवेदी जी कहते हैं --' कविता को सरस बनाने का प्रयत्न करना चाहिए । नीरस पद्यों का कभी आदर नहीं होता । जिसे पढ़ते ही पढ़ने वाले के मुख से वाह न निकले, अथवा उसका मस्तक न हिलने लगे , अथवा उसकी दंत पंक्ति न दिखलाई देने लगे अथवा जिस रस की कविता है, उसके अनुकूल वह व्यापार न करने लगे, तो वह कविता कविता ही नहीं, वह तुकबंदी मात्र है ।'[3]

भारतीय चित्रकला नामक निबंध में भी द्विवेदी जी ने आनंद को ही कला का उद्देश्य कहा है ।[4] इसके अतिरिक्त रस और उपमा अलंकार[5] द्वारा भी उन्होंने आनंद की प्राप्ति दिखाई है । रस को तो द्विवेदी जी ने मनोरंजकता का प्रधान कारण ही माना है । द्विवेदी जी कविता में जहाँ आनंदवादी मूल्य का होना

---

१ महावीरप्रसाद द्विवेदी : संचयन - निबन्ध मेघदूत,पृ०सं० ८६ ।

२ 'सादगी असलियत और जोश यदि ये तीनों गुण कविता में हों तो कहना ही क्या है। --रसज्ञ रंजन,निबंध कवि और कविता,पृ०सं०६१

३ रसज्ञ रंजन, निबंध कवि कर्तव्य,पृ०सं० २२ ।

४ आलोचनांजलि, निबंध भारतीय चित्रकला ।

५ उपमा सर्वश्रेष्ठ अलंकार है। भिन्न-भिन्न शब्दार्थों की भूमिका ग्रहण करके अनेक वेष धारणपूर्वक, काव्य रूपी रंगमंच पर वही अपना नाच दिखाती और रसिकों के हृदय

अनिवार्य मानते हैं, कविता की श्रेष्ठता का मापदंड आनंद को बनाते हैं, जहाँ वे कविता को ही आनन्दप्रदायिनी भी कहते हैं --'कविता से विश्रांति मिलती है। वह एक प्रकार का विराम स्थान है । उससे मनोमालिन्य दूर होता है ।'[1] आनंदवादी मूल्यों के अनन्तर हम द्विवेदी जी के साहित्य चिन्तन में निहित सामाजिक मूल्यों को लेते हैं । समाज की विभिन्न व्यवस्थाओं-- एकता,संगठन, अनुशासन, सहयोग, प्रेमभाव आदि को ध्यान में रखकर द्विवेदी जी ने सामाजिक मूल्यों की चर्चा की है । वे चाहते थे कि भारतीय समाज अपनी सभ्यता, संस्कृति को अपनावे, साहित्यकार सच्चे ज्ञान एवं उच्च आदर्शों का प्रसार करें, समाज की धार्मिक दृष्टि उदार और व्यापक हो तथा उसके हृदय में पीड़ितों एवं दुखी दरिद्र जनों के लिए सहानुभूति हो । द्विवेदी जी मानव जीवन में प्रेम का होना अनिवार्य मानते हैं, क्योंकि इसी के द्वारा मनुष्य का जीवन पवित्र हो सकता है । वह परस्पर प्रेमभाव होने के कारण सहयोग से अनुशासित समाज का निर्माण कर सकता है । परन्तु वे साथ ही यह भी कहते हैं कि -- 'विषय वासनाओं की तृप्ति के लिए जिस प्रेम की उत्पत्ति होती है, वह नीच प्रेम है । वह निंद्य और[2] दूषित समझा जाता है । निर्व्याज प्रेम अवांतर बातों की कुछ भी परवा नहीं करता ।'

इससे ज्ञात होता है कि द्विवेदी जी प्रेम के शुद्ध सात्विक रूप को ही अच्छा समझते थे, जिससे[3] समाज की उन्नति हो एवं मनुष्य प्रेम के द्वारा ईश्वर संबंधी प्रेम की भी उत्पत्ति हो ।

लोककल्याण की भावना से तो द्विवेदी जी इतने प्रभावित थे कि कवि को सरल भाषा के ही पक्षपाती थे जो कि जनसाधारण की समझ में आ सके तथा उसमें दुरूहता न हो --

'कवि को ऐसी भाषा लिखनी चाहिए जिसे सब कोई सहज में समझ लें और अर्थ को हृदयंगम कर सकें । पद्य पढ़ते ही उसका अर्थ बुद्धिस्थ हो जाने से विशेष आनन्द प्राप्त होता है और पढ़ने में भी लगता है । परन्तु जिस काव्य

---

1 रसज्ञ रंजन , निबंध कविता, पृष्ठ० ६८ ।

का भावार्थ कठिनता से समझ में आता है, उसके आकलन में जी नहीं लगता और बराबर अर्थ का विचार करते-करते उससे विरक्ति हो जाती है। जो कुछ लिखा जाता है वह इसी अभिप्राय से लिखा जाता है कि लेखक का हृद्‌गत भाव दूसरे समझ जाएँ। यदि इस उद्देश्य की ही सफलता न हुई तो लिखना ही व्यर्थ हुआ।[1]

तादात्म्य, अर्थसौरस्य और साधारण जनता की बातें कहकर द्विवेदी जी ने लोकमांगलिक मूल्यों के महत्त्व को दर्शाया है। एक अन्य स्थान पर द्विवेदी जी लिखते हैं --'मतलब यह कि भाषा बोलचाल की हो। क्योंकि कविता की भाषा बोलचाल से जितनी ही अधिक दूर जा पड़ती है उतनी ही उसकी सादगी कम हो जाती है। बोलचाल से मतलब उस भाषा से है, जिसे खास और आम सब बोलते हैं विद्वान् और अविद्वान दोनों जिसे काम में लाते हैं।[2]

इन मान्यताओं से द्विवेदी जी का समन्वयकारी दृष्टिकोण स्पष्ट हो जाता है। वे कवि के कार्य को भी बहुजनहिताय ही कहते हैं, जो कि स्वार्थ की अपेक्षा परार्थ को ही श्रेयस्कर समझता है।

विभिन्न आन्दोलनों की उथल-पुथल में भी धार्मिक भावना ने द्विवेदी जी के हृदय को उद्वेलित किया था। उनकी रचनाएँ युग की धार्मिक भावना से परे एवं एकांत भक्ति प्रधान हैं--

ईश्वर भक्ति की किसी एक परम्परा को द्विवेदी जी ने स्वीकार नहीं किया है, अपितु वे तो यह मानते हैं कि भक्त अपने ईश्वर का आराधन किसी भी भाव से कर सकता है एवं ईश्वर उसके उसी भाव को स्वीकार

(पूर्व पृष्ठ का अवशिष्टांश)
सकता है, प्रेम से जीवन सार्थक हो सकता है। मनुष्य प्रेम से ईश्वर संबंधी प्रेम की उत्पत्ति हो सकती है।' (संचयन, निबंध मेघदूत, पृ०सं०९६।

---

१ रसज्ञरंजन, निबंध कवि कर्तव्य, पृ०सं० १७।

२ रसज्ञरंजन, निबंध कवि और कविता, पृ०सं० ५८।

भी करता है[१]। इन समस्त मूल्यों के अतिरिक्त द्विवेदी जी ने नैतिक एवं सौन्दर्यात्मक मूल्यों की चर्चा भी की है, ये दोनों मूल्य आध्यात्मिक मूल्यों के ही अन्तर्गत आते हैं--

वे सुंदर सुंदर चरित्रों की सृष्टि के पक्षपाती थे परन्तु उनके सुंदर से उनकी नैतिकता संपृक्त थी । सौन्दर्य की दृष्टि से उन्होंने प्रकृति के कोमल और मधुर रूप को ही देखा है, उग्र और भयंकर रूप को नहीं[२]।

'कवि का प्रधान गुण सृष्टि नैपुण्य है। सुंदर सुंदर चरित्रों की सृष्टि और उस चरित्रावली का देश,काल और अवस्था के अनुसार काव्य में समावेश करना ही कवि का सर्वश्रेष्ठ कौशल है । जिस काव्य से संसार का उपकार साधन नहीं हुआ, वह उत्तम काव्य नहीं कहा जा सकता । समुद्र के किनारे बैठकर अस्तगमनोन्मुख सूर्य की शोभा को देखना बहुत ही आनंददायक दृश्य है..... परंतु उसके अवलोकन से क्षणस्थायी आनंद के सिवा दर्शकों और पाठकों का और कोई हित साधन नहीं हो सकता । उससे कोई शिक्षा नहीं मिल सकती । जिस सृष्टि से आमोद प्रमोद के अतिरिक्त और कोई लाभ नहीं वह काव्य उत्कृष्ट नहीं[३]।'

इस प्रकार सुंदरता के साथ नैतिकता का समावेश उन्होंने आवश्यक माना है ।

द्विवेदी जी के साहित्य चिन्तन में सृजनात्मक मूल्यों का भी अन्तर्भाव हुआ है । कलाकार को कल्पना का उपयोग करने की द्विवेदी जी की उतनी ही स्वतन्त्रता प्रदान करना चाहते थे जितनी वर्ण्य विषय को मनोरम बनाने के लिए आवश्यक होती है । वे कल्पना के विषय में कहते हैं --

' कवि की कल्पना शक्ति तीव्र होती है । इस कल्पना-शक्ति के द्वारा वह कठिन बातों को ऐसे अनोखे ढंग से सबके सामने रखता है कि वे सहज ही समझ में आ जाती हैं । इसी शक्ति से वह अनजाने हुए पदार्थों या दृश्यों का चित्र इतना मनोहर खींचता है कि पढ़ने या सुनने वाले एकाग्रचित्त हो जाते हैं और

---

१ संचयन, निबन्ध--गोपियों की भगवद्भक्ति,पृ०सं०६२-६३ ।

२ (पुराणकारों ने श्रीकृष्ण को .... संदेह कहाँ ?)

२ संचयन, निबंध, प्रभात

उस बात पर प्रेमपूर्वक विचार करते हैं[1]। कल्पना के अतिरिक्त द्विवेदी जी को कवि प्रतिभा की स्वतंत्रता भी मान्य है। वे प्रतिभा को नियमों में जकड़ देने के पक्षपाती नहीं थे, क्योंकि 'इसी की बदौलत कवि भूत और भविष्यत् को हस्तामलकवत् देखता है, वर्तमान की तो कोई बात ही नहीं। इसी की कृपा से वह सांसारिक बातों को एक अजीब निराले ढंग से बयान करता है, जिसे सुनकर सुनने वाले के हृदयोदधि में नाना प्रकार के सुख-दुख आश्चर्य आदि विकारों की लहरें उठने लगती हैं। कवि कभी कभी ऐसी अद्भुत बातें[2] कह देते हैं कि जो कवि नहीं है, उनकी पहुँच वहाँ तक कभी हो ही नहीं सकती।'

कल्पना एवं प्रतिभा के माध्यम से वे साहित्य की व्यापक विधाओं को हिन्दी में देखने के आकांक्षी थे, अत: उन्होंने अपनी समालोचना का एक सृजनशील दृष्टिकोण भी उपस्थित किया जो उस युग की अनुरूपता में बराबर उपयुक्त जँचा। उनकी मेधा ने रचनात्मक साहित्य को प्रेरणा देने के लिए विद्यमान साहित्य का परिष्कार करने के लिए जितना अधिक उचित समझा उतना ही लिखा।

पण्डित रामचन्द्र शुक्ल

शुक्ल जी को हम हिन्दी का प्रथम स्वतंत्र तथा समर्थ साहित्य-चिन्तक कह सकते हैं। हिन्दी समीक्षा अपने व्यक्तित्व को ढूंढने का जो असफल प्रयास भारतेन्दु युग से लेकर द्विवेदी युग तक करती रही, अपने कार्य में प्रथम बार पण्डित रामचन्द्र शुक्ल के साहित्य-चिन्तन में सफल हो सकी।

शुक्ल जी की मूल्यों की खोज बहुत विस्तृत है, उसमें उन्नीसवीं शताब्दी तक के समस्त साहित्य का सारांश आ गया है। वे रहस्यवाद को काव्योपयोगी नहीं मानते, उनकी दृष्टि उपयोगितावाद अर्थात् लोकमंगल तथा रसवाद पर आकर रुक जाती है। उन्होंने भारतीय रसवाद की नवीन व्याख्या की है तथा उसे शास्त्रीय जड़ता से निकालकर जीवनोपयोगी बनाया है एवं कवि की रस साधना को

---

१ रसज्ञ रंजन, निबंध कवि कर्तव्य, पृष्ठांक २६।

लोकमंगल साधना का ही अंग माना है । इस प्रकार उन्होंने स्वतंत्र चिन्तन की एक लीक ही स्थापित कर दी ।

शुक्ल जी के साहित्य सिद्धान्त उनके निबन्धों, इतिहास, तुलसी, सूर तथा जायसी सम्बन्धी उनकी बृहद् समीक्षाओं में तथा रस मीमांसा में बिखरे हुए हैं । रस मीमांसा में उनका एक निश्चित एवं स्पष्ट रूप मिल जाता है । शुक्ल जी ने रसवाद को अपनी काव्य-समीक्षा के लिए स्वीकार किया और अलंकार को चमत्कारवाद के अन्तर्गत माना है तथा उसे वहीं तक उपादेय बतलाया है, जहाँ तक वह रसनिष्पत्ति में सहायक हो । उनका कहना है --'जिस प्रकार एक कुरूप स्त्री अलंकार लादकर सुंदर नहीं हो सकती, उसी प्रकार प्रस्तुत वस्तु या तथ्य की[1] रमणीयता के अभाव में अलंकारों का ढेर काव्य का सजीव रूप खड़ा नहीं कर सकता ।'

शुक्ल जी का एक विशेष सामाजिक सिद्धान्त था जिसे उन्होंने लोकधर्म का सिद्धान्त कहा है और भारतीय वर्णाश्रम धर्म के साँचे के अन्तर्गत उसे ढालने की चेष्टा की है । शुक्ल जी ने धार्मिक मूल्य लोकधर्म से ही सम्बन्धित है । उन्होंने लोकधर्म को ही व्यापक धर्म अथवा पूर्ण अंगी धर्म कहा है । शेष सारे गृह धर्म, कुलधर्म आदि इसके अंग हैं । वे कहते हैं कि विभिन्न धर्मों का सामंजस्य इसी लोकधर्म में है-- 'धर्म के सब पदों का ऐसा सामंजस्य, जिससे समाज के भिन्न-भिन्न व्यक्ति अपनी प्रकृति और विद्या बुद्धि के अनुसार धर्म का स्वरूप ग्रहण कर[2] सकें, यदि पूर्ण रूप में प्रतिष्ठित हो जाये तो धर्म का रास्ता अधिक चलता हो जाये ।'

इस धर्म से ही समाज का संचालन होता है और लोक की भी रक्षा होती है । इसको धारण करने वाला लोकरक्षक और लोकव्यवस्थापक के गौरव को प्राप्त करता है । शुक्ल जी कहते हैं कि इस धर्म का विकास केवल दया, नम्रता, उदारता आदि में नहीं होता, अपितु क्रोध, घृणा, विनाश, ध्वंस आदि में भी होता है । इन भावों में भी मंगल की आभा झलकती है । भगवान राम के चरित्र में

---

१ चिन्तामणि, भाग१-- कविता क्या है?, पृ०सं० १८४ ।

२ गोस्वामी तुलसीदास, पृ०सं० २६ ।

इन सभी विरोधी भावों का सामंजस्य है । अत्याचार और अत्याचारी का उपदेशों द्वारा विरोध करना, सद्भावना के द्वारा अत्याचारी का हृदय-परिवर्तन लोकधर्म नहीं है । इसे शुक्ल जी व्यक्ति की साधना मानते हैं । अत्याचार के दुर्दमन में क्रोधः और ध्वंस का आश्रय लेकर लोकमंगल का प्रसार करना इस धर्म का मूल तत्त्व है । यह जनता की प्रवृत्तियों का औसत रूप है । यह धर्म का जीवनव्यापी स्वरूप है । इसमें मानव मात्र का कल्याण निहित है । समाज और व्यक्ति, व्यष्टि और समष्टि, प्रेम और कर्तव्य, विलास और संयम, क्रोध और करुणा आदि आपाततः विरोधी प्रतीत होने वाली वस्तुओं का इसमें सामंजस्य है । इस धर्म से व्यष्टि और समष्टि दोनों की स्थिति रक्षा होती है ।

इसीलिए शुक्ल जी रामचरित मानस के व्यापक आदर्श पर ही सबसे अधिक आकृष्ट है । लोकधर्म का बहुत ही उत्कृष्ट निरूपण उक्त काव्य में किया गया है । इसी आदर्शात्मक लोकधर्म में ही तो शुक्ल जी की वृत्ति रम गई थी, इस त्यागमय धर्म को ही वे व्यवहार धर्म मानने लगे थे । तुलसी द्वारा निर्मित समाज की समस्त विधाओं -- धर्म, नीति, शीलतथा लोक और समाज के शिल्प और आकृति को, शुक्ल जी ने बिना किसी परिवर्तन के स्वीकार किया है ।

शुक्ल जी समाज में लोकधर्म की प्रतिष्ठा का आदर्श लेकर चलते हैं, जिसके उन्नायक राम हैं । उनका यह लोकधर्म का सिद्धान्त मध्यवर्ग की उन आदर्शात्मक प्रेरणाओं से ओत-प्रोत है, जो बीसवीं शताब्दी के प्रथम चरण की विशेषता थी । "धर्म की रसात्मक अनुभूति को शुक्ल जी भक्ति मानते हैं ।"[1]

श्रद्धा और प्रेम के योग का नाम भी वे भक्ति ही कहते हैं । जब पूज्यभावकी वृद्धि के साथ श्रद्धाभाजन के सामीप्य लाभ की प्रवृत्ति हो, उसकी सत्ता के कई रूपों के साक्षात्कार की वासना हो, तब हृदय में भक्ति का प्रादुर्भाव समझना चाहिए ।[2]

१ गोस्वामी तुलसीदास, पृ०सं० ५४ ।

२ चिन्तामणि, भाग १, -- श्रद्धाभक्ति, पृ०सं० ३६ ।

इस प्रकार शुक्लजी ने अपने साहित्य में धार्मिक मूल्यों के अन्तर्गत लोकधर्म के आदर्श पर अत्यधिक प्रकाश डाला है और इसी में धर्म के सब पक्षों का सामंजस्य माना है ।

शुक्ल जी के नीति,शील और लोकधर्म पर अवलंबित मूल्यवादी दृष्टिकोण का उच्चतम सहृदयता के साथ पूर्ण सामंजस्य है । वे नीतिवादी आलोचक हैं । उनका नैतिक दृष्टिकोण कुछ बँधी हुई परम्परा अथवा रीतियों तक ही सीमित नहीं है । काव्य में वे आदर्शवाद के समर्थक हैं, यह भी नहीं कहा जा सकता ।हाँ, शुक्ल जी हृदय प्रसार तथा तज्जन्य शील विकास को ही काव्य का उद्देश्य मानते हैं ।

उनकी दृष्टि से काव्य की उत्कृष्टता का आधार नैतिकता ही है,जो काव्य शील,विकास एवं हृदय प्रसार का साधन है और कर्म सौन्दर्य का व्यंजक है,उसी को शुक्ल जी उत्तम काव्य कहते हैं ।

वे साहित्य का मूल्यांकन भी उसके नैतिक प्रभाव के आधार पर करते हैं । लोकमंगल के सामंजस्य में व्यक्ति के शील का विकास, उसका रागात्मक प्रसार ही शुक्ल जी की नैतिकता सम्बन्धी धारणा का मुख्य आधार है । उनका विधान नैतिक है, वे सदाचार और सौन्दर्य का अभिन्न सम्बन्ध मानते हैं, बात यह है कि कविता सौन्दर्य और सात्त्विक शीलता या कर्तव्य परायणता में भेद नहीं देखना चाहती है ।..... जो धर्म से शिव है, काव्य में वही सुंदर है । इसप्रकार शुक्ल जी ने सुन्दरं का शिवं के साथ तादात्म्य कर दिया है । उनका निरपेक्ष मूल्यों में अटल विश्वास है-- वे आदर्शवादी हैं ।

इस प्रकार शुक्ल जी ने नैतिक मूल्यों के साथ सौन्दर्यात्मक मूल्यों का अभिन्न सम्बन्ध दिखाया है ।

"वे जीवन के सौन्दर्य को वैचित्र्यपूर्ण मानते हुए उसमें सभी प्रकार के भावों का समावेश आवश्यक समझते थे । यही कारण है कि उन्होंने निष्क्रिय सौन्दर्य चित्रण को केवल स्वप्न द्रष्टाओं का उपजीव्य बतलाकर उसमें उस व्यापक भावभूमि का अभाव सिद्ध किया है, जिसकी पवित्रता में[1] व्यक्ति जीवन लोकजीवन में लय होकर उसमें विश्व हृदय का स्पन्दन पाता है ।"

वे काव्य सौन्दर्य को जीवन के शील या धर्म के शिव से अलग नहीं कर सकते थे । उनका कहना है कि 'कुछ रूपरंग की वस्तुएँ ऐसी होती है,जो हमारे मन में आते ही थोड़ी देर के लिए हमारी सत्ता पर ऐसा अधिकार कर लेती है कि उसका ज्ञान ही हवा हो जाता है और हम उन वस्तुओं की भावना के रूप में ही परिणत हो जाते हैं । हमारी अन्तस्सत्ता की यही तदाकार परिणति सौंदर्य की अनुभूति है ।[1]' सौन्दर्यानुभूति को वे मंगल विधायिनी मानते हैं । उनकी मान्यता है कि मंगल की आभा के विस्तार में जो प्रयत्न अपेक्षित हैं उसमें अधिक सौन्दर्य के दर्शन होते हैं । सिद्धावस्था का सौन्दर्य भोगपक्ष है, इसलिए उसमें शैथिल्य है । पर यह कहना कि उपर्युक्त आदर्श के भीतर ही सौन्दर्य और मंगल की अभिव्यक्ति होती है, काव्य की उच्चता केवल वहीं मिलती है, मंगल सौन्दर्य तथा काव्य की उच्चता के क्षेत्र को संकुचित करना है[2] । शुक्ल जी कर्म सौन्दर्य के समर्थक हैं ।

वे तो काव्यगत सौन्दर्य को कर्म और मनोवृत्ति को उभारने वाला ही एक तत्व मानते हैं और इस भाँति सौन्दर्य का मूल सम्बन्ध सीधा-सीधा रसशास्त्र से जोड़ देते हैं । कविता केवल वस्तुओं के ही रूपरंग में सौन्दर्य की छटा नहीं दिखाती,प्रत्युत कर्म और मनोवृत्ति के सौन्दर्य के भी अत्यन्त मार्मिक दृश्य सामने रखती है । वह जिस प्रकार विकसित कमल, रमणी के मुखमण्डल आदि का सौन्दर्य मन में लाती है, उसी प्रकार उदारता,वीरता,त्याग,दया, प्रेमोत्कर्ष आदि कर्मों और मनोवृत्तियों का सौन्दर्य भी मन में जमाती है[3] ।

वे वास्तविक सौन्दर्य को रस और औचित्य की यौगिक क्रिया ही मानते हैं । वे तो सौन्दर्य को शिव रूप ही मानते हैं । शुक्ल जी सौंदर्य के इस चरमस्वरूप आनन्द जो कि शिवस्वरूप है,उसी के पक्षधर हैं, जो नित्य है, मंगल है । वे लिखते हैं --'अभिव्यक्ति के क्षेत्र में स्थिर सौन्दर्य और स्थिर मंगल कहीं नहीं गत्यात्मक सौंदर्य और गत्यात्मक मंगल ही है, पर सौन्दर्य की गति भी

---

१ चिन्तामणि (भाग१),पृष्ठ० १६५ ।

२ वही, (भाग२),पृष्ठ० ५३ ।

नित्य और मंगल की भी । गतिका यही मंगल वास्तव में पर्याय है।[१] शुक्ल जी के ये गत्यात्मक सौन्दर्य और मंगल उनके काव्य सिद्धान्तों के प्राण हैं।

सौन्दर्य भावना की सर्वांगपूर्णता के लिए वे मानव की रूपविभूति तथा शील सौन्दर्य के साथ ही वातावरण के सौन्दर्य विधान को भी आवश्यक मानते हैं । सौन्दर्य और मंगल उनकी दृष्टि में पर्याय हैं ।

वस्तुनिष्ठ सौन्दर्य में शील का प्राधान्य मानते हैं ।इसी दृष्टि से वे औचित्य या मर्यादावादी हैं । अभिव्यक्ति सौन्दर्य को वस्तु सौन्दर्य का साधन मानते हैं । वे काव्य सौन्दर्य को जीवन के शील या धर्म के शिव से अलग नहीं कर सकते थे ।

शुक्ल जी लोक में रंजन की समता में रक्षण को प्राथमिकता देते हैं और उसकी अंतस्संज्ञा में करुणा की स्थिति स्वीकार कर साधनावस्था या प्रयत्न पक्ष को लेकर चलने वाले काव्यों को सौन्दर्य की गत्यात्मकता के कारण अधिक सुग्राह्य समझते हैं ।

सौन्दर्यात्मक मूल्यों के अतिरिक्त शुक्ल जी ने साहित्य में आनंदात्मक मूल्यों को भी उठाया है । उन्होंने सत,चित और आनंद, ब्रह्म के इन तीन स्वरूपों में काव्य और भक्ति मार्ग के लिए केवल उसके आनंद स्वरूपों को स्वीकार्य समझा है । लोक में रस आनंद की अभिव्यक्ति की उन्होंने दो अवस्थाएँ मानी हैं, जिनको दृष्टिगत रखकर वे काव्य के दो विभाग करते हैं--(१) आनंद की साधनावस्था या प्रयत्न पक्ष को लेकर चलने वाले काव्य, (२) आनन्द की सिद्धावस्था या उपभोग पक्ष को लेकर चलने वाले काव्य । उनके द्वारा आनंदकी साधनावस्था का किया गया सैद्धान्तिक विवेचन मुख्यत: तुलसी के मानस की उत्कृष्टता का ही परोक्ष रूप में संस्तव है । यह बात दूसरी है कि आचार्यों के ने उसपर अपने व्यक्तित्व की छाप अंकित कर उसे सर्वमान्य धरातल पर अधिक व्यापक और बहुग्राह्य बना दिया है । उनकी तो दृढ़ धारणा है कि मंगल अमंगल के द्वन्द्व में कवि लोग अंत में मंगल शक्ति की जो सफलता दिखा दिया करते हैं, उसमें सदैव शिक्षावाद या अस्वाभाविकता की गंध

---

१ चिन्तामणि(भाग२),पृ०सं० ५१ ।

समझकर नाक भौं सिकोड़ना ठीक नहीं[1]।

सिद्धावस्था से उनका तात्पर्य आनंद और मंगल का आविर्भूत रूप है। इसमें माधुर्य,उल्लास,विभूति, प्रेम व्यापार आदि का उपभोग पक्ष है। साधनावस्था को शुक्ल जी प्रयत्न पक्ष कहते हैं। वे पीड़ा, बाधा, अन्याय,अत्याचार आदि के दमन में तत्पर शक्ति के संचरण में भी उत्साह,क्रोध,करुणा,भय,घृणा इत्यादि की गतिविधि में भी पूरी रमणीयता देखते हैं। यही लोकमंगल की साधनावस्था है। शुक्ल जी काव्य का चरम लक्ष्य और प्राणतत्त्व लोकमंगलही मानते हैं। यही सत्साहित्य का भी आदर्श है।

रस तो आनंद रूप ही है। काव्य में विभावन व्यापार के कारण प्रतिकूल वेदनीय भावों में भी हृदय सत्तोगुण सम्पन्न हो जाता है,इसलिए वे भाव भी आनंद ज्योति का अवरोध नहीं करते अपितु उससे प्रकाशित होकर आनंदमय प्रतीत होने लगते हैं।

जिस प्रकार शुक्ल जी की लोकधर्म,आनंद एवं सौन्दर्य की धारणा लोकपक्ष की आदर्श निष्ठा से सर्वथा सम्पृक्त थी उसी प्रकार उनकी कविता विषयक धारणा भी लोकपक्ष से सम्पृक्त थी। वे लोकमंगल को अत्यधिक महत्त्व देते थे, इसीलिए कविता को भी बहुत ऊँचे धरातल पर स्वीकार करते थे,क्योंकि उनके मतानुसार--' कविता ही मनुष्य के हृदय को स्वार्थ बंधनों के संकुचित मंडल के ऊपर उठकर लोकसामान्य भावभूमि पर ले जाती है, जहाँ जगत की नाना गतियों के मार्मिक स्वरूप का साक्षात्कार और शुद्ध अनुभूतियों का संचार होता है[2]।' शुक्लजी ने जगत की अनेक रूपात्मकता की भाँति हमारे हृदय की अनेक भावात्मकता मानी है। इन भावों के परिष्करण के लिए वे जगत के विभिन्न रूपों के साथ हमारे हृदय की सामंजस्यपूर्ण अनुभूति आवश्यक समझते हैं।

वे कवि की अनुभूति को सारे विश्व में व्याप्त समझते हैं। सारा जड़ और चेतन जगत कवि का वर्ण्य विषयक हो सकता है। उन्होंने काव्य पर

---

१ रसमीमांसा,पृष्ठ० ६१।

वर्ण्य विषय की दृष्टि से विचार करते हुए मानवेतर जगत के पशु,पक्षी,प्रकृति आदि सभी को ग्रहण कर लिया है ।[1]

जनसाधारण को अत्यधिक महत्त्व देने के कारण वे काव्य का भी जनसाधारण के लिए प्रभावोत्पादक एवं प्रेषणीय होना अत्यन्त आवश्यक मानते हैं । इस प्रभाव का माध्यम काव्य है और इसी से काव्य के विधान में प्रेषणीयता का तत्व अनिवार्य है । एक की अनुभूति को दूसरे के हृदय तक पहुँचाना,यही कला का लक्ष्य होता है ।[2] शुक्ल जी काव्य में मंगल विधान को भी श्रेय देते हैं और केवल कलावाद का विरोध करते हैं । मंगल विधान के लिए काव्य में करुणा और प्रेम की योजना आवश्यक है । परन्तु यह प्रेम एकांतिक नहीं हो, वह लोकपक्ष की भूमि पर विकसित हो । मानस में उन्होंने करुणा और प्रेम का यही लोकमंगल विधायक रूप देखा है । उनका करुणा विषयक विवेचन इतना अधिक व्यापक है,जिसके अन्तर्गत प्रेमतत्त्व का भी समावेश हो जाता है । वे करुणा और प्रेम में कोई तत्त्वभेद न मानकर केवल दृष्टिभेद मानते हैं और इस प्रकार काव्य की साधनावस्था या प्रयत्नपक्ष के भीतर ही सिद्धावस्था या उपभोग पक्ष का अन्तर्भाव कर लेते हैं । वे लोकमंगल और वाच्यार्थ की भूमियों को क्षण भर के लिए भी छोड़ना नहीं चाहते । वे कहते हैं-- मनुष्य लोकबद्ध प्राणी है । उसका अपनी सत्ता का ज्ञान तक लोकबद्ध है । लोक के भीतर ही कविता क्या किसी कला का प्रयोजन और विकास होता है ।[3] इस प्रकार शुक्ल जी काव्य का चरम लक्ष्य और प्राणतत्त्व लोकमंगल ही मानते हैं ।

सृजनात्मक मूल्यों के अन्तस् में निहित कल्पना की मात्रा शुक्ल जी को भी स्वीकृत है । प्रतिभा के दोनों स्वरूप कल्पना के अतिरिक्त कुछ नहीं हैं । काव्य में प्रभावोत्पादन के लिए कल्पना की आवश्यकता को स्पष्ट करते हुए शुक्ल जी लिखते हैं --`गंभीर चिन्तन से उपलब्ध जीवन के तथ्य सामने रखकर जब

---

१ चिन्तामणि (भाग२),पृ०सं० १०४ ।

२ वही । पृ० सं० १२२ ।

३ वही ।

कल्पना मूर्त विधान में और हृदय भाव संचार में प्रवृत्त होते हैं, तभी मार्मिक भाव उत्पन्न होता है।[1]

महाकाव्यों में मार्मिक स्थलों का नियोजन भी कल्पना द्वारा ही संभव है। अनुभूति, भावुकता और कल्पना तीनों को ही वे कवि के लिए अनिवार्य मानते थे-- भावुक जब कल्पना सम्पन्न और भाषा पर अधिकार रखने वाला होता है, तभी कवि होता है।[2]

शुक्ल जी कल्पना को निरपेक्ष नहीं मानते, वह भी भावस्वरूपा है। उन्होंने कल्पना को इस अनंत रूपात्मक जगत के प्रति व्यक्त मानस की प्रक्रिया स्वरूप ही ग्रहण किया है। उन्होंने काव्यान्तर्गत भावों के प्रवर्तन के लिए भावना या कल्पना की वांछनीयता उसी रूप में स्वीकार की है, जिस रूप में भक्ति के क्षेत्र में उपासना या ध्यान स्वीकृत किये जाते हैं। वे काव्य में कल्पना का प्रयोग वहीं तक सौष्ठवपूर्ण मानते हैं, जहाँ तक भावों को मार्मिक, सजीव और स्पष्ट मूर्ति विधान की अवस्था तक प्रस्थापित कर दे। उनके मतानुसार कवि में जहाँ विधायक कल्पना अपेक्षित है, वहाँ श्रोता या पाठक में अधिकतर ग्राहक कल्पना। वे कल्पना को काव्य का साधनमात्र मानते हैं और जो पश्चिमी साहित्यालोचक उसे भाव लोक से उच्चतर भूमि पर प्रतिष्ठित करते हैं, उन्हें वे अपना आदर्श नहीं स्वीकार करते, क्योंकि कल्पना के आधार पर केवल[3] विचित्र मूर्तिविधान प्रस्तुत करना उसे कदापि रसकोटि तक नहीं पहुँचा सकता। उन्होंने यहाँ तक कहा है कि इसके अभाव में काव्य में रसात्मकता की संभावनाएँ कम हो जाती हैं --' किसी भावोद्रेक द्वारा परिचालित अन्तर्वृत्ति जब उस भाव के पोषक स्वरूप गढ़कर या काट छाँटकर सामने रखने लगती है, तभी हम उसे सच्ची कल्पना कह सकते हैं।[4]'

---

1 शेष स्मृतियाँ, प्रवेशिका, पृ०सं० १४।

2 चिन्तामणि (भाग२), काव्य में रहस्यवाद, पृ०सं० ७१।

3 रस मीमांसा, पृ०सं० ३६।

4 भ्रमरगीत, पृ०सं० २८।

इस प्रकार शुक्ल जी ने लोकसंग्रह में ही धर्म का सौन्दर्य देखा है । वे रसास्वाद द्वारा व्यक्ति के हृदय को विश्व-हृदय में तल्लीन कर देना उसमें लोकरंजन तथा लोकमंगल की भावना बद्धमूल कर देना ही काव्य का उद्देश्य समझते हैं। वे यह मानते हैं कि लोकहित की भावना का प्रसार ही काव्य का चरम लक्ष्य है, आनंदानुभूति इसका साधन है ।

प्रेमचन्द

प्रेमचन्द की सभी कृतियों में उनका लक्ष्य है-- जनहित । इसी से भाषा की सरलता की ओर भी उनका आग्रह है । वे मानते हैं कि किसी भी श्रेष्ट रचना की सफलता इसी में है कि वह जनसाधारण की समझ में आ सके। वे हमेशा जनहित को सम्मुख रखते थे । प्रेमचन्द जनहित के लिए ही सुख और स्वराज्य की कामना करते थे । वे समाज को ऐसा व्यवस्था चाहते थे जहाँ कम से कम विषमता को आश्रय मिल सके । प्रेमचन्द ने अपने एक भाषण में महात्मा गांधी के इस कथन का समर्थन किया है कि --` हमारे साहित्य का आदर्श जनसेवा होना चाहिए । जो साहित्य केवल विलासिता का ही आदर्श अपने सामने रखता है, उसके संगठन करने की आवश्यकता ही क्या ? हम तो जनसेवा के लिए ही साहित्य की सेवा करने में प्रवृत्त हुए हैं ।...... इसीलिए हम उसका महत्त्व मानते हैं । राष्ट्रीय एकता के बिना[1] लोकजीवन, प्रसन्न, पुरुषार्थी और परिपूर्ण नहीं हो सकता । प्रेमचन्द के संपूर्ण साहित्य में यही भावना मिलती है ।

प्रेमचन्द के विचार से धर्म,साहित्य,राजनीति और समाज सबका मूल उद्देश्य व्यापक ढंग से लोकहित की संस्कृति को फलीभूत करना था ।जनसाधारण का सुख,जनहित की[2] भावना तथा लोकमंगल की कामना ही प्रेमचंद का अंतिम लक्ष्य और उद्देश्य था ।

---

१ प्रेमचन्द : `साहित्य के उद्देश्य`,पृ०सं०२२४ ।

२ संकलनकर्ता अमृतराय : विविध प्रसंग(भाग३),पृ०सं० १५४ ।

वे एक महान लेखक थे और इसी उद्देश्य से साहित्य-सृजन भी करते थे कि जीवन का रहस्य मनुष्यमात्र को समझाया जाये ताकि वे अपने जीवन को सुखी और स्वस्थ बना सके और उन्नति का मार्ग प्रशस्त हो जाये। उन्होंने जनता को समझने और उससे सीखने का प्रयत्न किया। प्रेमचन्द की साहित्यिक विधा ने जनता की मूक भावनाओं को शब्दों में ढाला और उनका सम्पूर्ण साहित्य जनता की आवाज़ बन गया। इस प्रकार प्रेमचंद के साहित्य में जनवाणी का जयघोष है, जिसके द्वारा वह हमारी संस्कृतिक परम्परा को आगे बढ़ाने में सहायक सिद्ध हुआ।

जनसाधारण के प्रति प्रेमचन्द की अत्यधिक रुचि उनके निम्न उदाहरणों से ही ज्ञात हो जाती है--"जो दलित हैं, पीड़ित हैं, वंचित हैं, चाहे वह व्यक्ति हो या समूह उसकी हिमायत और वकालत करना उसका (साहित्यकार का) फ़र्ज़ है।" सद् प्रवृत्तियों की विजय और मानव जीवन की मंगलाशा से ओत प्रोत उनका साहित्य आधुनिक भारतीय साहित्य में भी निराला है। परंतु जो चीज़ प्रेमचंद के साहित्य को और भी महत्वपूर्ण बनाती है वह है उसका भारतीय दृष्टिकोण और उसकी लोकमंगल की भावना एवं आदर्शवाद। संपूर्ण साहित्य में उनका पक्ष नैतिक पक्ष है और वह दैवी संपदाओं की जीत की ही घोषणा करते हैं।

अपार मानवता और अगाध आत्मविश्वास ही प्रेमचंद के साहित्य का संबल है। इन्हें ही लेकर वह मानव के कल्याण-पथ पर अग्रसर हुए हैं। प्रेमचंद के साहित्य में जो संकल्प है, जो भावना का काठिन्य है, जो संयम और कल्याण दृष्टि है, वही आज इस निर्माणशील स्वतंत्र नवराष्ट्र का बल है।

इस प्रकार उन्होंने अपनी कला का उपयोग ग्रामीण जीवन एवं उसकी समस्याओं के चित्रण के लिए किया।

प्रेमचंद ने साहित्य में लोकमांगलिक मूल्यों की तरह उपयोगी मूल्यों को भी स्थान दिया है। उन्होंने साहित्य में उपयोगिता को सदैव सम्मुख रखा, उसको विस्मृत नहीं किया। उनका विचार था कि साहित्य की सामग्री मनुष्य का जीवन है। साहित्य का जन्म उपयोगिता की भावना का ऋणी है, जो चतुर कलाकार है, वह उपयोगिता को गुप्त रखने में सफल होता है, जो उतना चतुर

या केवल विनोदात्मक हो सकती है । मुख्यरूप से भावों को संस्कृति ही उसका गौरव है । प्रेमचंद का तो यहाँ तक कहना था कि--' जिस वाणी,पुस्तक या लेख में उपयोगिता का तत्त्व नहीं है, वह साहित्य नहीं .... कुछ भी नहीं ।'[1]

इस प्रकार साहित्य की सृष्टि के लिए वे आनंद की भावना को नहीं,वरन् उपयोगिता की भावना को उत्तरदायी बताते हैं । प्रेमचंद ने और वस्तुओं की भाँति कला को भी उपयोगिता की तुला पर तौला है--

मेरा पक्का मत है कि परोक्ष या अपरोक्ष रूप से सभी कला उपयोगिता के सामने घुटना टेकती है । परन्तु यह उपयोगिता ठीक रुपया आने पाई में आँकी जा सकती हो,प्रेमचंद का यह भाव नहीं है । वह उपयोगिता है सौन्दर्य वृत्ति की पुष्टि, सांसारिक दुख सुख को सहन करने की शक्ति,बंधुत्व और समता का भाव अथवा सहृदयता का विकास एवं मानसिक एवं बौद्धिक विकास ।

प्रेमचंद ने साहित्य को बहुत ही ऊँचा दर्जा दिया है । वे कहते हैं कि साहित्य देश-भक्ति और राजनीति के पीछे चलने वाली सच्चाई ही नहीं,बल्कि उसके आगे मशाल दिखाती हुई चलने वाली सच्चाई है ।[2]

उन्होंने साहित्य में सामाजिक और नैतिक मूल्यों की चर्चा भी की है । उनका दृढ़ विश्वास है कि साहित्य को समाज और नीति से अलग नहीं किया जा सकता । वे नैतिक और सामाजिक समस्याओं में अधिक रुचि रखते रहे हैं,मानवीय असंगतियों में कम । वे कहते हैं कि जीवन संघर्ष का समाधान यदि कहीं पूर्ण रूप से मिल सकता है तो वह साहित्य ही में ।

साहित्य में आर्थिक मूल्यों का वर्णन करते हुए प्रेमचंद ने उनका स्पष्ट चित्र अंकित कर दिया है । वे मानते हैं कि मनुष्यता का अंत करने वाला यह धनाधिक्य ही है तथा इस पैसे ही ने मनुष्य को अपना क्रीतदास बना

---

१ विविध प्रसंग(भाग३),पृ०सं०१२६ ।

२ प्रेमचंद : कुछ विचार

लिया है। उसकी सारी[1] मानसिक, आत्मिक और दैहिक शक्ति केवल संपत्ति के संचय में बीत जाती है। प्रेमचंद ने धन अथवा पूँजी का गुणगान इन शब्दों में किया है-- धन लोभ ने मानव भावों को पूर्णरूप से अपने अधीन कर लिया है। कुलीनता और शराफत गुण और कमाल की कसौटी पैसा, और केवल पैसा है। जिसके पास पैसा है वह देवता स्वरूप है। उसका अन्त:करण कितना ही काला क्यों न हो।......ईश्वर न करे कि आज किसी को किसी[2] चीज़ में कमाल हासिल हो जाए, फिर उसमें मनुष्यता नाम को न रह जायेगी।

प्रेमचंद ने धार्मिक मूल्यों का भी वर्णन किया है। उन्होंने भारतीय धर्म और भारतीय संस्कृति का सार रूप ग्रहण किया और मानवीय धर्म को इतना व्यापक रूप प्रदान किया कि उसमें सभी धर्म समा सकते थे। उनका धर्म अन्त: साधनामूलक था और लोकसंग्रह तथा लोकमंगल की कामना लिए हुए था। उनकी दृष्टि में लोकमंगल की साधना ही ईश्वर की सेवा थी। उन्होंने आत्मशक्ति तथा साधना को प्रमुख स्थान दिया, अत: इस प्रकार उन्होंने भारत के पुनर्निर्माण के लिए भारतीय पुनरुत्थान को पुष्ट करने में सक्रिय सहयोग दिया। यहाँ तक कि उन्होंने राष्ट्रीयता को भी आध्यात्मिक रूप देने का और प्राचीन धर्म को बौद्धिक और युग सम्मत स्तर पर लाने का पुनीत प्रयास किया।

प्रेमचंद का साहित्य धर्म, नीति, मानवता, मर्यादा, सुशासन, स्वाधीनता, सुव्यवस्था, प्रगति और विकास का जयघोष प्रतीत होता है। प्रेमचंद के लिए धर्म का अर्थ संसार में मेल और एकता पैदा करना है। --"ईश्वर के नाम पर जो प्रत्येक[3] धर्म में स्वांग हो रहा है, उस स्वांग की जड़ खोदना ईश्वर की सच्ची सेवा है।"

प्रेमचंद आगे और कहते हैं-- साहित्य धर्म को फिरकाबंदी की हद तक गिरा हुआ नहीं देख सकता। वह समाज को संप्रदायों के रूप में नहीं,

---

१ विविध प्रसंग, पृ०सं० ३३५।

२. प्रेमचन्द : महाजनी सभ्यता, हंस प्रकाशन, स्मृति अंक, पृ०सं० २५७।

मानवता के रूप में देखता है । किसी धर्म की महानता और फ़ज़ीलत इसमें है कि वह इंसान को इंसान का कितना हमदर्द बनाता है, उसमें मानवता का कितना ऊँचा आदर्श है और उस आदर्श पर वहां कितना अमल होता है । अगर हमारा धर्म हमें यह सिखाता है कि इंसानियत और हमदर्दी और भाईचारा सब कुछ अपने ही धर्मवालों के लिए है और उस दायरे से बाहर जितने भी लोग हैं सभी गैर हैं, और उन्हें जिन्दा रहने का कोई हक नहीं, तो मैं उस धर्म से अलग होकर ज्यादा पसंद करूंगा । धर्म नाम है उस रोशनी का जो कतरे को समुद्र में मिल जाने का रास्ता दिखाती है जो हमारी ज़ात को इमाकोल्स्त में, हमारी आत्मा को व्यापक सर्वात्मा में, मिले होने की अनुभूति या यकीन कराती है । और चूँकि हमारी तबीयतें एक सी नहीं हैं, हमारे संस्कार एक से नहीं हैं हम उसी मंजिल तक पहुँचने के लिए अलग-अलग रास्ते अख्तियार करते हैं । इसीलिए भिन्न-भिन्न धर्मों का जहूर हुआ है । यह साहित्यसेवियों का काम है कि वह सच्ची धार्मिक जागृति पैदा करें ।[1]

इसप्रकार प्रेमचंद ने धर्म को सामाजिक रूप दिया है, तटस्थ रहकर सामाजिक परिस्थितियों में उलझे हुए मनुष्य के धार्मिक विचारों को बनते-बिगड़ते दिखाया है । परंतु वे धर्म के कटु आलोचक भी थे । उनका विचार यह भी था कि धर्म ढकोसला है, अंधविश्वास है, दूसरों को लूटने की विधा है,क्योंकि प्रेमचंद जी ने धर्म की आड़ क्रूरताओं के वीभत्स चित्र देखे थे । उनका कहना था कि धर्म ने हमारी भावना को आक्रांत कर दिया है ।मानव का हृदय,मस्तिष्क,क्रिया-कलाप, दैनिक जीवन सभी कुछ ईश्वर और धर्म के प्रभाव से आक्रांत है । वे यह भी लिखते हैं कि धर्म मानव-मस्तिष्क की स्वतंत्र चेतना के लिए अवकाश नहीं देता । उनका विश्वास था कि ईश्वर मन की एक भावना है । उसके लिए मंदिरों, मसजिदों या गिरजाघरों की आवश्यकता नहीं । वह घट घट व्यापी है, एक-एक अणु में उसकी ज्योति है । वह प्रजा की कमाई पर चैन करने

---

1 प्रेमचंद : कुछ विचार, पृष्ठ० १२६ ।

वाला नहीं, राजा नहीं ।....... जो लोग ईश्वर भक्ति की धुन में बड़े-बड़े महल बनवाते हैं कि ईश्वर इसमें रहेगा, वे असीम को चहारदीवारी में बंद करके व्यापक ईश्वर का अपमान करते हैं........। ईश्वर की उपासना का केवल एक मार्ग है और वह है मन,वचन और कर्म की शुद्धता, अगर ईश्वर इस शुद्धता की प्राप्ति में सहायक है तो शौक से उसका ध्यान कीजिए[1] ।

धर्म के साथ ही प्रेमचंद जी ने आस्तिकता और नास्तिकता को भी सामाजिक रूप दे दिया है । सामाजिक परिस्थितियाँ ही मनुष्य को अवसरिक या आस्तिक या नास्तिक बना देती हैं । संपन्न के लिए आस्तिक होना सहज है, संसार का मारा हुआ अपना गुस्सा ईश्वर पर उतारता है ।

प्रेमचंद ने धर्म की स्पष्ट और सुलझी हुई व्याख्या की है। वे धर्म के ढकोसले वाले रूप से घृणा करते हैं । सांस्कृतिक मूल्यों पर प्रेमचन्द ने अधिक विचार नहीं किया है । उनके ख्याल में संस्कृति के दो रूप हैं-- एक बाह्य जगत से सम्बन्ध रखने वाली, दूसरी अन्तर्जगत से । बाह्य संस्कृति का सम्बन्ध भावना, पहनावा,शिष्टाचार, शादी , व्यवहार आदि से है, आंतरिक सम्बन्ध धार्मिक एवं आध्यात्मिक विचारों से[2] ।

इन सांस्कृतिक मूल्यों की अपेक्षा उन्होंने साहित्य में सौन्दर्यात्मक मूल्यों को विस्तार से वर्णित किया है । वे साहित्य का साधन सौन्दर्य प्रेम को मानते हैं । उनका कहना है-- साहित्य का साधन- सौंदर्य प्रेम है। वह मनुष्य में इसी सौंदर्य प्रेम को जगाने का यत्न करता है । ऐसा कोई मनुष्य नहीं जिसमें सौन्दर्य की अनुभूति न हो ।साहित्यकार में यह वृत्ति जितनी ही सक्रिय और जाग्रत होती है, उसकी रचना उतनी ही प्रभावकारी होती है । साहित्यकार पैदाइश से सौंदर्य का उपासक होता है । वह जीवन के हरेक अंग में, जिन्दगी के हरेक शोबे में हुस्न का जलवा देखना चाहता है । जहां सामंजस्य या हम आहंगी है वहीं सौंदर्य है, वही सत्य है, वही हकीकत है । जिन तत्वों से जीवन की रचा

---

१ विविध प्रसंग(भाग३),पृष्ठांक १५४ ।

होती है, जीवन का विकास होता है, वही हुस्न है।[1]

प्रेमचंद साहित्य में असुंदर का प्रवेश केवल इसलिए मानते हैं कि उससे सुंदर को और सुंदर बनाया जा सके। वे साहित्य के तीन लक्ष्य मानते हैं-- साहित्य के तीन लक्ष्य हैं-- परिष्कृत, मनोरंजन, उद्घाटन। लेकिन मनोरंजन और उद्घाटन भी उसी परिष्कृत के अन्तर्गत आ जाते हैं,क्योंकि लेखक का मनोरंजन केवल भाडों या नक्कालों का मनोरंजन नहीं होता, उसमें परिष्कार का भाव छिपा रहता है। उसका उद्घाटन भी परिष्कृति का उद्देश्य सामने रखकर ही होता है। हम गुप्त मनोभावों को इसलिए नहीं दर्शाते कि हमें उनकी दार्शनिक विवेचना करनी है, बल्कि इसलिए कि हम सुंदर को आकर्षक और असुंदर को हेय दिखाना चाहते हैं।[2]

प्रेमचंद की दृष्टि में कथा साहित्य का उद्देश्य जीवन की सच्चाई और अनुभूति प्रकट करना था। ~~सामंजस्य का व्यक्त रूप है~~ उनके मतानुसार साहित्य कलाकार के आध्यात्मिक सामंजस्य का व्यक्त रूप है और जहाँ सामंजस्य है वहीं सौंदर्य है, वहीं दृढ़ता और जीवन है।[3] यही विशेषताएँ उन्हें कथा - साहित्य के लिए मान्य थीं। मानव जीवन में जो कुछ सत्य और सुंदर है उसका उद्घाटन करना ही कथा साहित्य का लक्ष्य है। प्रेमचंद जीवन के संताप,कुरूपता और दरिद्रता के साथ समझौता करने में कठिनाई अनुभव करते थे।उन्हें मानवता में जो अभाव दिखायी देता था,वह उनके लिए सब असह्य हो जाता है।

प्रेमचंद ने साहित्य में सौन्दर्यात्मक मूल्यों के साथ आदर्शवाद एवं यथार्थवाद को भी जोड़ लिया है। वे साहित्य की आत्मा को आदर्श तथा उसकी देह को यथार्थ चित्रण मानते थे। प्रेमचंदकी समस्त रचनाओं में जीवन का यथातथ्य रूप ही उपस्थित किया गया है, परन्तु अंत में सद्वृत्तियों और सदाशयों की विजय होती है और आदर्श परीक्षा की अग्नि में तपकर खरा

---

१ कुछ विचार (भाग१),पृ०सं० ,१२७।

२ प्रेमचंद : चिट्ठी पत्री,पत्र १०,पृ०सं०१८२ ।

३ प्रेमचंद : साहित्य के उद्देश्य,पृ०सं० ८ ।

निकलता है । यह समझौता उनकी अपनी सूझ है । वह कहाँ तक कला की रक्षा कर सकता है, यह दूसरी बात है । परन्तु साथ ही प्रेमचंद नग्न और असुंदर यथार्थवाद के पक्षपाती नहीं हैं । वे कहते हैं-- असुंदर का साहित्य में उतना ही स्थान है, जिससे उसमें जो सुंदर है उसकी सुंदरता न बिगड़ने पाये, परंतु सुंदर क्या है, असुंदर क्या है, यह जाँचना कठिन है । वह अनर्गल यथार्थ को अग्राह्य और मंगलमय यथार्थ को संग्रहणीय मानते हैं । उनका कहना है कि श्रेष्ठ लेखक यथार्थ को एकदम छोड़ ही नहीं सकता, वह यथार्थ के इतना निकट होता है कि उसकी रचनाओं से यथार्थ का ही भ्रम होता है । उन्होंने जिस तरह उपयोगितावाद और कलावाद का गठबंधन करना चाहा है,उसी तरह वे यथार्थवाद और आदर्शवाद में भी समझौता कर लेते हैं । वे मानते हैं कि यथार्थवाद हमारी आँखें खोल देता है और आदर्शवाद हमें उठाकर किसी मनोरम स्थान में पहुँचा देता है ।

प्रेमचंद ने साहित्य में सौन्दर्यात्मक मूल्यों की ही भाँति आनंदात्मक मूल्यों की चर्चा भी की है । वे साहित्य का मुख्य उद्देश्य आनंदही मानते हैं,परन्तु इस आनंद के साथ उतनी ही महत्ता की चीज़ उपयोगिता को भी मानते हैं । साहित्य से रस की सृष्टि, उसका ध्येय आनंदमात्र होना, प्रेमचंद की भारतीयता का प्रमाण है । वे कहते हैं कि साहित्य का आनंद ही मनुष्य को मनुष्य बनाता है और उसे सत्कार्यों की ओर प्रेरित करता है । एक स्थान पर प्रेमचंद कहते हैं कि सत्य से मनुष्य का तीन प्रकार का सम्बन्ध होता है । एक जिज्ञासा का, जो दर्शन का विषय है, दूसरा प्रयोजन का[१] जो विज्ञान का विषय है और तीसरा आनंद का जो साहित्य का विषय है । सत्य की उपयोगिता इस तरह विज्ञान का विषय बन जाती है । परंतु बाद में वे इसी आनंद में उपयोगिता की भी खोज करते हैं । वे कहते हैं कि .... मुझे यह कहने में झिझक नहीं कि मैं और चीज़ों की तरह कला को भी उपयोगिता की तुला पर तौलता हूँ । निस्संदेह कला का उद्देश्य सौन्दर्यवृत्ति की पुष्टि करना है और वह हमारे आध्यात्मिक आनंद

---

१ प्रेमचंद : साहित्य के उद्देश्य,पृ०सं०२१ ।

की कुंजी है,पर ऐसा कोई रुचिगत मानसिक तथा आध्यात्मिक आनंद नहीं जो अपनी उपयोगिता का पहलू न रखता हो । आनंद स्वत: एक उपयोगिता युक्त वस्तु है और उपयोगिता की दृष्टि से एक ही वस्तु से हमें सुख भी देता है और दुख भी ।

वास्तव में प्रेमचंद के साहित्य का आधार जीवन है, उनके साहित्य का लक्ष्य मनुष्य है । इसी लक्ष्य में उसका सच्चा आनंद छिपा हुआ है जो सत्य और सुंदर पर आधारित है । वह हमारी आत्मा को विशाल और पुनीत बनाने का एक सफल प्रयास है । साहित्य का आनन्द अन्य[१] प्रकार के आनंदों से ऊँचा है, उनसे पवित्र है, उसका आधार सुंदर और सत्य है ।

अंत में हम प्रेमचंद जी के सृजनात्मक मूल्यों में निहित कल्पना एवं अनुभूति आदि को लेंगे -- प्रेमचंद उपन्यासकार का प्रधान गुण उसकी सृजनशक्ति मानते हैं । वे कहते हैं कि उपन्यासकार में यदि इसका अभाव है तो वह कभी भी सफल नहीं हो सकता । उपन्यासकार में नव नव कल्पना का उन्मेष होना चाहिए, जिससे वह घटनाओं और पात्रों को प्रत्यक्ष करके देख सके ।यदि उपन्यासकार पर्याप्तिरूप से कल्पनाशील नहीं है तो उसके चरित्र हमें प्रभावित नहीं कर सकते । ऐसा ही प्रेमचंद भी मानते हैं । वे कहते हैं कि उसमें और चाहे जितने अभाव हों पर कल्पना शक्ति की प्रखरता अनिवार्य है । अगर उसमें यह शक्ति मौजूद है तो वह कितने ही दृश्यों, दशाओं और मनोभावों का चित्रण कर सकता है,जिसका उसे प्रत्यक्ष अनुभव नहीं है ।

प्रेमचंद की कला और प्रेरणा का स्वरूप सृजनात्मक प्रक्रिया का तत्त्व था जो कि सृजनकर्ता और बाह्य यथार्थ के बीच संघर्ष में, इस यथार्थ को काबू करने तथा उसकी पुन: रचना करने की आवश्यकता में निहित होता है । वे अनुभूति में भी विश्वास रखते थे । साहित्य का प्रयोजन उनके व्यक्तित्व से जुड़ा हुआ था, जिसकी अनुभूति भाषा की अभिव्यक्ति थी । वे

---

१ प्रेमचंद : कुछ विचार,पृ०सं० १४१ ।

कहते थे कि हम जीवन में जो कुछ देखते हैं, या जो कुछ हम पर गुजरती है,वही अनुभव और वही चोटें कल्पना में पहुँचकर साहित्य सृजन की प्रेरणा करती है । कवि या साहित्यकार में अनुभूति की जितनी तीव्रता होती है, उसकी रचना उतनी ही आकर्षक और ऊँचे दरजे की होती है[1] ।

प्रेमचंद ने साहित्य का आधार जीवन माना है । वे मानवतावादी थे जैसा कि प्रत्येक क्रांतिकारी तथा समाजवादी होने के लिए बाध्य है,किन्तु वे मानवतावादी से कुछ अधिक भी इस अर्थ में थे कि उन्होंने अपने साहित्य में केवल भावुकता को प्रश्रय नहीं दिया, जगत की विषमताओं पर आँसू बहाकर चुप नहीं हो गए,बल्कि उन्होंने अपने साहित्य में संग्राम का संदेश दिया है।

सत्य,शिव,सुंदर की दृष्टि से उनकी कला बहुत ऊँचे दर्जे की है । वर्ग संघर्ष सत्य है, इसी को प्रेमचंद जी ने अपने उपन्यासों का मुख्य उपजीव्य बनाया है । आगामी समाज वर्तमान शोषण मूलक पद्धति की तुलना में शिव है, इसी का ऊँचा राग प्रेमचंद के अंतिम उपन्यास, गोदान में, उनके सारे साहित्य में चित्रित है । प्रेमचंद का साहित्य इसलिए सुंदर है कि वह हमें इस बात की आशा दिलाता है कि असुंदर पर सुंदर की विजय होगी । इस दृष्टि से देखने पर प्रेमचंद का स्थान विश्व साहित्य के अमर लेखकों में है ।

जयशंकर प्रसाद

जयशंकर प्रसाद जी का आविर्भाव उस समय हुआ जब कि हिन्दी साहित्य में गद्य के परिष्कार के साथ ही साथ संयम एवं गाम्भीर्य का भी समावेश हो चुका था । प्रसाद ने कुछ आदर्शों में निष्ठा रखने वाले अपने युग में स्वस्थ मानवता का, नवीन वस्तुस्थिति का संचार किया । उनके निबन्धों में उनकी

---

१ प्रेमचन्द : कुछ विचार(भाग१),पृ०सं० ६ ।

अन्वेषक प्रतिभा और इतिहास मंथन का पता चलता है, इनमें उन्होंने अपनी विचारशैली को सीधे व्यक्त किया है । उनका जो साहित्य-चिन्तन है, वह पूरी तरह से भारतीय स्रोतों से अनुप्राणित है ।

प्रसाद जी ने अपने साहित्य-चिन्तन में मूल्यों की चर्चा सर्वत्र की है, परन्तु वे प्रधानता अधिकतर आनन्द एवं सौन्दर्यबोध को ही दे सके हैं । उनकी मान्यता इतनी विशिष्ट है कि वह भारतीय परम्परा से अलग तथा पश्चिम के द्वन्द्वात्मक सिद्धान्त को लेकर भी आनंद को महत्त्व देती है--

'जीवन में यथार्थ वस्तु आनन्द है, ज्ञान से वा अज्ञान से मनुष्य उसी की खोज में लगा है । आदर्शवाद ने विवेक के नाम पर आनंद और उसके पथ के लिए जो जनरव फैलाया है, वही उसे अपनी वस्तु कहकर स्वीकार करने में बाधक है ।'[1]

इस प्रकार वे जीवन की सार्थकता ही आनन्द की खोज में बताते हैं । उनके मतानुसार सांसारिक प्राणी आनन्द की खोज में रत है,क्योंकि वह आनन्द ही जीवन का यथार्थ है । आत्मा का अद्वय स्वरूप आनंदमय है और उस अद्वयता में सम्पूर्ण प्रकृति सन्निहित है, यह प्रसाद जी की दृढ़ धारणा भी है। जिन काव्यों का प्रवाह आनंद के आध्यात्मिक स्रोत से निकला है, दुख जिनमें मिश्रित बनकर आया है, लक्ष्य नहीं-- वे सभी प्रसाद जी की रहस्यकाव्य की व्याख्या के अन्तर्गत आ जाते हैं । वे आनंद और उल्लास की ही साधनापद्धति को मानते हैं जिसमें दुखवाद का अभाव है । उनके कथनानुसार --

'आनंद का स्वभाव ही उल्लास है, इसलिए साधना प्रणाली में उसकी मात्रा उपेक्षित न रह सकी ।'[2]

साहित्य में वे आनंद सिद्धान्त के पोषक हैं । अलंकार, रीति,वक्रोक्ति और ध्वनि आदि के साहित्य सम्प्रदायों को वे केवल विवेक मत

---

१ जयशंकर प्रसाद : काव्य और कला तथा अन्य निबंध,निबंध रहस्यवाद,पृष्ठ०४६

२ वही, पृष्ठ० ५५ ।

की उपज बताते हैं, जब कि रस मत को आनन्द उद्भुत मानते हैं । अपने काव्य के लिए भी जो कतिपय दार्शनिक उद्भावनाएँ उन्होंने की हैं, उनसे यह आभास मिलता है कि प्रसाद जी शक्ति और आनंद की ऊँची मानसिक अभिव्यक्ति को ही काव्य का मुख्य लक्ष्य मानते थे । जब कि दर्शन का तो कार्य ही मनुष्य या मानव जीवन से सम्बन्धित चरम मूल्यों की प्रकृति का अन्वेषण या उद्घाटन करना है ।मनुष्य तो लगातार जीवन की नई सम्भावनाओं का चित्र बनाता रहता है । ये संभाव्य चित्र ही वे मूल्य हैं,जिनके लिए वह जीवित रहता है । प्रसाद ने रहस्यवाद के मूल में भारतीय दर्शन के आनन्दवाद की प्रतिष्ठा कर उसके आनुषंगिक रूप में रीति, प्रीति, सौंदर्य तथा अद्वैत भक्ति का भी सामान्य निरूपण किया है ।

इन कथनों से स्पष्ट हो जाता है कि प्रसाद जी साहित्य में आनन्द को अत्यधिक महत्त्व देते थे । वे तो दुख दग्ध जगत और आनंदपूर्ण स्वर्ग का एकीकरण ही साहित्य को मानते थे[1] । प्रसाद जी कहते हैं --

'वह (साहित्य) किसी की परतंत्रता को सहन नहीं कर सकता । संसार में जो कुछ भी सत्य और सुंदर है, वही साहित्य का विषय है । साहित्य केवल सत्य और सौन्दर्य की चर्चा करके सत्य को प्रतिष्ठित और सौंदर्य को पूर्णरूप से विकसित करता है । आनन्दमय हृदय के अनुशीलन में और आलोचना में उसकी सत्ता देखी जा सकती है[2] ।'

वे रसात्मकता को काव्य की आत्मा भी मानते थे ।अत: प्रसाद ने जहाँ एक ओर आनंद की प्रतिष्ठा बड़े ठोस शब्दों में की है,वहाँ दूसरी ओर वे साहित्य में आध्यात्मिक मूल्यों की भी चर्चा करते हैं,जिनमें सौन्दर्यात्मक मूल्यों पर विशेष विचार किया है --'काव्य और कला' निबन्ध में उनकी सबसे बड़ी उद्भावना यह है कि काव्य स्वत: आध्यात्मिक है । काव्य से ऊँची अध्यात्म नाम की कोई वस्तु नहीं -- 'काव्य आत्मा की संकल्पात्मक अनुभूति है,जिसका

---

१ काव्य और कला तथा अन्य निबंध,पृ०सं० १२१ ।

२ इन्दुकला १, किरण २,१९०९ ।

सम्बन्ध विश्लेषण, विकल्प या विज्ञान से नहीं है।[1] चूँकि भारतीय विचारधारा में ब्रह्म मूर्त भी है और अमूर्त भी, अत: मूर्त होने के कारण काव्य को भी अध्यात्म से निम्न श्रेणी की वस्तु नहीं कह सकते। इसलिए उनको यह उद्‌भावना उचित है।

~~आध्यात्मिक मूल्यों के अन्तर्गत~~ प्रसाद जी ने सौन्दर्यात्मक मूल्यों को अत्यधिक महत्व दिया है। वे कहते हैं --

'काव्य का परम उद्देश्य आह्लाद और सौन्दर्य सृष्टि है और इसके आधार पर ही उसका मूल्यांकन भी अपेक्षित है। स्थूल एवं जड़ सौन्दर्य की अपेक्षा सूक्ष्म एवं भाव सौन्दर्य की अभिव्यक्ति ने ही सौष्ठववादी आलोचना को भी विकसित किया है।'[2]

प्रसाद जी ने सौन्दर्यानुभूति के सम्बन्ध में मार्मिक विचार व्यक्त किया है। उनके अनुसार रूप के अभाव में सौन्दर्य-बोध नहीं हो सकता। क्योंकि हमारे नेत्रों के प्रत्यक्ष से इतर जो वायु और आकाश हैं वे भी तो अमूर्त ही हैं, परन्तु फिर भी उनका रूपानुभव हमारा हृदय करता है। इस प्रकार रूप ग्रहण की सामर्थ्य हमारे हृदय में है। प्रसाद जी सौन्दर्यानुभूति को भारतीय दर्शन के अभेदवाद पर आधृत करते हैं। वे कहते हैं कि --

'इस दृष्टि से देखने पर सौन्दर्यबोध सम्बन्धी दो धारणाएँ अधिक महत्व नहीं रखतीं एवम् अमूर्त सौन्दर्यबोध कहने का कोई अर्थ ही नहीं रह जाता।'[3]

प्रसाद जी की यह मान्यता उनके गंभीर भारतीय चिन्तन का परिणाम है। प्रेम और सौन्दर्य प्रसाद की जीवनधारा के दो कूल थे। प्रेम, सौन्दर्य और करुणा के भीतर से वे जीवन और प्रकृति को देखते थे। वे प्रकृति के समस्त जड़ चेतन पदार्थों एवं स्थूल जगत के अंग-अंग में व्यापक सौन्दर्य का साक्षात्कार

---

1 काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध, पृ०सं० ३७।

2 वही।

3 वही, पृ०सं० ३५।

करते थे । सत्य, सौन्दर्य और शिव का सामंजस्य उनको मान्य था । सौन्दर्य तथा मंगल के सामंजस्य में मंगल को सौन्दर्य के धरातल पर आँकने का उनमें प्रयास था, जिसकी परिणति आनन्द में होती थी । शिव के प्रति प्रसाद की दृष्टि नीतिवादी न होकर आनंदवादी एवं सौन्दर्यवादी है । उनके मतानुसार जब तक आनन्द रहेगा, तब तक सृष्टि अर्थात् सौन्दर्य बना रहेगा । वे सुंदर को सर्वोपरि मानते थे तथा कहते थे कि अनैतिक भी कहीं सुंदर हुआ है । इससे ज्ञात होता है कि वे नैतिक सौन्दर्य के ही पक्ष में थे ।

प्रसाद[1] जी संस्कृति को भी सौन्दर्यबोध के विकसित होने की मौलिक चेष्टा मानते थे । संस्कृतियों के अध्ययन में मूल्य दृष्टियों की उपेक्षा करके बहुत दूर तक नहीं चला जा सकता । संस्कृति सामाजिक, नैतिक और धार्मिक मूल्यों के साथ दार्शनिक, साधनापरक, साहित्यिक तथा कलात्मक मूल्यों को विकसित करने में समर्थ होती है । प्रसाद जी अपनी संस्कृति से पूरी तरह परिचित थे । उन्होंने सांस्कृतिक राष्ट्रीयता को महत्त्व दिया एवं पात्रों की संस्कृति के अनुसार भी उनके भावों एवं विचारों में तारतम्य होना भाषाओं के परिवर्तन से अधिक उपयुक्त माना ।

प्रसाद ने आनन्दात्मक एवं सौन्दर्यवादी मूल्यों के अतिरिक्त साहित्य में सृजनात्मक मूल्यों की उत्पादक अनुभूति एवं अभिव्यक्ति पर भी विचार व्यक्त किये -- 'काव्य में जो आत्मा की मौलिक अनुभूति की प्रेरणा है, वही सौन्दर्यवादी एवं[2] संकल्पात्मक होने के कारण अपनी श्रेयस्थिति में रमणीय आकार में प्रकट होती है ।' क्योंकि मनुष्य अपने अर्जित अनुभवों द्वारा ही कल्पना एवं प्रतिमा के माध्यम से सृजनात्मक मूल्यों का निर्माण करता है । वह अपने मन में उत्पन्न हुई अनुभूति के आधार पर ही कोई भी कार्य करने के लिए उत्सुक होता है, अत: अनुभव का सम्प्रेषण ही रचना होती है । प्रसाद कहते हैं -- 'व्यंजना

---

१ काव्य और कला तथा अन्य निबंध, पृ०सं० २८ ।

२ वही, पृ०सं० ४४ ।

वस्तुत: अनुभूतिमयी प्रतिमा का स्वयं परिणाम है ।'[1]

तथा

'आत्मा की अनुभूति व्यक्ति और उसके चरित्र वैचित्र्य को लेकर ही अपनी सृष्टि करती है ।'[2]

प्रसाद अनुभूति और अभिव्यक्ति को काव्य के बहिरंग एवं अंतरंग पक्ष मानते हैं जिनका सम्बन्ध अपरिहार्य है । उन्होंने अनुभूति के साथ प्रतिभा को भी लिया -- 'साहित्य स्वतंत्र प्रकृति सर्वतोगामी प्रतिमा के प्रकाशन का परिणाम है ।'[3]

इससे सिद्ध होता है कि प्रसाद प्रतिभा के प्रकाशन का परिणाम ही साहित्य को मानते हैं । प्रतिभा के अतिरिक्त प्रसाद में कल्पना चित्रों का प्राचुर्य है । संपूर्ण छायावादी काव्य ही कल्पना प्रधान है,अत: प्रसाद ने अनुभूति,अभिव्यक्ति, कल्पना एवं प्रतिभा के माध्यम से साहित्य में सृजनात्मक मूल्यों की प्रतिष्ठा की ।

एक उदार जनसत्तात्मक भावना और परम्परागत आभिजात्य का विरोध प्रसाद जी के कल्पनाशील,नवोन्मेषशाली साहित्य की आधारभूमि है । 'यथार्थवाद और छायावाद' नामक निबंध के अन्तर्गत प्रसाद यथार्थवाद की विशेषताओं में प्रधान मानते हैं -- लघुता की ओर साहित्यिक दृष्टिपात । उनकी दृष्टि में वेदना से प्रेरित होकर ही यथार्थवादी साहित्य जनसाधारण के अभाव और उनकी वास्तविक स्थिति तक पहुँचाने का प्रयत्न करता है ।'[4] प्रसाद जी की दृष्टि में भी दुखमय जगत और आनंदपूर्ण स्वर्ग का एकीकरण ही साहित्य है । अपने इन विचारों द्वारा प्रसाद जनसाधारण के प्रति कोमल

---

१ काव्य और कला तथा अन्य निबंध,पृ०सं० ४३ ।

२ वही, पृ०सं० ८४ ।

३ इन्दु कला १,किरण१ ।

४ काव्य और कला तथा अन्य निबंध,निबंध यथार्थवाद और छायावाद ।

भावना व्यक्त करते हैं । वे साहित्य में विश्वमंगल की भावना भी पाते हैं[१] । इस प्रकार प्रसाद ने जनकल्याण की भावना द्वारा लोकमांगलिक मूल्यों को भी साहित्य में प्रश्रय दिया है ।

भारतीय संस्कृति और दर्शन के गूढ़ तत्त्वों की मार्मिक व्याख्या, अमूर्त भावनाओं को मूर्तिमत्ता प्रदान करने की क्षमता, प्रत्यक्ष और गोचर से परे रहस्यमयी सौन्दर्यसत्ता का निरूपण तथा भौतिक उपादानों को आध्यात्मिक महिमा से मंडित करने की अद्भुत कला प्रसाद में थी । वे अपने युग की श्रेष्ठ सर्जनात्मक प्रतिभा हैं ।

सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला'

'निराला' की सम्पूर्ण रचना प्रक्रिया का स्रोत है-- उनका भावबोध । यह भावबोध उनकी विचारधारा से समृद्ध है । उन्होंने साहित्य की बहुत व्यापक सीमा मानी है-- यथार्थ साहित्य नेताओं के दिमाग के नपे-तुले विचारों की तरह, आय व्यय की संख्या की तरह प्रकोष्ठों में बंद होकर नहीं निकलता । वह किसी उद्देश्य की पुष्टि के लिए नहीं आता, वह स्वयं सृष्टि है[२] । इसीलिए उसका फैलाव इतना है कि जो किसी सीमा में नहीं आता । साहित्य के साथ निराला ने आस्तिक और नास्तिक तथा सत् असत् के प्रश्नों को भी जोड़ा है । वे जहाँ सौन्दर्य के कवि हैं, वहीं दुख सुख के भी इसीलिए सत्साहित्य में भी आस्तिक नास्तिक, सत् असत् के मिश्रित रूप को स्वीकार करते हैं-- कलाकार के लिए नास्तिक और आस्तिक वाला सवाल नहीं .... जो कलाकार है, वह आस्तिकता और भक्ति की कलाएँ जानता है । वह नास्तिकता की भी कलाएँ सींचता है । इसी प्रकार जहाँ कला है वहाँ सत् और असत् से मिश्रित जीवन की समग्रता है । वास्तविक सत्साहित्य वही है जिसमें

---

१ काव्य और कला तथा अन्य निबंध, पृ०सं० १२१ ।

२ निराला : प्रबन्ध पद्म, पृ०सं० १०

असत् भी हो-- सत्साहित्य की सृष्टि के लिए जीवन की सभी दिशाएँ आवश्यक हैं, क्योंकि कोई गिर जाता है, तो उसके गिरने के कारण हैं, वे साहित्य के लिए उतने ही ज़रूरी हैं, जितने उठने वाले कारण[1]। यहाँ तो निराला ने सत-असद् में भेद किया है, किन्तु एक समय वे ऐसी तर्कभूमि में पहुँच जाते हैं जहाँ सत् असत् भिन्न होते हुए भी अभिन्न हो जाते हैं। यहाँ निराला ने जिस प्रकार सत् असत् और नास्तिक आस्तिक के प्रश्नों को साहित्य चिन्तन के क्षेत्र में उठाया है, उसी प्रकार वे साहित्य द्वारा कल्याण होना भी आवश्यक मानते हैं, क्योंकि कल्याणमयी रचना द्वारा ही समाज को लाभ होगा। वेदांत के ब्रह्म की सत्ता को मानते हुए भी उन्होंने साहित्य को संसार से सम्बद्ध किया और ब्रह्म की शुद्ध भूमि से परे माना है, क्योंकि उनका विचार है कि ब्रह्म की शुद्ध भूमि पर रहकर साहित्य-रचना संभव है ही नहीं। निराला ने साहित्य में यथार्थ जीवन और यथार्थ मनुष्य के चित्रण को भी आवश्यक माना तथा मनुष्य की मुक्ति की कामना की। वे छायावादी प्रणाली के अनुसार मुक्त काव्य और मुक्त छंद की आवश्यकता का समर्थन प्रबल शब्दों में करते हैं। मनुष्यों के कर्म बंधन मोक्ष की[2] भाँति कविता की भी मुक्ति मानी है जो छंदों के शासन से अलग होने पर होती है। निराला के विचार से मुक्त काव्य किसी भी काल के लिए अनर्थकारी नहीं हो सकता, उसके द्वारा तो समाज में कल्याणमयी स्वाधीन भावना का संचार होता है। इस प्रकार निराला ने जहाँ कल्याण करने वाले, मंगल करने वाले, साहित्य को श्रेष्ठ माना है, वहाँ उन्होंने अपने साहित्य-चिन्तन में धार्मिक मूल्यों की भी विवेचना की है, परन्तु निराला धर्म के रूढ़ि रूप को स्वीकार नहीं करते, क्योंकि रूढ़ियां तो उनके विचार में एक-एक समय की बनाई हुई सामाजिक शृंखला है वे कभी धर्म नहीं होती, धर्म तो वह है जिससे अर्थ, काम, मोक्ष तीनों मिल सकें। वे चाहते थे कि जिस समय जैसे हालात देश के हों उनमें देश को

---

१ सुधा नवम्बर ३२, संपा०टि०१

२ निराला : परिमल की भूमिका, पृ०सं० १४

३ निराला : प्रबन्ध प्रतिमा, पृ०सं० ६२।

सुधारने के लिए रूढ़ धर्म के बन्धनों से निकलकर ऐसे धर्म को अपनाना चाहिए, जिससे देश उन्नति कर सके,स्वतन्त्र हो सके । साहित्य में निराला ने धर्म के इसी रूप को महत्त्व दिया है ।

निराला की मूल्य दृष्टि मानवतावादी भी है । उनके साहित्य में मनुष्य के अनेकों रूप दिखाई देते हैं-- वह वीर, योद्धा, कवि,क्रांतिकारी तथा निरंतर संघर्षशील एवं पीड़ित मानव भी हैं । निराला द्वारा चित्रित मानव सौन्दर्य चाहता है, साहित्य का आनन्द चाहता है । श्रमिक जनता और साहित्य के सम्बन्ध पर विचार करते हुए उन्होंने लिखा है-- मजदूर और साधारण लोगों का पक्ष क्यों लिया जाये, जब हम यह विचार करेंगे, तब इसी से उच्चता साबित हो जायेगी । मजदूरों का पक्ष इसीलिए तो लिया जायेगा कि मजदूरों के साथ न्याय हो, उन्हें पेट भर खाने को मिले, कष्ट के दिनों के लिए कुछ परखने को भी बच जाये .... यहाँ इतने से ही देखिये कला बढ़ती जा रही है-- विकसित होती जा रही है और बड़ी से बड़ी विशालता में परिणत ।फिर यदि आज का कोई कवि या साहित्यिक प्रकृति की किसी साधारण वस्तु या विषय को इसी प्रकार परिपुष्ट करता हुआ कला का विकास दिखलाए,तो[1] क्या आप ऐसा क कह सकते हैं कि इस कार्य से आपके उस कार्य का साम्य न हुआ ।निराला ने दिखाया है कि कैसे मजदूर वग वर्ग का वर्णन करने से कला विकसित होती जाती है- अर्थात् मनुष्य के प्रत्येक वर्ग के साथ न्याय करते हुए ही साहित्यिक रचना होनी चाहिए ।

निराला समन्वयकारी दृष्टिकोण रखते थे ।उनका यह दृष्टिकोण प्राय: उनकी अधिकांश रचनाओं में देखने को मिलता[2] है । वे रस,ध्वनि, अलंकार आदि के सामंजस्य में ही कला की पूर्णता देखते हैं ।

---

१ सुधा,१६ जून ३४ संपा०टि०--१

२ निराला : प्रबन्ध प्रतिमा,पृष्ठसं० २६० ।

सौन्दर्यबोध और साहित्य के क्रांतिकारी उद्देश्य में निराला उपयोगितावादी नैतिक उपदेश प्रेमी साहित्यकारों से दूर है । उनके चिन्तन में सौंदर्य मूल्यों को विशेष महत्त्व प्राप्त हुआ है । वे जहाँ काव्य को सौन्दर्य की सृष्टि मानते हैं,वहीं उनकी प्रयोगात्मक आलोचनाएँ यह स्पष्ट करती है कि उनके मूल्यांकन का एकमात्र मानदंड भी सौन्दर्य ही है । काव्यकला को उन्होंने सौन्दर्य की पूर्ण सीमा माना है तथा तत्त्वों की समष्टि, समन्वय और काव्य का सौन्दर्य ही उन्हें मान्य है-- कला केवल वर्ण,शब्द,छंद,अनुप्रास,रस,अलंकार या ध्वनि की सुंदरता नहीं,किन्तु इन सभी से समृद्ध सौन्दर्य की पूर्ण सीमा है[1] । वे कविता में कला सौष्ठव देखना चाहते थे । उन्होंने अपना 'जुही की कली' कविता की आलोचना स्वयं की है और उनमें रस,अलंकार आदि तत्त्वों का निर्देश करके सौन्दर्य पर केवल स्थूल दृष्टि ही नहीं डाली है,अपितु उसकी सूक्ष्मता का भी विश्लेषण किया है[2] । निराला का विचार है कि कविता में स्थूल उपदेश की प्रवृत्ति की आवश्यकता नहीं, सौन्दर्य स्वयं ही उपदेश का रूप धारण कर लेता है ।

निराला ने कला, साहित्य अथवा काव्य में प्रतिभा का होना आवश्यक माना है,क्योंकि उनके विचार से कला केवल भावोच्छ्वास में नहीं होती और न ही सुंदर शब्द चयन या गूढ़ गहन दार्शनिक विचारों का अम्बार लगा देने से अपितु कला तो रचना में है जिसमें ये सब है । मौलिकता भी रचना कौशल में ही देखी जाती है, भावोद्गार में नहीं,क्योंकि कोई भाव या विचार मौलिक नहीं होता, रचना शब्द में ही बनाना अर्थात् नवीनता लगी हुई है[3] । परन्तु इस रचनाकौशल को निराला ने श्रेष्ठ प्रतिभा की उपज माना है,परन्तु प्रतिभा को उन्होंने केवल पांडित्य मात्र नहीं माना,हाँ अगर पांडित्य प्रतिभा से मिल जाये तो बहुत उत्तम कहा है-- सहसा प्रतिभा में यदि पांडित्य मिल जाये तो सोने में सुगंध

---

१ निराला : प्रबन्ध प्रतिमा,पृ०सं० २७५ ।

२ वही,पृ०सं० २६० ।

३ सुधा,नवम्बर ३४,सम्पा०टि०-१५ ।

का काम देता है । उसकी कृतियाँ बहुत ठोस होने लगती हैं।[1] निराला ने रचना और प्रतिभा का विवेचन करके साहित्य-चिन्तन के क्षेत्र में सृजनात्मक मूल्यों को ही विशिष्टता प्रदान की है ।

सुमित्रानन्दन पन्त

पन्त जी की मूल्यों की खोज विस्तृत है । उन्होंने संपूर्ण छायावादी काव्य को व्यक्तिनिष्ट न कहकर मूल्यनिष्ठ ही कहा है,जिसमें व्यक्ति मूल्य का प्रतिनिधि रहा है और जैसे-जैसे मूल्य के प्रति दृष्टिकोण का विकास होता रहा है, वैसे ही वैसे उन्होंने उसके व्यक्ति तत्त्व को विकसित होकर युग के सम्मुख अधिक व्यापक जीवन दृष्टि उपस्थित करने की चेष्टा करते हुए पाया है । पंत जी की दृष्टि समन्वयशील है,इसी कारण उन्हें हर विचारधारा में मानव-कल्याण का कोई न कोई तत्त्व मिल जाता है । उन्होंने अपनी समन्वयशील प्रवृत्ति का परिचय मार्क्सवाद और भारतीय आदर्शवादी जीवनदृष्टि के सामंजस्य के माध्यम से दिया है । वे कहते हैं -- संक्षेप में मैंने मार्क्सवाद के लोकसंगठन रूपी व्यापक आदर्शवाद और भारतीय दर्शन के चेतनात्मक ऊर्ध्व आदर्शवाद का समन्वय करने का प्रयत्न किया है । + + + पदार्थ (मैटर) और चेतना (स्पिरिट) को मैंने दो किनारों की तरह माना है, जिनके भीतर जीवन का लोकोत्तर सत्य प्रवाहित एवं विकसित होता है ।+ भविष्य में जब मानव जीवन विद्युत और अणुशक्ति की सबल टाँगों पर प्रलय वेग से दौड़ने लगेगा तब आज के मनुष्य की तर्कों और वादों में बिखरी हुई चेतना उनका संचालन करने में किसी तरह भी समर्थ नहीं हो सकेगी । इसलिए सामाजिक जीवन के साथ ही मनुष्य की अन्तश्चेतना में भी युगान्तर का होना अवश्यम्भावी है ।[2] अपनी समन्वयशील प्रवृत्ति के कारण ही पंत जी आदर्श और यथार्थ,अंत: और बाह्य,समतल

---

१ सुधा,नव०३४,संपा०टि०-१५

२ प्रतीक ३,शरद् ,पृ०सं० १०० ।

और ऊर्ध्व, भौतिकता और आध्यात्मिकता, वैयक्तिकता और सामाजिकता तथा पूर्व और पश्चिम सभी को परस्पर एक दूसरे का पूरक मानते हैं । इन सभी के समन्वय से ही उन्होंने एक नवीन मानवतावाद का स्वप्न देखा है, जो विश्व के कल्याण के लिए आवश्यक है ।

गुंजन काल में पंत जी मानव जीवन के सुख दुख एवं जन-कल्याण की भावनाओं का चित्रण करने की ओर विशेष उन्मुख हुए थे, परन्तु काव्य के साथ ही उनकी समालोचनाओं में भी यह समन्वयवादी दृष्टिकोण परिलक्षित होता है । वे आध्यात्मिक तथा भौतिक अतिरंजनाओं का विरोध कर दोनों को एक ही सत्य के दो पहलुओं के रूप में ग्रहण करते हैं, जिनके कारण लोक कल्याण के लिए महत्तर सांस्कृतिक समन्वय में वे एक दूसरे के पूरक से बनकर संयोजित किए जा सकते हैं ।

अपनी अनेक रचनाओं में पंत जी ने धार्मिक, दार्शनिक इत्यादि विचारों के आवर्तों में से जीवनोपयोगी सिद्धान्तों को उभारा है :-

'मैंने अपना जीवन-दर्शन युग की आवश्यकताओं एवं मानवता के विकास की संभावनाओं को सम्मुख रखकर अनेक महान ग्रन्थों तथा महान पुरुषों से प्रेरणा ग्रहण कर, उनके उपयोगी तत्त्वों को आत्मसात् कर लोक कल्याण एवं भूमंगल की भावना के उद्देश्य से, अपने काव्यपट में गुम्फित करने का साहस किया है ।'[1]

लोककल्याण के लिए जीवन की बाह्य एवं अभ्यांतरिक दोनों ही गतियों का संगठन करना आवश्यक है । क्योंकि ऐसा करने से ही विकसित लोकजीवन का निर्माण किया जा सकता है । पंत जी भी इसके समर्थक हैं--

'लोककल्याण के लिए जीवन की बाह्य (सम्प्रति राजनीतिक आर्थिक) और अभ्यांतरिक (सांस्कृतिक, आध्यात्मिक) दोनों ही गतियों का संगठन

---

१ सुमित्रानंदन पंत : शिल्प और दर्शन, पृ०सं०१२४ ।

करना आवश्यक है । मात्रा और गुण दोनों में संतुलन होना चाहिए । जहाँ एक ओर असंख्य भूखे नंगों का उद्धार करना जरूरी है, वहाँ पिछली संस्कृतियों के विरोधों एवं रीति नीतियों की शृंखलाओं से मुक्त होकर मानव चेतना को, युग-उपकरणों अनुरूप, विकसित लोक जीवन-निर्माण करने में संलग्न होना है ।[1]

पंत जी ने नैतिकता तथा आध्यात्मिकता को एक ही सत्य के दो पहलुओं के रूप में ग्रहण कर उन्हें लोक कल्याण के लिए महत्तर सांस्कृतिक समन्वय में एक दूसरे के पूरक की तरह संयोजित करना चाहा है ।

लोकमंगल में तो उनका इस हद तक विश्वास है कि वे कहते हैं लोकमंगल का पथ ग्रहण करके साहित्य इस युग के नरक को स्वर्ग में परिवर्तित कर सकता है[2] ।

सांस्कृतिक चेतना के अन्तर्गत भी पंत जी आध्यात्मिक चेतना या चेतना के ऊर्ध्व संचरण को ही लोकमांगलिक सांस्कृतिक चेतना मानते हैं और इसी को अपनी कृतियों के माध्यम से मर्मरित करने की चेष्टा करते रहे हैं । संस्कृति के सम्बन्ध में आपके विचार क्रमश: आध्यात्मिक होते गए हैं । संस्कृति की व्याख्या करते हुए आप लिखते हैं --' संस्कृति को मैं मानवीय पदार्थ मानता हूँ जिसमें हमारे जीवन के सूक्ष्म स्थूल दोनों धरातलों के सत्यों का समावेश तथा हमारे ऊर्ध्व चेतना शिखर का प्रकाश और समदिक् जीवन की मानसिक उपत्यकाओं की छायायें गुम्फित हैं । उसके भीतर अध्यात्म, धर्म, नीति से लेकर सामाजिक रूढ़ि, रीति और व्यवहारों का सौन्दर्य भी एक अंतर सामंजस्य ग्रहण कर लेता है । वह न धर्म तथा अध्यात्म की तरह ऊर्ध्व संचरण है, न राजनीति की तरह समतल, वह इन दोनों का मध्यवर्ती पथ है, जिसमें दोनों के पोषक तथा प्राणप्रद[3] तत्वों के बहिरन्तर का वैभव मानवीय व्यक्तित्व की गरिमा धारण कर लेता है ।'

---

१ सुमित्रानंदन पंत : शिल्प और दर्शन, पृ०सं० ६४ ।

२ वही, पृ०सं० १०७ ।

३ वही : उत्तरा की भूमिका ।

इस प्रकार पंत जी ने ऐतिहासिक भौतिकवाद और भारतीय अध्यात्म दर्शन दोनों का लोकोत्तर कल्याणकारी सांस्कृतिक पक्ष ही ग्रहण किया है। वे यह भी मानते हैं कि क्षुधा, काम आदि मनुष्य के मौलिक संस्कार कोई सांस्कृतिक मूल्य नहीं रखते, अपितु उनका जो व्यावहारिक, सामाजिक और नैतिक मूल्य निर्दिष्ट हो जाता है उसी का प्रभाव मनुष्य के सत्य, शिव और सुंदर की भावनाओं पर भी पड़ता है। मनुष्य के दैहिक प्रवृत्तियों और सामाजिक परिस्थितियों के बीच में जितना विशद् सामंजस्य स्थापित किया जा सकेगा, उसी के अनुरूप जन समाज की सांस्कृतिक चेतना का भी विकास हो सकेगा[1]।

सांस्कृतिक मूल्यों के अतिरिक्त पंत जी ने अपने साहित्य में मानव मूल्यों पर भी विचार व्यक्त किए हैं। उन्होंने तो अपने काव्य को ही भूजीवन लोकमंगल और मानवमूल्यों का काव्य कहा है।

पंत जी ने भौतिक आध्यात्मिक दोनों दर्शनों से जीवनोपयोगी तत्त्वों को लेकर जड़ चेतन सम्बन्धी एकांगी दृष्टिकोण का परित्याग कर व्यापक सक्रिय सामंजस्य के धरातल पर नवीन लोकजीवन के रूप में, भरे पुरे मनुष्यत्व अथवा मानवता का निर्माण करने का प्रयत्न किया है, जो इस युग की सर्वोपरि आवश्यक समस्या है। वे कहते हैं कि काव्य के रूपविधान में एक विशिष्ट सीमा तक संतुलन प्राप्त कर लेने के बाद मेरे सम्मुख सदैव से ही मानवीय मूल्यों का प्रश्न प्रमुख होकर आता रहा है[2]।

वे यह भी मानते हैं कि जो युग प्रबुद्ध कलाकार लोकमंगल तथा नवीन मनुष्यत्व की गंभीर प्रेरणा से अनुप्राणित है और नए मानव मूल्य को जीवन मूर्त करने के लिए अजस्र संघर्षरत है, उन्हीं की रचनाप्रक्रिया[3] अतीत के ऊहापोहों को अतिक्रम कर भविष्य के लिए अपना अक्षय मूल्य रखती है। वे धीरे-धीरे

---

१ पन्त : शिल्प और दर्शन, पृ०सं० ५१-५२।

२ वही, पृ०सं० २५२।

३ पंत : कला और संस्कृति, पृ०सं० १२६।

अपनी सहज बुद्धि, अपने जीवन संघर्ष तथा व्यापक गंभीर अनुभूति से अपने युग की सीमाओं का अतिक्रमण करते हुए, लोकोपयोगी एवं जीवनोपयोगी मानव मूल्यों की विकास सरणि का अनुगमन करते हैं और अतीत तथा वर्तमान से पाथेय संचय करते हुए सर्वकल्याणकारी मानव भविष्य के निर्माण में अपना हाथ बँटाते हैं। इसीलिए काव्य के सत्य में सार्वभौम तत्त्व पाए जाते हैं और वह लोकोत्तरानंद प्रदान करता है।

पंत जी मानव मूल्यों की चेतना से अपनी चेतना का तादात्म्य करके उसे अपने मन तथा प्राणों के जीवन में मूर्तिमान करना साहित्य-स्रष्टा का सर्वप्रथम कर्तव्य मानते हैं एवं इसमें भी उनका दृढ़ विश्वास है कि मानवता के सर्वांगीण विकास एवं निर्माण के लिए हमें भीतर और बाहर दोनों का रूपांतर करना होगा। पंत जी कहते हैं कि -- मानव मूल्यों का अन्वेषक चाहे वह स्रष्टा हो या द्रष्टा-- उसे महत्तर आनंद, प्रेम, सौन्दर्य तथा श्रेय के सूक्ष्म संवेदनों की जाह्नवी के अवतरण के लिए भगीरथ प्रयत्न करना है। उसे वैभिन्न्य की बहिर्गत विषमता तथा कटुता को अन्तरतम ऐक्य की एकनिष्ठ साधना के बल पर जीवन वैचित्र्य की समता तथा संगति में परिणत करना है, जिसके लिए आत्मसंस्कार सर्वोपरि आवश्यक है। मानव मूल्य के मूल बाहर-भीतर दोनों ओर फैले हुए हैं। व्यक्ति और समाज उसके दो पक्ष हैं, जिनमें सामंजस्य स्थापित करने की स्थिति और प्रगति सम्भव हो सकती है। हम बाहर के संबंध में ही भीतर को और भीतर के संबंध में ही बाहर को समझ सकते हैं। मानवता के सर्वांगीण विकास एवं निर्माण के लिए हमें भीतर और बाहर दोनों का रूपांतर करना होगा। उनका कहना है कि साहित्यकार को ह्रासोन्मुखी रूढ़ि रीतियों से युद्ध करके उनके स्थान पर श्रेयस्कर नवीन मूल्यों एवं मर्यादाओं को लोक-मन में प्रतिष्ठित कर, उन्हें युग जीवन का सक्रिय अंग बनाना चाहिए। इस विराट देश की जनता को मानसिक संकीर्णता, साम्प्रदायिकता, प्रादेशिकता के अस्वास्थ्यकर अंधकार से बाहर लाकर उसे नवीन व्यापक जीवन-दृष्टि प्रदान करती है।

पंत जी के साहित्यिक मूल्यों का सर्वप्रथम अभिव्यक्ति ज्योत्स्ना नामक भावनारूपक में मिलती है, जिसमें इस युग की वास्तविकता को अतिक्रम कर उनकी जीवन दृष्टि एक अधिक व्यापक तथा पूर्ण क्षितिज में मानवता के नवीन जीवन की अवतारणा करने का प्रयत्न करती है । आज का युग केवल राष्ट्रीय मूल्य ही नहीं वैश्व मूल्यों को लेकर इतिहास में उदित हुआ है । भारत का दृष्टिकोण सदैव आध्यात्मिक रहा है और आध्यात्मिकता भौतिकता के व्यापक से व्यापक एवं कट्टर से कट्टर मूल्यों को आत्मसात् किए हुए है ।

इन साहित्यिक राष्ट्रीय एवं वैश्व मूल्यों के अतिरिक्त पंत जी ने भू-जीवन मूल्यों पर भी प्रकाश डाला है । मूल्य की दृष्टि से भारतीय सत्यं शिवं सुंदरम् के आदर्श में रचना प्रक्रिया के तीनों आयाम समन्वित मिलते हैं। पंत कहते हैं -- जिस सौन्दर्य की आधार भूमि सत्य हो,अर्थात् जो सौन्दर्य जीवन की वास्तविकता में प्रतिष्ठित हो और जिसका गुण शिव अथवा लोकमंगल हो, निश्चयमेव वही सौन्दर्य या कला मूल्य सफल लेखन की कसौटी है । इसी कसौटी में कसी जाकर लेखन प्रक्रिया भी प्रौढ़ता प्राप्त कर लोक व्यापी संप्रेषणीयता से मुक्त होकर निखर उठती है । हमारा युग वैश्व निर्माण का युग है ,इसमें प्रत्येक बुद्धिजीवी तथा कला जीवी को, चाहे वह कितना ही प्रतिभा संपन्न हो, मूल्यबोध के लिए निरन्तर संघर्ष करना पड़ता है । जागरण युग के लेखक या चारण की तरह उसे पके-पकाये मूल्य सुलभ नहीं हो सकते,जिन्हें वह नवीन रूप से स्थापित करे । इसके विपरीत उसे विगत विघटित होती हुई वास्तविकता में अंधकार को तोड़ कर नए प्रकाश का रश्मि स्पर्श प्राप्त करना होता है और उसे नवीन वास्तविकता के रूप में संयोजित कर जीवनमूर्त करना होता है । वही रचनाकार जीवित रह सकता है जो युग संघर्ष के भीतर से निरंतर नए भू जीवन मूल्य को उपलब्ध कर उसे अपनी कृतियों में वाणी दे सके ।

---

१ पंत : शिल्प और दर्शन,पृ०सं० २७० ।

२ पंत : कला और संस्कृति ।

अब हम उनके राग मुल्यों के विषय में चर्चा करेंगे । पंत जी ने राग मुल्य को देह की संकीर्णता से ऊपर उठाकर व्यापक सामाजिक भूमि पर प्रतिष्ठित करने का प्रयत्न किया है, जिससे उसका बहि: संस्कार हो सके । उनका कहना है कि सभी छायावादी कवियों ने अपने -अपने ढंग से रागमूल्य के उन्नीत सौंदर्य को अपनी काव्यवस्तु में अभिव्यक्ति दी है । उन्होंने नारी को उसका प्रतीक बनाकर, उसे मध्ययुगीन देह बोध तथा राग द्वेष की संकीर्ण,कामांध नैतिक कारा से मुक्त कर नवीन राग चेतना की सौंदर्य शिखा के रूप में अपने मुक्त, उन्नत,भाव स्वप्नों से उसकी नवीन मुर्ति निर्मित कर व्यक्ति मोह के धरातल से उठाकर , विस्तृत सामाजिक धरातल पर लोक जीवन मंगल कर्म में संलग्न मानवी के रूप में प्रतिष्ठित किया है । वे कहते हैं --" नयी रागात्मकता के अन्तर्गत देह मूल्य को स्त्री-पुरुष सम्बन्धी नवीन सामाजिक भावमूल्य में विकसित होना है, जिससे नारी केवल देह बोध की इकाई न रहकर विकसित सौंदर्यबोध की इकाई [1] बन सके ।

उन्होंने स्वीकारा है कि मेरी रचनाओं में भौतिक आध्यात्मिक मान्यताओं के अतिरिक्त रागात्मक मूल्यों का भी एक विशिष्ट तथा महत्वपूर्ण स्तर है ।

उदर क्षुधा के समाधान का प्रश्न यदि आज की राजनीति एवं अर्थनीति का प्रश्न है,तो युग्म भावना एवं रागात्मकता का प्रश्न कला की संस्कृति का प्रश्न है । क्षुधा,काम, तब देह और व्यक्ति के मूल्य न रहकर, सामाजिकता तथा संस्कृति के मूल्यों, आत्मा तथा लोकमंगल के मूल्यों में बदल जायेंगे । इन्द्रिय विषयक मूल्य मनुष्य की पिछली बहिरन्तर की सीमाओं से निर्धारित हैं । नैतिक मूल्यों तथा लोकाचार को बदलने से पहले हमें अपनी चेतना तथा मानस के अंचल को, जिसमें पिछले मूल्यों की छाप है, व्यापक, परिष्कृत राग भावना में डुबोकर प्रक्षालित कर लेना होगा ।आध्यात्मिक, लौकिक मूल्यों

---

1 पंत : छायावाद : पुनर्मूल्यांकन ।

को परस्पर विरोधी पृथक् मूल्यों में विच्छिन्न करने का यही कारण है कि मानव राग भावना का अभी विकास या परिष्कार नहीं हो सका है। पंत जी कहते हैं कि --'रागात्मिका वृत्ति के परिष्कार को मैंने नवमानवता के निर्माण के लिए अनिवार्य मूल्य माना है।'[1]

धार्मिक मूल्यों की चर्चा पंत जी ने बहुत ही कम की है। धर्म अपने रूढ़िवादी अर्थ में पंत के लिए नगण्य है। वे मानवतावाद के धर्म को ही धर्म मानते हैं, जिसमें विश्वएकता तथा मानव कल्याण की भावना हो। रूढ़िग्रस्त धर्म के लिए तो वे यहाँ तक कहते हैं कि वह जितनी जल्दी समाप्त हो जाये उतना ही अच्छा है और इसी में मनुष्य का कल्याण है।

'वाणी' में पंत जी ने भौतिक आध्यात्मिक मूल्यों के समन्वय पर बलदिया है और प्रबुद्ध मनुष्य आज जिस नयी चेतना के संवेदनों का अनुभव कर रहा है उसके विकास के लिए क्षेत्र प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया है। शांति जोशी जी कहती हैं कि जहाँ ऊर्ध्व और समतल मूल्य,आध्यात्मिक एवं सामाजिक मूल्य का संघर्ष उनके भीतर उपस्थित होता था, उनका निर्णय सदैव समतल तथा सामाजिक मूल्य के पक्ष में होता था, यह नहीं कि वहउन दोनों में कोई अन्त: संगति भी देख पाते। मूल्य का ऊर्ध्व पक्ष उनकी दृष्टि से ओझल नहीं होता था, वह कहीं उनके मस्तिष्क के पीछे रहता था और यह उनके लिए ठीक भी था, क्योंकि वह मुख्यत: सामूहिक यथार्थ से अनुप्राणित थे और बहुत सम्भव है कि विकसित शिखर मूल्य की प्रतिष्ठा के लिए पहिले सामाजिक आधार को लोक क्रांति द्वारा परिवर्तित होना पड़े।[2]

पंत जी का काव्यादर्श नवीनता का सतत् अन्वेषी होते हुए भी रसवाद का विरोधी नहीं है। उनके कल्पना-वैभव से रस की भूमि व्यापक

---

१ पंत : शिल्प और दर्शन,पृ०सं०१२६।

२ शांति जोशी : सुमित्रानंदन पंत जीवन और साहित्य।

हुई है । पंत जी सुंदर के उपासक हैं । आपकी मान्यता है कि सुंदर सत्य के माध्यम से शिवत्व में परिणत हो जाता है । आधुनिक कवि की भूमिका में आपने लिखा है--

'सत्य शिव में स्वयं निहित है, जिस प्रकार फूल में रूप रंग है, फल में जीवनोपयोगी रस और फूल की परिणति फल में सत्य के नियमों द्वारा होती है, उसी प्रकार सुन्दरम् की परिणति शिवं में सत्य द्वारा ही होती है ।'[1] सुंदर के उपासक और अन्वेषी होने के कारण पंत जी ने काव्य के समस्त उपकरणों में सौन्दर्य की प्रतिष्ठा की है ।

कला को पंत जी ने जीवन का विरोधी नहीं माना है । कला सौन्दर्य का विधान करती है । सौंदर्य जीवन का विरोधी कैसे हो सकता है ? कला स्वांत: सुखाय भी होती है बहुजनहिताय भी । दोनों एक-दूसरे के पूरक हैं । कला के प्रयोजन के सम्बन्ध में पंत जी ने विचार करते हुए लिखा है--' इस गरिमामय विराट व्यक्तित्व के शिखर पर खड़े तब हम देख सकेंगे कि व्यक्ति और समाज, श्रेय और प्रेय, अंतर और बाह्य, स्वान्त: और बहुजन, कला और जीवन एक दूसरे के विरोधी नहीं, बल्कि एक दूसरे के पूरक हैं ।[2]

पंत जी संस्कृति और सौंदर्यबोध को हमारे अन्तर्मन के संगठन मानते हैं । इस सम्बन्ध में अपने कला तथा संस्कृति नामक निबन्ध में वे कहते हैं--'हम कला का मूल्यांकन सत्य, शिव, सुंदर के मानों से करते हैं । सत्य, शिव, सुंदर से तत्वत: हमारा वही अभिप्राय है जो आज के वस्तुवादी का क्षुधा काम से अथवा अर्थवादी का परिस्थिति, सुविधा, वितरण आदि से है, क्योंकि हम सत्य, शिव, सुंदर को क्षुधा काम(जीवन-आकांक्षाओं) ही के भीतर खोजते हैं, जिनसे हम बाह्य परिस्थितियों के जगत से सम्बद्ध हैं और इस दृष्टि से क्षुधा काम हमारी भीतरी स्थूल परिस्थितियाँ हुईं । सत्य, शिव, सुंदर के रूप में हम अपनी इन्हीं बहिरन्तर की परिस्थितियों में सन्तुलन स्थापित करते हैं । जिस सत्य को हम स्थूल धरातल पर क्षुधा काम कहते हैं, उसी को सूक्ष्म धरातल पर सत्य, शिव, सुंदर । एक हमारी सत्ता

---

१ पंत : आधुनिक कवि(भाग२), पृष्ठ० ६ ।

२ पंत : गद्य पथ, पृष्ठ० १४५ ।

की बाहरी भूख प्यास है, दूसरी भीतरी । यदि संस्कृति और कला हमारी आवश्यकताओं के सत्य से बिलकुल ही भिन्न तथा विच्छिन्न होती तो उनकी हमारे लिए[1] उपयोगिता ही क्या होती ? वे केवल स्वप्न या अति कल्पनामात्र होती ।

इस प्रकार पंत जी के विचार से काव्य का सत्य सौंदर्य के माध्यम से ही अभिव्यक्त होता है अर्थात् कविता की आत्मा सौन्दर्य के पंखों में उड़कर ही ससीम और कृती है । वे कहते भी हैं कि सौंदर्यविहीन सत्य शुद्ध दर्शन हो सकता है तथा आनन्दहीन शिव नैतिक साधना अथवा आचारमात्र ही सकता है, पर काव्य नहीं । सत्य के अस्थिपंजर में हृदय का स्पंदन करने के लिए, उसमें प्राणों की मधुर उष्णता तथा जीवन के रूपरंग सजाने के लिए , आनंद का स्पर्श तथा सौंदर्य का परिधान अनिवार्य है । काव्य का सत्य सृजनात्मक जीवन दर्शन है । साहित्यकार की आस्था सौंदर्यप्रधान, आनंद या रस प्रधान, आत्म कल्याण या लोक कल्याण प्रधान आदि अनेक प्रकार की हो सकती है और अपनी व्यापकता तथा सत्यानुभूति के अनुरूप ही उसका मूल्य आँका जा सकता है । पंत जी ने काव्यानंद को ब्रह्मानन्द का सहोदर कहा है जो अब तक के अनुभूत तथा काल्पनिक आनंदों में सर्वश्रेष्ठ माना जाता है । आनंद सदैव अतिरिक्त से उद्भूत होता है । दिनरात की मानवीय आवश्यकताओं की पूर्ति के बाद मनुष्य का जो ज्ञान आत्मचिंतन से उत्तरोत्तर वृद्धि को प्राप्त होता रहता है, उसी संसार की व्यावहारिकता के अतिरि ज्ञान से आनंद की उपलब्धि होती है । काव्य इसी को सुलभ बनाता है ।

उपर्युक्त समस्त मूल्यों के अतिरिक्त पंत जी ने कल्पना के भी अपनी मूल्य दृष्टि के अन्तर्गत लिया है । उनके गद्य में वस्तु की चेतनोन्मुखी सूक्ष्मता और स्वप्न कल्पना की साकार सघनता है ।

भाव, कल्पना और चिंतन के रूप, रंग और रेखा से उनके गद्य का स्वरूप संघटित हुआ है । पंत जी कल्पना के सत्य को सबसे बड़ा सत्य मानते हैं, जो कि उनके इस कथन से ही स्पष्ट हो जाता है--

---

१ पंत : शिल्प और दर्शन, पृ०सं० ७६-८० ।

'मैं कल्पना के सत्य को सबसे बड़ा सत्य मानता हूँ और उसे ईश्वरीय प्रतिभा का अंश भी मानता हूँ। मेरी कल्पना ने जिन-जिन विचार-धाराओं से प्रेरणा मिली है उन सब का समीकरण करने की चेष्टा की है।'[१]

महादेवी वर्मा

महादेवी जी ने साहित्य की जीवनव्यापी विविधता और उसमें प्रतिफलित होने वाले प्राय: सभी महत्त्वपूर्ण विषयों को लेकर इतने विस्तार और इतनी गहनता से विवेचन किया है कि पाठक के मन में उनकी मान्यता और उनकी समन्वयवादी दृष्टि एवं उनके सामंजस्यपूर्ण जीवन-दर्शन के प्रति किसी प्रकार की उलझन शेष नहीं रह जाती। उन्होंने व्यष्टि-समष्टि, सूक्ष्म-स्थूल, श्लीलता-अश्लीलता, यथार्थ-आदर्श, सभ्यता-संस्कृति, शील-सौंदर्य, रूप-कुरूप, भौतिकता-आध्यात्मिकता, सुख-दुख, अतीत-वर्तमान, नूतन-पुरातन, धर्म-कर्म, आस्था-अनास्था एवं नर-नारी के विषय में अपनी समन्वयवादी दृष्टि का परिचय दिया है।

महादेवी जी ने विस्तृत साहित्य में मूल्यों की भी चर्चा की है। शुद्ध चिन्तन संबंधी निबन्धों को छोड़कर उनका अन्य गद्य साहित्य समाज केन्द्रिक है। उसने जनता के पीड़ित जीवन को स्वर दिया है। समाज के दुख, दैन्य, उसके स्वार्थों और अभिशापों का प्रतिकार किया है। उसमें एक विद्रोही की आत्मा रुदन कर रही है। उसका मूल उत्स अपनी पीड़ा में नहीं, समाज में दिन-रात चलने वाले अन्यायों और अत्याचारों में है।

महादेवी जी में जनसाधारण के प्रति बौद्धिक सहानुभूति ही नहीं है, उन्हें पीड़ित जनता से हार्दिक सहानुभूति है। उनकी यह सहानुभूति बड़ी मूल्यवान है। उसके बल पर वे समाज में पीड़ित वर्गों के अनेक मर्मस्पर्शी चित्र दे सकी हैं।

---

१ पंत : शिल्प और सौन्दर्य, पृष्ठ० ५६।

चूँकि मानव जीवन अनुभूतियों की संस्कृति है,इसलिए अपने परिवेश से सम्पर्क मनुष्य में किसी न किसी सुखात्मक या दुखात्मक अनुभूति को जन्म देता है और इन संपर्क जनित संवेदनों[1] पर बुद्धि की क्रिया-प्रतिक्रिया मूल्यात्मक चिन्तन के संस्कार बनाती चलती है ।

उनका विश्वास है कि सच्चा कलाकार लोकतंत्र को पहचाने बिना नहीं हो सकता और जो लोक-हृदय को पहचानता है वही अमर होता है--जनता उसी को जीवित रखती है । अध्यात्मवादी भी एक विश्व व्यापी दर्शन को मानने वाले हैं और उनमें भी उतनी ही सार्वभौमिकता है,जितनी यथार्थवादियों या प्रगतिवादियों में,क्योंकि जो तर्क प्रगतिवादी देते हैं वही अध्यात्मवादी भी ।

जनोपयोगी कार्यों को वे अपने जीवन में पहला ध्येय मानती हैं एवं उसके पश्चात् साहित्य को महत्त्व देती हैं ।

महादेवी जी ने सभ्यता और संस्कृति का वर्णन करते हुए सांस्कृतिक मूल्यों को उठाया है । वे कहती हैं कि सभ्यता और संस्कृति किसी एक में सीमित न होकर सामाजिक विशेषता है, जिसका मूल्यांकन समाजबद्ध व्यक्तियों के पारस्परिक व्यवहार में ही सम्भव है । वह कृति न होकर जीवन की ऐसी शैली है, जिसकी मिट्टी से साहित्य,दर्शन,ज्ञान,विज्ञान की कृतियाँ सम्भव होती हैं[2] ।

सभ्यता संस्कृति का पर्याय नहीं है, क्योंकि वह किसी मनुष्य के मात्र भद्राचार या सभा के उपयुक्त आचार को ही व्यक्त करती है । प्रकारान्तर से यह विशेषता मनुष्य के अन्तर्जगत को स्पर्श कर सकती है, परन्तु प्रधानत: इसका क्षेत्र, मनुष्य का बाह्य आचरण है । संस्कृति मनुष्य की सहज प्रवृत्ति के परिमार्जन[3] से सम्बन्ध रखने के कारण मात्र बाह्याचार में सीमित नहीं हो पाती ।

---

१ महादेवी वर्मा : संकल्पिता,पृ०सं०१२२ ।

२ महादेवी वर्मा : क्षणदा,पृ०सं०१३५ ।

३ महादेवी वर्मा : संकल्पिता,पृ०सं०२० ।

उनके सभी निबन्ध काव्य के शाश्वत सिद्धान्तों के अमर व्याख्यान हैं । इनमें सन्तुलन और सामंजस्य ढूंढने की उदारता तथा मूल्यों के प्रति निष्ठा है । आज साहित्यिक मूल्यों के आवर्त में भटका हुआ जिज्ञासु इन्हें आलोकस्तम्भ मानकर बहुत कुछ स्थिरता पा सकता है । उनके विचार से साहित्य जीवन की संश्लिष्ट अभिव्यक्ति कहा जा सकता है,क्योंकि उसमें जीवन के अनेक स्तरों को रागात्मक स्वीकृति और मूल्यांकन अनिवार्य है ।

धार्मिक मूल्यों की चर्चा भी महादेवी जी ने यत्र तत्र की है । वे धर्म को साहित्य का आवश्यक उपादान मानती हैं । उनका कहना है कि --'धर्म साहित्य का आवश्यक और आदि उपादान है । बिना धर्म के साहित्य का निर्माण नहीं हो सकता । संसार के सभी देशों का साहित्य धर्म की नींव पर ही आरूढ़ है ।

वेदना को महादेवी जी ने विश्व जीवन की मूल रागिनी कहा है । मनुष्य का हृदय जितनी बार करुणा से द्रवित होता है, उतनी ही बार अधिक सुंदर नवीन जन्म ग्रहण करता है और जब वह इतना सम्वेदनशील हो जाता है कि विश्व संगीत के सारे स्वरों की प्रतिध्वनि उसमें उठने लगती है,तब वह एक प्रकार का जीवन युद्ध ही कहा जा सकता है, करुणा की सीमा ही मनुष्यता की चरम सीमा होगी ।

महादेवी जी का दुखवाद आध्यात्मिक है । उनके दर्शन के अध्ययन, स्त्रीस्वभाव और साहित्यिक परम्पराओं से प्राप्त हुई सुगमता ने उनके इस आध्यात्मिक दुखवाद को एक विशिष्ट रूप दे दिया है । नीरजा की भूमिका में राय कृष्णदास जी कहते हैं-- उनकी (महादेवी जी की) काव्य-साधना आध्यात्मिक है । उसमें आत्मा का परमात्मा के प्रति आकुल प्रणय-निवेदन है । कवि की आत्मा मानो इस विश्व में बिछुड़ी हुई प्रेयसी की भाँति प्रियतम का स्मरण करती है । उनकी दृष्टि से विश्व की संपूर्ण प्राकृतिक शोभा सुषमा एक अनंत, अलौकिक, चिर सुंदर की छायामात्र है । उनके इस विचित्र दृष्टिकोण से

उनके एक विशिष्ट दर्शन और उनकी अपनी काव्य-कला का जन्म हुआ है[१]।

मनुष्य की मूल्यात्मक दृष्टि से भी वे अपरिचित नहीं हैं--

हृदयवान होने के कारण उसने (मनुष्य ने) अपने आदिम जीवन में ही जीवन से अधिक प्रिय मूल्यों का आविष्कार कर लिया और इसप्रकार अपने प्राप्त ही नहीं, सम्भाव्य मूल्यों के लिए भी वह बार-बार जीवन देने लगा। परिणामत: अपने अनन्त सृजन का निरन्तर संहार करने वाली प्रकृति ने यदि उसे मिटाने का श्रम व्यर्थ समझा तो आश्चर्य नहीं[२]।

महादेवी जी की कला की सिद्धि जीवन में जो कुछ कुत्सित, अस्थिर, अमंगलकर और असंस्कृत पशुत्व है, उसी में सुंदर, शाश्वत, कल्याणमय और संस्कृत देवत्व को ढूँढने के प्रयास में है। यहीं आकर साहित्य की उपयोगिता का भी प्रश्न हल हो जाता है। जिसका साध्य सत्य है, साधन सौंदर्य है और प्रक्रिया आनंदरूप, उस साहित्य की उपयोगिता है, परन्तु उसका माध्यम स्थूल विधि-निषेध न होकर आन्तरिक सामंजस्य ही है। इस प्रकार साहित्य एक ओर सिद्धान्तों का व्यवसाय होने से बच जाता है, दूसरी ओर सस्ता मनोरंजन होने से। इस रूप में स्वभावत: ही महादेवी साहित्य को एक शाश्वत सत्य मानती हैं। अनेकता में एकता ढूँढने वाली उनकी दृष्टि जीवन और साहित्य के सनातन सिद्धान्तों और मूल्यों को लेकर चलती है, जो परिवर्तनों के बीच भी अक्षुण्ण रहते हैं --

'यह सत्य है कि संस्कृति की बाह्य रूपरेखा बदलती रहती है परन्तु मूल तत्त्वों का बदल जाना तब तक सम्भव नहीं होगा जब तक उस जाति के पैरों के नीचे से वह विशेष भूखण्ड और उसे चारों ओर से घेर लेने वाला विशेष वायुमण्डल ही न हटा लिया जाये[३]।'

महादेवी जी की काव्य कला सम्बन्धी मान्यता में सत्य, सुंदर और शिव तीनों का सामंजस्य हो गया है। उनकी समस्त व्याख्या का

---

१ रायकृष्णदास : नीरजा-भूमिका।

२ महादेवी वर्मा : संकल्पिता, पृष्ठ० १८।

निचोड़ यह है कि कला माध्यम के द्वारा कलाकार सत्य को सुंदर बनाकर शिवत्व की उपलब्धि कर लेता है। छायावाद की व्याख्या करती हुई महादेवी जी कहती हैं -- 'छायावाद तो करुणा की छाया में सौंदर्य के माध्यम से व्यक्त होने वाला भावात्मक सर्ववाद हो रहा है और उसी रूप में उसकी उपयोगिता है।

महादेवी जी ने सौन्दर्यवादी मूल्यों का वर्णन सवाधिक किया है। उनके विचार से सौन्दर्य की अनुभूति जितनी सहज है, उसकी परिभाषा उतनी ही कठिन हो जाती है। सामान्यत: वह ऐसी सुखद अनुभूति है जो वस्तुओं, रंगों, रेखाओं आदि की विशेष सामंजस्यपूर्ण स्थिति में अनायास उत्पन्न हो जाती है।[1]

कला चिरन्तन है, सौंदर्य सनातन है, सत्य शाश्वत है आदि में कोई रूढ़िगत अन्ध विश्वास न होकर मनुष्य की मूल प्रवृत्तियों की निरन्तरता का संकेत है। कला और साहित्य में जीवन के रहस्य, सजीवता, सौंदर्य,उपयोग और सृजनशक्ति का एकीकरण रहता है।

सौंदर्य अपने समर्थन के लिए जिस सामंजस्य की ओर इंगित करता है, विरूपता भी अपने विरोध के लिए उसी की ओर संकेत करती है, पर दोनों के संकेत में अंतर है। महादेवी जी कहती हैं -- प्रत्येक सौंदर्य खण्ड-अखण्ड सौंदर्य से जुड़ा है, वह और इस तरह हमारे हृदयगत सौंदर्य-बोध से भी जुड़ा है, पर विरूप, व्यापक सामंजस्य का विरोधी होने के कारण हमारे भीतर कोई स्वभावगत स्थिति नहीं रखता। सौंदर्य से हमारा वह परिचय है,जो अनन्त जल-राशि में एक लहर का दूसरी लहर से होता है। पर विरूपता से हमारा वैसा ही मिलन है, जैसे पानी में फेंके हुए पत्थर और उससे उठी लहर में सहज है। सौंदर्य चिर परिचय में भी नवीन है पर विरूपता अति परिचय में नितांत साधारण बन जाती है, इसी से[2] सौंदर्य की रहस्यानुभूति ही,अंतहीन काव्यकथा में नये परिच्छेद जोड़ती रही है।

---

१ महादेवी वर्मा : संकल्पिता,पृ०सं० ५२।

सत्य की प्राप्ति के लिए काव्य और कलाएँ जिस सौन्दर्य का सहारा लेते हैं, वह जीवन की पूर्णतम अभिव्यक्ति पर आश्रित है, केवल बाह्य रूपरेखा पर नहीं। सत्य काव्य का साध्य और सौंदर्य उनका साधन है। एक अपनी एकता में असीम रहता है और दूसरा अपनी अनेकता में अनंत, इसी से साधन के परिचय स्निग्ध खण्ड रूप से साध्य की विस्मयकारी अखंड स्थिति तक पहुँचने का क्रम आनंद की लहर पर उठाता हुआ चलता है। वे कहती हैं -- सौंदर्य का सम्बन्ध रूप से होने के कारण वह हमारे निकट है, हमारा उससे स्नेह परिचय है। रूपों की परिचित अनेकता की भावना करता हुआ साहित्यकार जब प क्रमश: उनकी मौलिक एकता की ओर बढ़ता है तो उसे एक विशिष्ट सामंजस्य दृष्टि प्राप्त हो जाती है। यही सामंजस्य दृष्टि साहित्य की मूल प्रेरणा है और स्वभावत: आनंदरूपा है, क्योंकि आनंद का अर्थ भी तो हमारी अन्तर्वृत्तियों का सामंजस्य ही है।

हर मानव समाज के जीवन में ऐसे संक्रांतिकाल आते रहते हैं जब उसकी मान्यताओं का कायाकल्प होता है, मूल्यांकन के मान नए होते हैं और जन की गति में पुरानी गहराई के साथ नई व्यापकता का संगम होता है, परन्तु महादेवी जी कहती हैं--

जैसे नवीन वेगवती तरंग का पुरानी मंथर लहर में मिलकर अधिक विशाल हो जाना स्वाभाविक और अनायास होता है, वैसे ही संस्कार और अधिक संस्कार मूल्य और अधिक मूल्य का संगम सहज होता है, सुंदर और सुंदरतर, शिव और शिवतर, आंशिक सत्य और अधिक आंशिक सत्य में कोई तात्विक विरोध नहीं हो सकता। सुंदरतम, शिवतम और पूर्ण सत्य तक पहुँचने के लिए हमें सुंदर, शिव और आंशिक सत्य को कुरूप, अशिव और असत्य बनाने की आवश्यकता नहीं पड़ती और जिस युग का मानव यह सिद्धान्त भुला देता है, उस युग के सामने सत्य, शिव, सुंदर तक पहुँचने का मार्ग रुद्ध हो जाता है। किसी समाज को ऐसे लक्ष्य रहित कार्य से रोकने के लिए अनेक अन्तर बाह्य संस्कारों की परीक्षा करनी पड़ती है, निर्माण में उसकी आस्था जगानी पड़ती है, संघर्ष को सृजन योग बनाना पड़ता है।[१]

---

१ महादेवी वर्मा : क्षणदा, पृ०सं० १३६-१३७।

काव्य का लक्ष्य तो सुन्दरम् है । सत्य और शिव तो उसके प्रार्थमिक चरण हैं । काव्य के मूल प्राण सौंदर्य का विकास होने पर किसी प्रकार के अशोभन के लिए अवकाश ही नहीं रह जाता ।

एवं रागात्मक अभिव्यक्ति के महत्त्व को भी महादेवी जी ने दिखाया है । वे कलाकार का लक्ष्य जीवन की कुरूपता तथा सौंदर्य, दुर्बलता तथा शक्ति,पूर्णता और अपूर्णता सबकी सामंजस्य अभिव्यक्ति रागात्मकता ही मानती है ।[1]

उनके विवेचन का प्रमुख दृष्टिबिन्दु जीवन है, जिसके अंतर्गत उन्होंने सत्य और सौंदर्य का अभिव्यंजन कला के माध्यम से स्वीकार किया है । कला के क्षेत्र को उन्होंने इतनी अधिक व्यापक भूमिका प्रदान की है,जिसके अन्तर्गत ज्ञान-विज्ञान की शिराएँ भी सम्मिलित की जा सकती हैं । काव्य उनकी दृष्टि से सर्वोत्तम कला है और सत्य उसका साध्य तथा सौंदर्य उसका साधन है । काव्य और कला विषयक सत्य का यथार्थ सौन्दर्य ही है,किन्तु उनके विचार से वह सौंदर्य जितना अधिक जीवन की पूर्णतम अभिव्यक्ति के निकट रहकर प्रकट होता है, उतना ही वह महान कहा जा सकता है ।

महादेवी जी ने आधुनिक साहित्य क्षेत्र में प्रचलित यथार्थ और आदर्श के प्रश्नों और मूल्यों पर भी अपनी मान्यताएँ व्यक्त की हैं । इन मान्यताओं के मूल में उनका विशुद्ध सांस्कृतिक और साहित्यिक दृष्टिकोण है । यही कारण है कि उन्होंने साहित्य और कला को तत्त्वत: सृजनशील मानकर उनकी पावनस्थली में राजनीति और अर्थ व्यवस्था के परिवर्तनशील मानदण्डों के अनुसार यथार्थ और आदर्श का अभिनिवेश उत्कर्ष विधायक नहीं माना है । अत: उनके विचार से आदर्श और यथार्थ की प्राण प्रतिष्ठा और शोभा इसी में है कि वे प्राण और शरीर के रूप में एक समन्वित होकर चलें,क्योंकि वह यथार्थ जिसके पास

---

1 महादेवी वर्मा : क्षणदा,पृ०सं० ५६ ।

आदर्श का स्पन्दन नहीं, केवल शवमात्र है और वह आदर्श जिसके पास यथार्थ का शरीर नहीं प्रेतमात्र है । उनका यह दृष्टिकोण उनके समन्वयकारी समीक्षक स्वरूप का भव्य निदर्शन कहा जा सकता है ।

उन्होंने दोनों की सापेक्षिक स्थिति को बड़े ही सरल सहज ढंग से व्यक्त करते हुए कहा है --' जीवन प्रत्यक्ष जैसा है और हमारी परिपूर्ण कल्पना में जैसा है, यही हमारा यथार्थ और आदर्श है । सृजन के लिए दोनों की सामंजस्यपूर्ण स्थिति आवश्यक है ।

अन्त में हम उनके सृजनात्मक मूल्यों में निहित कल्पना, प्रतिभा एवं अनुभूति की चर्चा करेंगे । वस्तुत: कल्पना ऐसी अनुरंजनशील विधायक वृत्ति है, जिसके द्वारा हम सम्भाव्य, किन्तु अभीप्सित वस्तु का मानसिक अंकन करते हैं, इस दृष्टि से सभी स्थूल सूक्ष्म निर्माणों में उसका न्यूनाधिक उपयोग आवश्यक रहेगा ही । मानसी संयोजन के अभाव में वस्तु जगत में किसी प्रकार का संयोजन असंभव नहीं तो कठिन अवश्य हो सकता है, परन्तु पूर्णतम विधायक कल्पना भी अपूर्ण अनुभूति का स्थान लेने में[१] समर्थ नहीं, क्योंकि उसमें रागात्मक तीव्रता और संवेदनीयता सम्भव नहीं रहती ।

महादेवी जी कल्पना एवं अनुभूति के विषय में कहती हैं --' काव्य के मुक्ताकाश[२] विचरण के लिए कल्पना और अनुभूति पक्षी के दो डैनों के समान हैं ।'

उनका यह भी विश्वास है कि जो सच्चा कलाकार होता है, वह कल्पना को सौंदर्यमय आकार देकर उसमें वास्तविकता का रंग भरता है एवं उससे जीवन संगीत की सुरीली लय की सृष्टि कर लेता है । कल्पना के माध्यम से सौंदर्य स्वरूप का जो प्रभाव हमारे हृदय में पड़ता है, वह सदैव सम्भाव्य है ।

----

१ महादेवी वर्मा : संकल्पिता, पृ०सं० १२५ ।

२ वही, पृ०सं० १२६ ।

उन्होंने काव्य में कल्पना का विशेष महत्व स्वीकार कर भारतीय साहित्य में प्रकृति सौंदर्य से उद्भूत ऐश्वर्यमयी कल्पना के चित्रमय स्वरूप की अत्यंत प्रशंसा की है, जो हमारे जीवन-दर्शन और संस्कारों के सर्वथा अनुकूल है।

साहित्य का उद्देश्य भी समाज के अनुशासन के बाहर स्वच्छंद मानव स्वभाव में उसको मुक्ति को अक्षुण्ण रखते हुए समाज के लिए अनुकूलता उत्पन्न करना है[1]। महादेवी साहित्य सृजन विशेष प्रतिभा से सम्बद्ध मानती हैं। क्योंकि विशेष प्रतिभा संपन्न साहित्यकार का विशेष महत्व भी सर्वस्वीकृत है। आज तक प्रतिभा को समान रूप से बाँटने का उपाय विज्ञान को उपलब्ध नहीं हो सका है, अत: साम्योपासक देशों में भी प्रतिभा सम्पन्न साहित्यकारों को असामान्य स्थिति प्राप्त है। वस्तुत: साहित्य सृजन समग्र जीवन, समस्त शक्तियों का संश्लिष्ट दान है। इस प्रकार सृजनात्मक मूल्यों के अंतस् में निहित कल्पना, प्रतिभा तथा अनुभूति को महादेवी जी ने साहित्य सृजन में आवश्यक माना है।

नन्ददुलारे वाजपेयी

नन्ददुलारे वाजपेयी जी का साहित्य-क्षेत्र में आगमन एक आलोचक के रूप में हुआ था। वे छायावादी कवियों-- प्रसाद, निराला, पंत की नूतन कल्पना-छवियों और नवीन जीवन दर्शन को देखकर आकृष्ट हुए तथा इन कवियों के विवेचक के रूप में साहित्य क्षेत्र में अवतरित हुए -- मेरा आगमन हिन्दी के छाया-वादी कवि प्रसाद, निराला और पंत की नई कविता के विवेचक के रूप में हुआ था[2]। वाजपेयी जी ने अपनी आलोचनाओं के माध्यम से ही साहित्य चिन्तन में विभिन्न मूल्यों की स्थापना की। उनके समस्त विचार मानवजीवन की मार्मिक एवं स्वस्थ चेतना से जुड़े हुए हैं। उन्होंने साहित्य की परिभाषा देते हुए भी मानव जीवन को

---

१ महादेवी वर्मा :संकल्पिता, पृ०सं० १२२ ।

२ नन्ददुलारे वाजपेयी : नया साहित्य : नये प्रश्न, पृ०सं० २ ।

दृष्टि में रखा है -- विकासशीलमानव जीवन के महत्त्वपूर्ण या मार्मिक अंशों की अभिव्यक्ति यही साहित्य की मोटी परिभाषा होसकती है[1]। अर्थात् मानव जीवन को ही उन्होंने काव्य या साहित्य की वस्तु माना है। एक अन्य स्थान पर लिखते हैं -- काव्य तो मानवकी उद्भावनात्मक या सर्जनात्मक शक्ति का परिणाम है[2]।

वाजपेयी जी ने साहित्य और जीवन का सम्बन्ध अत्यन्त व्यापक अर्थ में माना है। वे जीवन को तुलना ऐसे धारा प्रवाह से करते हैं कि जिसकी प्राणदायिनी और रमणीय बूंदें साहित्य में एकत्र की जाती हैं[3]। इस प्रकार साहित्य या काव्य का सम्बन्ध मानव जीवन से होना आवश्यक माना है।

वाजपेयी जी को काव्य की स्थूल उपयोगिता स्वीकार नहीं है,क्योंकि वे काव्य में जीवन की प्रेरणा, सांस्कृतिक चेतना तथा भावनाओं के परिष्कार की क्षमता चाहते हैं। काव्य से नीति का बहिष्कार उनको मान्य तो नहीं है,परन्तु फिर भी वे नैतिक सिद्धान्त का नियंत्रण परोक्ष ही मानते हैं। नैतिकता और स्थूल उपयोगिता से उनको खतरा दिखायी पड़ता है-- इसमें साहित्य और समाज की विविध ऐतिहासिक स्थितियों और कवियों की रुचि और परिस्थिति से बनने वाले काव्य-व्यक्तियों का आकलन नहीं किया जा सकता[4]।

वाजपेयी जी ने अपने चिन्तन में सर्वाधिक महत्त्व सौंदर्य मूल्यों को दिया है। उनकी समीक्षा शैली भी सौन्दर्य की खोज और उसकी व्याख्या की शैली है। वे रूप का स्थूल चित्रण नहीं चाहते,अपितु चेतन चेष्टाओं की झलक देखना चाहते हैं। आपका सौन्दर्य सत् एवं शिव है। उन्होंने समालोचक का कार्य तटस्थ और पक्षपात शून्य होकर सौन्दर्य का अध्ययन करना ही माना है। प्रेमचंद

----

१ नन्ददुलारे वाजपेयी : नया साहित्य : नये प्रश्न,पृष्ठ० ३ ।

२ नन्ददुलारे वाजपेयी : हिन्दी साहित्य: बीसवीं शताब्दी,पृष्ठ० ८ ।

३ नन्ददुलारे वाजपेयी : आधुनिक साहित्य,पृष्ठ० ३५५ ।

की आलोचना करते समय वे कहते हैं-- इस शिव शब्द को हम व्यर्थ समझकर निकाल देना चाहते हैं । सत्य और सुंदर पर्याप्त है[1]। वे आलोचना को भी साहित्यिक सौन्दर्य को स्पष्ट करने का साधन ही मानते हैं । कला और सौन्दर्य को वाजपेयी जी सदैव समाज सापेक्ष मानते हैं । कुछ लोगों को उनमें जीवन निरपेक्ष कलावादी होने का भ्रम है, परन्तु यह भ्रम ही है वास्तव में ऐसा नहीं है । उन्होंने तो काव्य की परिभाषा करते हुए उसे प्रकृत मानव अनुभूतियों का नैसर्गिक कल्पना के सहारे ऐसा सौन्दर्यमय चित्रण माना है जो मनुष्यमात्र में स्वभावत: अनुरूप भावोच्छ्वास और सौन्दर्यसंवेदन उत्पन्न करता है[2]।

वाजपेयी जी ने काव्य में हृदयस्पर्शिता और आह्लाद को भी प्रधान माना है । रस को काव्य की मूलभूत वस्तु मानकर भी वे उसके ब्रह्मानंद सहोदरत्व अथवा अलौकिकता से सहमत नहीं प्रतीत होते, क्योंकि उन्होंने कहा है[3]-- रसानुभूति सम्बन्धी अलौकिकता के पाखण्ड से काव्य का अनिष्ट ही हुआ है ।

वाजपेयी जी ने सृजनात्मक मूल्यों में निहित कल्पना और अनुभूति की सत्ता काव्य में अनिवार्य मानी है । वे काव्य में अनुभूति की तीव्रता को ही प्रधान मानते हैं -- साहित्य की सृष्टि आत्मानुभूति की प्रेरणा से ही होती है[4]। अभिव्यंजना को उन्होंने अनुभूति से निम्न स्तर ही माना है--काव्य अथवा कला का सम्पूर्ण सौन्दर्य अभिव्यंजना का ही सौंदर्य नहीं है, अभिव्यंजना काव्य नहीं है । काव्य अभिव्यंजना से उच्चतर तत्त्व है । उसका सीधा सम्बन्ध मानव जगत और मानव वृत्तियों से है, जब कि अभिव्यंजना का सीधा सम्बन्ध सौंदर्य प्रकाशन से है[5]। इससे स्पष्ट है कि वे अभिव्यंजना के अनावश्यक महत्त्व का विरोध

---

१ नन्ददुलारे वाजपेयी : हिन्दी साहित्य : बीसवीं शताब्दी, पृ०सं० १११

२ नन्ददुलारे वाजपेयी : आधुनिक साहित्य, पृ०सं० ४५६ ।

३ वही, पृ०सं० ६७ ।

४ वही, पृ०सं० ४६४ ।

५ नन्ददुलारे वाजपेयी : हिन्दी साहित्य: बीसवीं शताब्दी, पृ०सं०६८ ।

करते हैं ,परन्तु अनुभूति की तीव्रता और हृदयस्पर्शिता से सामंजस्य रखने वाली अभिव्यक्ति उन्हें मान्य है । उन्होंने काव्यगत अनुभूति की व्यापकता भारतीय साहित्यशास्त्र के ध्वनि सिद्धान्त से भी निरूपित की है । कहते हैं-- काव्य और साहित्य की बाहरी रूपरेखा के मर्म में आत्मानुभूति या विभावन व्यापार ही काम करता है । काव्य की सम्पूर्ण विविधता के भीतर एकात्म्य स्थापित करने वाली यही शक्ति है[१] । उन्होंने अन्यत्र यह भी कहा है कि यद्यपि अनुभूति और अभिव्यक्ति में ऊपरी दृष्टि से सापेक्षता है,परन्तु दोनों में अन्तरंग अनन्यता भी विद्यमान है ।

वाजपेयी जी काव्य में कल्पना का यथेष्ट संयोग होने से उसमें आदर्शवाद का निर्वाह अधिक सफल समझते हैं । उनकी दृष्टि में जीवन-संदेश के साथ ही उदात्त भाव और ललित कल्पनाएँ भी साहित्य के लिए आवश्यक तत्त्व हैं[२] । उन्होंने साहित्य को सांस्कृतिक और आध्यात्मिक मूल्यों से भी आंका है परन्तु वे साहित्य के सांस्कृतिक एवं आध्यात्मिक सौष्ठव का भावात्मक साक्षात्कार ही कराते हैं ।

जैनेन्द्र

जैनेन्द्र ने जीवन की आन्तरिक गहराई की अभिव्यक्ति दी है तथा उनमें मानव कल्याण, लोकमंगल की भावना स्पष्टत: ध्वनित होती है। जैनेन्द्र साहित्य में हृदय और मस्तिष्क दोनों का संयोग अपेक्षित मानते हैं,परन्तु फिर भी हृदय से ऊँचा स्थान उन्होंने मस्तिष्क को दिया है[३] --'जहाँ दया और समझ का विरोध हो, वहाँ मैं समझ के पक्ष में हूँ ।'

---

१ नन्ददुलारे वाजपेयी : आधुनिक साहित्य,पृ०सं० ४६६ ।

२ नन्ददुलारे वाजपेयी : जयशंकर प्रसाद,पृ०सं० २४-२५

३ जैनेन्द्र : जड़ की बात,पृ०सं० २ ।

जैनेन्द्र ने अपने साहित्य में अनेक स्थलों पर मूल्यों की चर्चा की है। वे मानते हैं कि आज के युग में प्रचलित मूल्यों की अपर्याप्तता और मौलिक मूल्यों की आवश्यकता अनिवार्य होकर प्रकट हो गई है,इसलिए साहित्य में प्रचलित मूल्यों को ज्यों का त्यों स्वीकार न करके, उन्होंने अपनी व्यापक दृष्टि का परिचय दिया है। उनका कहना है कि -- 'प्रचलित मूल्यों को ज्यों का त्यों स्वीकार करके ,उनको घेरा मानकर जो बैठता है, उसका कोई भविष्य नहीं है। उसका बस वर्तमान ही वर्तमान है। वह ऐसा सफल व्यक्ति बनता है कि बस आँख से दूर हुआ नहीं कि स्मृति से मिटा नहीं। उसमें सम्भावनाएँ नहीं होतीं। बस स्थूल वर्तमान उसका होता है।'[1]

इससे उनका तात्पर्य है कि मनुष्य को कुछ रूढ़ियों में ही बंधकर नहीं बैठ जाना चाहिए, कुछ चले आते मूल्यों को ही आधार नहीं बना लेना चाहिए,अपितु अपने बुद्धि द्वारा नये-नये मूल्यों की खोज में तत्पर रहना चाहिए, क्योंकि ऐसा करते रहने में ही मानव की उन्नति है अन्यथा उसकी प्रगति संभव नहीं।

जैनेन्द्र जी की दृष्टि समन्वयशील है। उन्हें प्रत्येक विचार-धारा में मानव-कल्याण का कोई-न-कोई तत्त्व मिल ही जाता है। वे तो मानव के उत्थान का, उन्नति का मार्ग भी साहित्य को ही मानते हैं,क्योंकि साहित्य ही ऐसा माध्यम है,जो कि अपनी भावना और रचना द्वारा मानव को एक दूसरे के निकट लाता है। वे कहते हैं --

'साहित्य ही यदि कुछ है तो वह उन भावनाओं का नाम है जो समष्टि के साथ व्यष्टि की सामंजस्य सिद्धि के साधक हों। इस तरह क्या व्यक्ति और क्या व्यक्ति समूह सबका उत्थान साहित्य के मार्ग में से है। क्योंकि साहित्य है ही उत्थान मार्ग का नाम।'[2] साहित्यिक का तो सत्य ही यह है कि मनुष्यता

---

१ जैनेन्द्र : मन्थन,पृ०सं० २४६।

२ जैनेन्द्रकुमार : साहित्य का श्रेय और प्रेय,पृ०सं० ३१३।

एक है । वह इसी सत्य को निरन्तर खोजता है और निरंतर अपनी भावना और रचना द्वारा वह उसको (मानव को) निकट लाता है ।

सामंजस्य सिद्धि के साधक साहित्य का एक आवश्यक गुण उन्होंने मनोरंजन को भी माना है । वस्तुतः साहित्य केवल ज्ञान प्रदायिनी वस्तु ही न होकर मानव के मनोरंजन की सामग्री से भी युक्त होना चाहिए । साहित्य द्वारा मनोरंजन के सम्बन्ध में जैनेन्द्र जी की मान्यता है कि --

मनोरंजन साहित्य का आवश्यक गुण है, क्योंकि कोई नीरस वस्तु हमारे मर्म को नहीं छू सकती । साहित्य के रस को बुद्धि के स्तर पर ही नहीं चुक जाना चाहिए, अपितु मन की गहराइयों को सींचने का सामर्थ्य उसमें अभिप्रेत है । किन्तु सर्वोपरि साहित्य का श्रेय होना चाहिए -- प्रेम और अहिंसा द्वारा ऐक्य का अनुभव कराना । मनुष्य के हृदय की वह अभिव्यक्ति, जो इस आत्मैक्य की अनुभूति में लिपिबद्ध होती है, साहित्य है ।[1] जैनेन्द्र ने इसी सामंजस्य स्थापित करने की चेष्टा को साहित्य निधि की मूल माना है। जो कि मनुष्य को मनुष्य के साथ, राष्ट्र के तथा विश्व के साथ जोड़ती है, एक तरह समरसता लाने का प्रयत्न करती है, (वही तो) साहित्य का मूल है । जैनेन्द्र के शब्दों में--

'मनुष्य को मनुष्य के साथ , राष्ट्र के और विश्व के साथ और इस तरह स्वयं अपने साथ जो एक सुंदर सामंजस्य, समरसता, समस्वरता स्थापित करने की चेष्टा चिरकाल से चली आ रही है, वही मनुष्य जाति की समस्त संगृहीत निधि की मूल है । अर्थात् मनुष्य के लिए जो कुछ उपयोगी, मूल्यवान, सारभूत आज है वह ज्ञात और अज्ञात रूप में उसी एक सत्य चेष्टा का प्रतिफल है । इस प्रक्रिया में मनुष्य जाति ने नाना भाँति की अनुभूतियों का योग किया है । + + + मानव जाति की इस अनन्त निधि में जितना कुछ अनुभूति भांडार लिपिबद्ध है, वही साहित्य है ।[2] जैनेन्द्र जी की यह परिभाषा व्यापक आधार पर प्रतिष्ठित है और

---

१ जैनेन्द्र कुमार : साहित्य का श्रेय और प्रेय, पृ०सं० ५५-५६ ।

२ वही, पृ०सं० २० ।

इसमें सारे विरोधों का परिहार हो गया है ।

लोकमांगलिक मूल्यों की पराकाष्ठा तो उनके अखंड मानवता के सिद्धान्त को देखकर ही सिद्ध हो जाती है । अखंड मानवता को उन्होंने साहित्य का लक्ष्य ठहराया है । देखने में भी उसका भाव काफी व्यापक है, लेकिन मानवता शब्द स्वयं में सत्य को सीमित और खंडित ही करता है । अखंड मानवता पद से लग आता है कि मानवता को अपने से इतर तत्त्व के प्रति अखंडता सिद्ध करती है, अपने भीतर रहकर ही मानों वह अखंडता साधी जा सकेगी । जैनेन्द्र जी कहते हैं --मानव के आगे भी अनंत प्रकृति है । इसके पार होकर जो है, वह भी सत्य है । उस सबसे अपने को खंडित करके क्या मानवता अखंड हो सकेगी ? स्पष्ट ही शेष प्रकृति से छिन्न होकर, अपने को अपने में सृष्टि का मूर्धन्य और सत्य को अपनी परिधि में निश्चित मान बैठकर मानवता कृतार्थ न हो सकेगी । इस भाँति अखंड मानवता को निरपेक्ष[1] और अंतिम रूप से साहित्य का इष्ट मान लेना खतरे से खाली नहीं रह जाता ।'

लोकमांगलिक मूल्यों के अनन्तर जैनेन्द्र ने धार्मिक मूल्यों पर अधिक बल दिया है । धर्म को वे नित्य मानते हैं जो कि विगत, आगत और अनागत को एक ही लड़ी में थामता है, वही उनकी दृष्टि में धर्म है । इस प्रकार मन धर्म सदैव हरा रहता है । वह कभी भी सूखने नहीं पाता, क्योंकि संजीवन का तत्त्व सदा उसमें लोच और लचक जो रखता है । धर्म की आवश्यकता पर जैनेन्द्र जी ने अत्यधिक ज़ोर दिया है--

'धर्म आवश्यक है उस तरह आवश्यक जैसे मकान के लिए नींव आवश्यक होती है । वह न हो तो मकान खड़ा ही नहीं हो सकता । पर मकान ऊपर बनता है नींव नीचे खुदती है, नीचे से नीची नींव खोदकर देंगे तो मकान उतना ही ऊँचा जायेगा । ऊँचे के लिए इस तरह नीचाई ज़रूरी है । प्रवृत्ति में हम शायद उतना ही बा सकेंगा, जितना भीतर निवृत्ति में ~~ होगा । धर्म सिद्धान्त बहुत

---

१ जैनेन्द्रकुमार : मन्थन, पृष्ठ०२०३ ।

मूल्यवान और शक्तिशाली हो सकते हैं अगर वे आधा चक्कर काटकर रुक न जाये।[१]

वे आत्मस्वभाव को धर्म मानते हैं। इस तरह आत्मस्वभाव मानने के कारण धर्म व्यक्ति के अन्तर्गत है तथा अपने शुद्ध रूप में वह अव्यक्त, शब्द से अतीत और अगोचर है, परन्तु शरीर तो दीखता है, आत्मा का अनुमान और अनुभव होता है। चूँकि धर्म आत्मकेन्द्रित है, इसलिए वह आध्यात्मिक है। इसप्रकार वह धर्म जो एक व्यक्ति को ही नहीं, बल्कि एक समुदाय को या जाति को अपनी पारस्परिकता और एकत्रिता में धारण रखता है, वह भावात्मक ही कुछ नहीं होता बल्कि शब्दात्मक भी होता है। उसका तत्त्व, दर्शन, रीति, नीति और विधि विधान होता है। इस प्रकार धर्म एक संस्था का रूप लेता है वह सम्प्रदायगत बनता है।

जैनेन्द्र ने धर्म का लक्षण श्रद्धा माना है 'अंदर प्रसन्नता रखकर जैसे यह हो नहीं सकता कि बाँटने की इच्छा न हो वैसे ही धर्म को अंदर रखकर यह भी कैसे हो सकता है कि उसे बाँटने की इच्छा न हो, क्योंकि धर्म होगा तो बाँटे बिना चैन न होगा।'[२]

धर्म यदि कुछ है तो संसार तृष्णा को मंद करने का साधन है। उसके अभाव में समता और बंधुता आ ही नहीं सकती। जैनेन्द्र जी ने धर्म के अन्तर्गत भक्ति और प्रेम की भी चर्चा की है। धर्म के वैयक्तिक रूप के अन्तर्गत वे भक्ति का योग मानते हैं। वे कहते हैं कि --

'भक्तियोग का जहाँ जितना सद्भाव है, वहाँ उतनी सफलता है। वहाँ तो व्यक्ति के नि:स्व समर्पण की ही माँग है।'[३]

धर्म के विषय में वे ललकार से अधिक प्रेम को उपयोगी मानते हैं, क्योंकि प्रखरता का धर्म में लेशमात्र भी नहीं होना चाहिए। धर्म का मुख्य ध्येय तो मानव मन में शान्ति की स्थापना करना है। इसलिए उसमें प्रखरता के स्थान पर प्रेम का साम्राज्य ही होना चाहिए। वे कहते हैं --

---

१ जैनेन्द्रकुमार : इतस्ततः, पृ०सं० १८१

२ जैनेन्द्रकुमार : मन्थन, पृ०सं० १७० ।

३ वही, पृ०सं० ६३ ।

'इस बारे में मेरे मन में तनिक भी संदेह नहीं है। जो तत्व के विषय में और सत्य के विषय में इतना निर्भ्रान्त है कि विवाद को निमंत्रित करता है और उसी द्वारा उसे प्रचारित और प्रतिष्ठित करने में दत्तचित्त है, वह संदिग्ध धार्मिक है। वह एकांगी सत्याचारी है। प्रखरता, धर्म-सत्य-शोध-अर्थ के क्षेत्र में अत्यन्त अविश्वसनीय वस्तु है। जो प्रखर प्राबल्य के बल से आज डिक्टेटर बना है, धर्म की और मुक्ति की राह में तो उसे वह बल तजकर ही चलना होगा और मैं कहता हूँ कि इस त्याग से उसका बल बढ़ेगा ही चाहे वह चमत्कारशील कम दीखे।'[1]

इस प्रकार जैनेन्द्र में एक प्रकार की धार्मिक आदर्शवादिता दिखायी देती है। व्यक्त घटना की अपेक्षा अव्यक्त भावना की गहराई में उतरना और स्पर्श करना इसी की द्योतक है। परन्तु इस आदर्शवाद के साथ जैनेन्द्र ने सामयिक, सामाजिक नव निर्माण की ओर भी पूरा-पूरा ध्यान दिया है।

धार्मिक मूल्यों के पश्चात् अब हम जैनेन्द्र जी के सांस्कृतिक मूल्यों को लेते हैं। अपनी सामंजस्य प्रिय अर्थात् ऐक्य तथा समन्वयप्रिय प्रवृत्ति के कारण संस्कृति को भी वे सामंजस्य की ध्वनि मानते हैं। वे मानते हैं कि किसी भी अवस्था में विग्रह के समर्थन के लिए वहाँ (संस्कृति में) अवकाश नहीं है। बढ़ता जाता आपसी भाव ऐक्य भाव उसका सार इष्ट है। कहीं वृत्त वहाँ बंद नहीं होता। आत्म के लिए आत्मोपमता के भाव को बढ़ाते जाने का सदा ही अवकाश है। जैनेन्द्र संस्कृति के समर्थन, विवेचन और प्रकाशन का अवसर जब तब तलाश कर लेते हैं। जीवन समाज, कर्म, धर्म, दान, दया, आर्थिक वैषम्य सभी का चिन्तन वह अधिकतर संस्कृति को आधार मानकर करते हैं। पूर्वोदय जैनेन्द्र जी का सांस्कृतिक निबंध संग्रह है। इसमें एक स्थान पर वे लिखते हैं --

'इंसान को शरीर की भाषा पर उतार कर उसकी समस्याओं का निपटारा टटोलना बेकार है। इंसान को न समझने में ऐसी कोशिश का आरंभ

---

1 जैनेन्द्रकुमार : मन्थन, पृष्ठ० ३८६।

होता है। सहानुभूति का उसमें अभाव होता है। इससे जितनी ही यह चेष्टा वैज्ञानिक होती है, उतनी ही व्यर्थ होती है। आशय कि मैं उससे सहमत नहीं हो पाता हूँ जो संस्कृति को दूर की, ऊपर की कोई भव्य भव्य वस्तु मानकर संतोष मानते हैं और बुनियाद में ही उसे नहीं लेना चाहते। संस्कृति जो नींव नहीं है, सिर्फ शिखर है, एक आडम्बर है। राजनीति जो संस्कृति को साध्य के रूप में आगे रखकर साधन के रूप में साथ नहीं रखती है, भ्रम और प्रपंच ही उत्पन्न कर सकती है। संस्कृति एक सम्मान है, एक वृत्ति है, जिसको अंगीकार हम नहीं करते तो आवश्यक अर्थ होता है कि विकृति को हम स्वीकार करते हैं।[1] इस प्रकार उन्होंने स्पष्ट शब्दों में सांस्कृतिक मूल्यों को स्वीकारा है। वे संस्कृति को उथली या केवल मात्र भव्य वस्तु ही नहीं मानते, अपितु संस्कृति को वे नींव मानते हैं, जिसके बल पर ही भव्य शिखर खड़े रह सकते हैं।

जैनेन्द्र ने सत्यं, शिवं सुंदरम् के मूल्यों की भी चर्चा की है। वे मानते हैं कि सत्य, शिव और सुंदर तीनों एक ही वज़न के शब्द नहीं हैं। इनमें क्रम है, अंतर है। सत्य, सत्य है वह और कुछ भी नहीं है।[2] सत् का भाव सत्य है, जो है वह सत्य के कारण है, उसके लिए है। अतः इस दृष्टि से तो असत्य कुछ है ही नहीं, वह कोरी मानव कल्पना है। सत्य, शिव और सुंदर यह व्याख्यात्मक पद ही नहीं है, सजीव पद है। जीवन का लक्षण है, गति। और इस पद में गति है, उद्बोधन भी है। इसमें सुंदर से क्रमशः शिव और सत्य की ओर प्रयाण करने का ज्वलन्त भाव भरा हुआ है। परन्तु सुंदर की एक मर्यादा है, शिव की भी मर्यादा है और इन दोनों की ही मर्यादा[3] है सत्य। सत्य में सब कुछ अपनी मर्यादाओं सहित समाहित हो जाता है।

सत्य को जैनेन्द्र ने अंतिम सचाई माना है, जिसके दो पहलू शिव और सुंदर हैं। क्योंकि सत्य, शिव और सुंदर के माध्यम से ही मूर्त

---

1 जैनेन्द्र : पूर्वोदय, पृ०सं० १६५।

2 जैनेन्द्र : निबन्ध सत्य शिव सुंदर।

होता है । सत्य शिव रूप में ध्येय और सुंदर रूप में दृष्टिगोचर होता है । सत्य को शिव बनाकर उसका ध्यान करना अपेक्षाकृत सरल है और शिव को सुंदर रूप में साकार करके देखना और भी सहज है । कलाकार सुंदर से चलकर शिवत्व की ओर उन्मुख हो सकता है और शिवत्व से आगे बढ़कर सत्य का साक्षात् कर सकता है । किन्तु जैनेन्द्र जी मानते हैं कि कलाकार को इस सत्य का साक्षात्कार तभी हो सकता है, जब कि उसमें प्रेम और विनय हो ।प्रेम और विनय का विरोधी अहंकार, सत्य प्राप्तिमें निषिद्ध है । सत्य,शिव और सुंदर की उपासना में अहंकार ही सबसे बड़ा बाधक है । वे कहते हैं कि --

"साहित्य की कसौटी वह संस्कार शीलता है, जो हृदय से हृदय का मेल चाहती और एकता में निष्ठा रखती है । सहृदय का चित्त मुदित करता है, वह साहित्य खरा । संकुचित करता है वह खोटा ।"[1]

आकांक्षा से अलग करके जैनेन्द्र सौन्दर्य का अस्तित्व ही नहीं मान सकते । वे मानते हैं कि सौन्दर्य का अस्तित्व अनुभूति की अपेक्षा से है क्योंकि सौंदर्य शब्द ही गुणवाचक है अर्थात् रूप भीतर से गुण है । जो अव्यक्त है उसे गुण कहा तब इसी के व्यक्त भावको रूप कह दिया । गुण ही इन्द्रिय ग्राह्य होकर रूपमय हो जाता है । सौन्दर्य एक चैतन्य भाव है । "कहा जाता है कि सौन्दर्य की पहचान के लिए आँखें चाहिए । इसका मतलब यही तो हुआ कि पहचान वाली आँख के अभाव में सौन्दर्य नहीं के बराबर है ।"[2]

मूल्यों के तौर पर जैनेन्द्र सर्वोपरि स्थान आनन्द को देते हैं --

"लेकिन वह ब्रह्मानंद की दिशा में उठने वाला आनंद है, जो प्लेजर से अधिक हैपिनेस है, मजेदार से अधिक प्रसन्न है । यह आनंद कहीं बंद और आवृत नहीं होता है । पानी में कंकरी पड़ने से जैसे लहरों को कम्पन सब ओर

---

1 जैनेन्द्र कुमार : साहित्य का श्रेय और प्रेय, पृ० सं० १३३ ।

2 जैनेन्द्र कुमार : प्रस्तुत प्रश्न, पृ०सं० ११८ ।

तट तक पहुँचे बिना नहीं रहता, वैसे ही इस आनंद का कंपन भी अखिल को प्राप्त होता है। इसके विरोध में वह जो दूसरा प्लेजर और मजे वाला आनंद है, वह हटते-हटते मानो अंत में अपने अहं में सिमट आना चाहता है।[1]

आनन्द स्वयं स्पन्दनशील तत्त्व है। वह गति की निरंतरता में है। इससे आनंद प्रयत्न में है न कि फल में। और प्राप्त की उपयोगिता तभी तक है जब तक अप्राप्य की ओर प्रयत्न जारी है। वह प्रयत्न जितना ढीला है, प्राप्त का आनंद भी उतना ही स्खलित है।[2]

आनंद अनुभूति है, ऐसा भी जैनेन्द्र जी मानते हैं। आनंदहीन साधना उतनी ही निरर्थक है, जितना साधनाहीन आनंद निष्फल है, परंतु वे सौंदर्याभिमुख आनन्दोत्सुक प्रवृत्ति का धर्म नैतिक उद्देश्यों का अनुगमन करने को मानते हैं अर्थात् वे कलात्मक प्रवृत्तियाँ जिनका लक्ष्य सुंदर है, उन वृत्तियों के साथ समन्वय साधे जिनका लक्ष्य कल्याण साधन है। दूसरे शब्दों में कला नीति समन्वित हो। इस प्रकार इन मंतव्यों से ज्ञात होता है कि जैनेन्द्र जी ने आनंदात्मक मूल्यों को बहुत अधिक महत्त्व दिया, अपने साहित्य चिन्तन में।

सृजनात्मक मूल्यों में वे प्रतिभा की अपेक्षा कल्पना को अधिक महत्त्व देते हैं। परन्तु वे श्रद्धामूलक कल्पना की श्रेष्ठता ही स्वीकार करते हैं, विवेक विमुक्त कल्पना के विषय में वे मानते हैं कि वह सर्जन नहीं कर सकती।

'साहित्य के मूल में यदि कल्पना है तो वह श्रद्धामूलक है, अन्यथा विवेक विमुक्त कल्पना धोखा दे सकती है, निर्माण और सर्जन नहीं कर सकती। कल्पना में विचरने वाला विचारक साधनाशील से कल्पनाशील

---

१ जैनेन्द्र : प्रश्न और प्रश्न १, पृ०सं० २३७।

२ जैनेन्द्र : प्रस्तुत प्रश्न, पृ०सं० ७२।

अधिक हो जाता है, वास्तव से अधिक अवास्तव में वह रह सकता है,[1] परंतु समाज ष अधिकतर ऐसे साहित्य में अनुरंजन हो पाया करता है ।

प्रतिभा के जैनेन्द्र जी कायलनहीं हैं । वे मानते हैं कि प्रतिभा अधिकांश एकांगी होती है- प्रतिभा द्वन्द्वज है । वे कहते हैं --"प्रतिभा नहीं मुझे साधना चाहिए । प्रतिभा शब्द में यह गर्भित है कि कोई व्यक्ति जन्म से प्रतिभाहीन भी हो सकता है । मैं यह नहीं मानना चाहता । यह तो ईश्वर के प्रति पक्षपात का आरोप लगाना ही हुआ कि हम मानें कि अमुक को तो प्रतिभावान पैदा किया गया है और हमें प्रतिभा हीन ही रखा गया है । मैं भरोसा साधन में ही रखता हूँ ।"[2]

अन्त में मूल्यों के सम्बन्ध में जैनेन्द्र जी का यही विचार है कि कोई भी निश्चित मूल्य एकास्क बदलने में नहीं आते, वे शनैः शनैः विकसित होते हैं । इसप्रकार वे इतने बदल सकते हैं कि पहले से एकदम उलटे मालूम होने लगें। लेकिन नये मूल्यों को थोपा नहीं जा सकता, उन्हें उगाना पड़ता है । जैसे वृक्ष धरती के भीतर से उगता है, ऊपर टपकता नहीं है, वैसे ही वर्तमान अतीत में से प्रस्फुटित होता है, भविष्य की ओर से वह प्रक्षिप्त नहीं है ।[3] मूल्यों के बारे में जैनेन्द्र ने जो विचार व्यक्त किए हैं, वे वास्तव में उनके साहित्य-चिन्तन में निहित मूल्य दृष्टि से ही सम्बन्धित हैं ।

गुलाबराय

बाबू गुलाबराय जी के साहित्यिक व्यक्तित्व ने पहले निबंधकार का रूप पाया पश्चात् आलोचक के रूप में सामने आये । अपने जीवन के विविध कार्य क्षेत्रों की भाँति उनकी साहित्याराधना में भी प्रारंभ से ही

---

१ जैनेन्द्र : साहित्य का श्रेय और प्रेय ,पृ०सं० २७५ ।

२ जैनेन्द्र : प्रस्तुत प्रश्न, पृ०सं० २०८ ।

३ वही, पृ०सं० १६३ ।

समन्वयवादी नीति रही है।

गुलाबराय जी हिन्दी साहित्य में एक श्रेष्ठ निबंधकार के रूप में जाने जाते हैं। उनकी प्रतिभा उनके व्यक्तिगत निबंधों में प्रकट हुई है एवं उनके निबंधों का साहित्य में कलात्मक मूल्य है।

बाबू जी ने अपने निबंधों में मूल्यों की चर्चा भी की है, अतः जहाँ वे भारतीय चिन्तन के अनुसार धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष आदि के मूल्यों में विश्वास रखते हैं वहीं वे मार्क्स के आर्थिक सिद्धान्त की आपत्तियों पर भी आस्था रखते हैं, वे तो साहित्य के माध्यम से सभी को सहित करना चाहते थे। उन्होंने साध्यात्मक और साधनात्मक दोनों मूल्य कोटियों की चर्चा की है--

'कलाओं का वर्गीकरण कई आधारों पर किया जाता है। सबसे पहला आधार तो उपयोगिता और सौन्दर्य का है। उपयोगिता भौतिक सुख से सम्बन्धित है, सौन्दर्य मानसिक से। जिन कलाओं में उपयोगिता का प्राधान्य हो वे उपयोगी और जिनमें सौन्दर्य का प्राधान्य हो वे ललित कलाएँ कही जायेंगी। .... जो वस्तुएँ सीधे तौर से हमारे सुख का सम्पादन करती हैं, वे ललित कलाएँ कही जायेंगी और जो साधन रूप से सुख का संपादन करें वे उपयोगी कलाओं में शामिल होंगी। सौन्दर्य स्वयं अपनी उपयोगिता रखता है। सुंदर वस्तु के देखने से चित्त प्रसन्न होता है, काम करने में स्फूर्ति मिलती है।'[1]

इस कथन से स्पष्ट होता है कि गुलाबराय जी ने सौन्दर्य के माध्यम से साध्यात्मक मूल्यों की श्रेष्ठता सिद्ध की है। साध्यात्मक मूल्य साधनात्मक मूल्यों की अपेक्षा वैसे भी श्रेष्ठ ही होते हैं, क्योंकि वे स्वयं में ही उपयोगी होते हैं, सौंदर्य भी चूँकि स्वयं अपनी उपयोगिता रखता है, अतः वह श्रेष्ठ है। सौन्दर्य का विश्लेषण करते हुए वे कहते हैं --

---

1 गुलाबराय : सिद्धान्त और अध्ययन, पृष्ठ० ५८-५९।

'सौन्दर्य बाह्य रूप में ही सीमित नहीं है वरन् उसका आंतरिक पक्ष भी है। उसकी पूर्णता तभी आ सकती है, जब आकृति गुणों की परिचायक हो। सौन्दर्य का आंतरिक पक्ष ही शिवं है। वास्तव में सत्य, शिव और सुंदर भिन्न-भिन्न क्षेत्रों में एक दूसरे के अथवा अनेकता में एकता के रूप हैं।'[१] पुन: कहते हैं--

'मेरा सौन्दर्य-बोध बड़ा व्यापक है। भाव सौन्दर्य, वस्तु सौन्दर्य और कर्म सौन्दर्य तीनों ही उसके व्यापक क्षेत्र में आते हैं। सौन्दर्य में विषयगतता को प्रधानता देता हुआ भी व्यक्ति की रुचि की देन को भी महत्ता देता हूँ।'[२]

यहाँ आपने एक प्रकार से समन्वय स्थापित करने की चेष्टा की है। उसके (सौन्दर्यबोध) उपयोगितावादी स्वरूप का उल्लेख किया है और अंत में सत्यं, शिवं और सुन्दरं की तात्त्विक एकता का प्रतिपादन करते हुए, प्रकाशन करते हुए, क्रमश: इनका सम्बन्ध ज्ञान, कर्म और भाव के क्षेत्रों से जोड़ा है, अर्थात् एक ही तत्त्व ज्ञान के क्षेत्र में सत्य के रूप में, कर्म के क्षेत्र में शिव के रूप में और भाव के क्षेत्र में सौन्दर्य के रूप में लक्षित किया जाता है। सौन्दर्य को पारिभाषित करते हुए आप कहते हैं--

'सौंदर्य भावक्षेत्र का सामंजस्य है। सौन्दर्य को हम वस्तुगत गुणों का रूपों का ऐसा सामंजस्य कह सकते हैं जो हमारे भावों में साम्य उत्पन्न कर हमको प्रसन्नता प्रदान करे तथा हमको तन्मय कर ले। सौन्दर्य रस का वस्तुगत पक्ष है।'[३]

वे सत्यं और सुन्दरं का तादात्म्य या समन्वय भी सम्भव मानते हैं। उनका सत्यं शिवं सुंदरं विज्ञान, धर्म और काव्य के पारस्परिक सम्बन्ध का परिचायक सूत्र भी है।[४]

---

१ गुलाबराय : सिद्धांत और अध्ययन, पृ०सं० १८२।

इस प्रकार बाबू जी में सौन्दर्य-बोध की स्वच्छन्द दृष्टि भी है,किन्तु वह कहीं पर भी पाश्चात्य जगत में चलने वाले साहित्यिक वाद - प्रवादों से निर्मित न होकर भारतीय आदर्श के नैतिक मूल्यों पर आधारित है, जिसमें शालीनता का भव्य भावन अधिक सफलता के साथ हो सका है । गुलाबराय जी आस्तिक होने के कारण साहित्य में कला के माध्यम से आई हुई नैतिकता के पोषक थे ।

इन साध्यात्मक एवं साधनात्मक मूल्यों के अनन्तर बाबू जी ने आनन्दवादी मूल्यों की चर्चा अपने साहित्य-चिन्तन में सर्वत्र की है । रस सिद्धान्त को महत्त्व देते हुए गुलाबराय जी कहते हैं --

'मैंने कला पक्ष की अवहेलना न करते हुए भी भाव पक्ष को अधिक मुख्यता दी है ।[१]' भाव पक्ष को मुख्यता देने का अर्थ है रस की महत्ता स्वीकार करना । काव्य का सार होने के कारण उसमें फलों के रस[२] की भी अभिव्यक्ति वे मानते हैं । रस को उन्होंने ब्रह्मानंद सहोदर कहा है । बाबू साहब के रस विषयक उद्‌गार उनके रस सम्बन्धी मानसिक झुकाव के द्योतक हैं ।

वे साहित्य की उपयोगिता उसके हित सम्पादन में मानते हैं,चूँकि आनन्द भी एक प्रकार का लाभ ही है,इसलिए वे कहते हैं--

'सहित का अर्थ है हितेन सह सहितं अर्थात् जिससे मानव हित का संपादन हो वही साहित्य है । हित उसे ही कहते हैं[३] जिससे कुछ बने, कुछ लाभ हो--विदधातीति हितम् -- आनंद भी एक लाभ है ।' वे अभिव्यक्तियाँ ही संरक्षणीय होती हैं, जिनके द्वारा मानव समाज का हित हो अथवा जो मनुष्य के आनंद का कारण बन सके --

'हमारी जीवनधारा की आनंदमयी अभिव्यक्ति ही तो साहित्य है ।[४]'

---

१ गुलाबराय : अध्ययन और आस्वाद,पृ०सं० ५८ ।
२ गुलाबराय : सिद्धांत और अध्ययन,पृ०सं० ४२ ।
३ गुलाबराय : काव्य के रूप,पृ०सं० ३
४ वही, पृ०सं० ५ ।

काव्य में भी वे आनन्द का प्राधान्य मानते हैं। उसे वे आनंद रस से सिंचित जीवन-विटप का एक उत्तम फल कहते हैं[1]। तथा साथ ही साथ यह भी मानते हैं कि कविता चाहे जितनी स्वांत: सुखाय लिखी जाये कवि का परिश्रम तो तभी सार्थक होता है, जब कि उसकी कविता का कोई रसास्वाद भी करे[2]। अपनी 'सिद्धान्त और अध्ययन' नामक पुस्तक में वे यह भी मानते हैं कि कविता ह्लादैकमयी है। उसकी उत्पत्ति में आह्लाद है, स्रष्टा को आह्लाद प्रदान करती है और फिर वही आह्लाद पाठक में संक्रमित हो जाता है-- आनंद की झलक मिल जाती है। माधुर्य को भी वे चित्त का द्रवणशील पदार्थ कहते थे[3]।

आनन्दवादी एवं सौन्दर्यात्मक मूल्यों की विस्तृत विवेचना करने के अतिरिक्त गुलाबराय जी ने सृजनात्मक मूल्यों पर भी विचार किया है। वे यह मानते थे कि निबंधकार अथवा लेखक अपनी प्रतिभा के मेल से साधारण को भी असाधारण बना देता है-- 'जीवन की सिकता भी उसकी प्रतिभा के प्रकाश में रजतकणों की भाँति जगमगा उठती है[4]।'

प्राय: लोग प्रतिभा को सहज ही मानते हैं, किंतु कुछ लोग उसे स्वेदजनक परिश्रम भी कहते हैं। गुलाबराय जी कहते हैं कि --

'जहाँ तक अपने भावों को दूसरों तक पहुँचाने की बात है, वहाँ तक कवि और भावक की प्रतिभा एक ही होती है, किन्तु सृजन और आस्वादन की प्रतिभा में अंतर है[5]।'

---

१ गुलाबराय : काव्य के रूप, पृ०सं० ११ ।

२ वही, पृ०सं० १४ ।

३ गुलाबराय : सिद्धान्त और अध्ययन ।

४ गुलाबराय : काव्य के रूप, पृ०सं० २३५ ।

५ गुलाबराय : सिद्धान्त और अध्ययन, पृ०सं० ८६ ।

कवि की प्रतिभा एक असाधारण प्रकार की कल्पना ही है, क्योंकि कवि कुछ अनुभव करता है तो उसी को तो अपनी कल्पना के माध्यम से व्यक्त करने का प्रयत्न करता है। प्रतिभा होने पर वह उसे तुरन्त अत्यधिक सरलता के साथ व्यक्त करने में सफल भी हो जाता है। अतः कल्पना एवं प्रतिभा का अत्यधिक निकट का सम्बन्ध है, ये दोनों सृजनात्मक मूल्यों को उत्पन्न करने में सहायक होती हैं। अतएव इनके अभाव में सृजन असम्भव हो जाता है। बाबू जी कहते हैं :--

'कल्पना का कार्य अनुभूति और अभिव्यक्ति दोनों में है। कवि की प्रतिभा भी तो एक असाधारण प्रकार की कल्पना है। वह संकल्पित और असंकल्पित कल्पना के बीच की चीज है। अपने यहाँ प्रतिभा को दो प्रकार का माना है, कारयित्री जो कि कवि और रचयिता में होती है और भावयित्री जो कि भावक, आलोचक या सहृदय पाठक में होती है। स्वप्न में बुद्धि का नियंत्रण नहीं रहता, प्रतिभा में नियंत्रण रहता है। स्वप्न में भी नवीनता का अभाव नहीं, किन्तु प्रतिभा में नवीनता की भावना कुछ अधिक रहती है। किन्तु साथ ही वह अधिक बुद्धिसंगत भी होती है।'[1]

प्रतिभा में नवीनता के आधिक्य को स्वीकार करते हुए वे उसे अधिक बुद्धिसंगत भी कहते हैं। इन दोनों के संयोग से ही सृजन संभव होता है एवम् प्रतिभा के आधिक्य के कारण नवीनता का समावेश होने से वह श्रेष्ठ कोटि का हो जाता है।

सृजनात्मक मूल्यों के अनन्तर हम बाबू जी द्वारा विवेचित अन्य मूल्यों को लेते हैं -- वे चाहते थे कि हम सब एक ऐसे समाज में रहें जहाँ सबसे अधिक पारस्परिक सहयोग हो एवं वे यह भी चाहते थे कि सब सामाजिक विकास के लिए ही साहित्य रचना हो। क्योंकि समाज विरोधी विषयवस्तु के वर्णन या

---

१ गुलाबराय : सिद्धान्त और अध्ययन, पृ०सं० १०२।

चित्रण से समाज के बहुसंख्यक लोग आनंदलाभ नहीं कर सकते । इसीलिए वे ज्यादा अच्छा यही मानते थे कि हम बहुजनहिताय को ही कला के वर्ण्य विषय का नियामक मानें । इसमें उनकी लोकमंगल की भावना अन्तर्निहित है -- 'वास्तव में पूर्णता ही में आनंद है । भूम वै सुखम् व्यक्ति की पूर्णता समाज में है,इसीलिए लोकहित का महत्त्व है । हितं वा शिवं वही है जो लोक(जहाँ लोक का अर्थ परलोक के विरोध में नहीं है) को बनावें और लोक को लाने का अर्थ है व्यक्तियों की भौतिक, मानसिक और आध्यात्मिक शक्तियों में सामंजस्य स्थापित कर उनको सुसंगठित और सुसम्पन्न एकता की ओर ले जाय ।'[1]

गुलाबराय जी ने मनोरंजन को भी साहित्य में स्थान दिया है । उनका हास्य शिष्ट एवं साहित्यिक है । उनके साहित्य को पढ़ते हुए आराम से हास्य की छींटों का आनंद ले सकते हैं ।

डॉ० रामविलास शर्मा

प्रगतिशील विचारक रामविलास शर्मा जी ने साहित्य में सामाजिक मूल्यों पर विशेष विचार किया है । मार्क्सवाद से प्रभावित शर्मा जी का लक्ष्य जनवादी साहित्य अथवा जनता की तरफदारी करने वाले साहित्य को श्रेष्ठ सिद्ध करना था । उन्होंने समस्त प्रगतिशील साहित्य को जनता की तरफदारी करने वाला साहित्य माना है जो उसकी जातीय विरासत, उसकी साहित्यिक परम्पराओं की रक्षा करने के लिए भी लड़ता है[2] । जनवादी साहित्य की दृष्टि में सम्पूर्ण सामाजिक जीवन मानवता की अविभक्त और वर्गहीन कल्पना को लेकर ही उपस्थित होता है । इसके विस्तार में वर्ग,जाति, व्यक्ति और उनके प्रत्येक स्तर के संघर्ष अन्तर्निहित हैं । मनुष्य का सबसे बुनियादी व्यवहार उत्पादन क्रिया है,खाने पहनने रहने के साधन जुटाने की क्रिया है । मनुष्य के विचारों का बहुत ही नजदीकी सम्बन्ध इस क्रिया से होता है । श्रम के विभाजन के सिलसिले में वर्ग बनते हैं,वर्गों के हित आपस में टकराते हैं ।........ हमारे समाज में जितने वर्ग हैं, उनमें मजदूर

---

1 गुलाबराय : सिद्धान्त और अध्ययन,पृ०सं० ६३ ।

वर्ग ऐसा है, जिसका सम्बन्ध उत्पादन के सबसे आगे बढ़े हुए रूप से है । अपने जीवन की इस परिस्थिति के कारण मजदूर वर्ग समाज को बदलने में अग्रदल की भूमिका अदा करता है और सभी वर्गों की अपेक्षा वह सबसे आगे बढ़ी हुई विचारधारा का वाहक बनता है । प्रत्येक युग में कोई विशेष वर्ग और उस वर्ग के प्रतिनिधि साहित्य के निर्माण में अगुवाई करते हैं । आज के युग में यह काम मजदूर वर्ग और उसके प्रतिनिधियों द्वारा सम्पन्न हो रहा है[१] । जनसाधारण के प्रति रुचि होने के कारण शर्मा जी की मजदूर वर्ग के प्रति भी विशेष सहानुभूति है । इस वर्ग के प्रति सहानुभूति होने के कारण ही उन्होंने वर्गहीन समाज की कल्पना की है तथा साहित्य में भी सामाजिक मूल्यों को ही विशेष महत्त्व दिया है ।

शर्मा जी कवि का कर्तव्य ही यह मानते हैं कि वह सामाजिक विकास में योगदान दे तथा अपने योगदान द्वारा समाज में सुरुचि में विकसित करे । अगर कवि अथवा लेखक जनता के सम्पर्क में रहकर ही रचना करता है तभी उसकी रचना श्रेष्ठता को प्राप्त होगी अर्थात् जनसाधारण के विचारों से अनभिज्ञ रहकर कभी भी श्रेष्ठ रचना उत्पन्न नहीं हो सकती-- कवि का कर्तव्य है कि वह सामाजिक विकास में सहायता दे, समाज के विभिन्न अंगों को सुरुचि और संस्कृति की ओर विकसित करने के लिए लोगों को प्रभावित करे । हमें यह न[२] भूलना चाहिए कि उच्चकोटि की कविता जन सम्पर्क से दूर रहकर नहीं पनप सकती । यह समझना कि जनता के जीवन को निकट से देखने से कवि का भावजगत धुंधला हो जायेगा या उसके अन्तस्तल[३] की कोमल वृत्तियों का सर्वनाश हो जायेगा, एक प्रवंचना छोड़कर और कुछ नहीं है । जनता[४] का चित्रण करके अपनी कला अधिक विकसित और आकर्षक बनाई जा सकती है । इस प्रकार शर्मा जी जनता का चित्रण करने

---

१ डॉ० रामविलास शर्मा : लोकजीवन और साहित्य,पृ०सं० १३ ।
२ वही : संस्कृति और साहित्य,पृ०सं० २३-२४ ।
३ वही ,पृ०सं० २०७ ।
४ वही,पृ०सं० २०७ ।

वाली कला को श्रेष्ठ कहते हैं ।

संस्कृति का उद्गम उन्होंने समाज को ही माना है तथा मानव संगठन के बिना संस्कृति की कल्पना को भी असम्भव सिद्ध कर दिया है । वे कहते हैं कि संस्कृति तो अपने जन्म से ही मनुष्यों के परस्पर मिले जुले जीवन का प्रतिबिम्ब बन जाती है तथा मानसिक धरातल पर वह उनके भौतिक सम्बन्धों का प्रतिरूप उपस्थित करती है[१] ।

शर्मा जी ने साहित्य के मूल्यों को स्थायी माना है, निरपेक्ष रूप से नहीं,अपितु सापेक्ष रूप से । इन साहित्यिक मूल्यों को (जो कि स्थायी हैं) वे देशकाल की सीमाओं में निरन्तर विकास करती हुई मानव जाति की संस्कृतिक निधि के रूप में ही देखते हैं -- साहित्य के मूल्य स्थायी हैं और मनुष्य ने अपने सुदीर्घ विकास क्रम और जीवन संघर्ष के बीच ही उन्हें पाया है । आधार,निद्रा, भय और मैथुन, पशु और मनुष्य में समानरूप से हैं । रूप,रस,गंध, स्पर्श आदि के इन्द्रिय बोध मनुष्य और पशु में समानरूप से विद्यमान हैं, लेकिन समान मात्रा में नहीं, समानरूप से विकसित नहीं । अपने सामाजिक जीवनक्रम में मनुष्य जहाँ पशुओं से भिन्न स्तर पर विकसित हुआ है, वहाँ उसने अपने इंद्रिय बोध का भी परिष्कार किया है । शब्द पर मुग्ध होना, रंगरूप पर रीझना, उसके विवेक का परिचायक है । रूप और शब्द के बिना न तो संसार की सत्ता सम्भव है और न साहित्य की[२] ।

मनुष्य के व्यक्तित्व का विकास भी शर्मा जी ने सामाजिक जीवन से ही सम्भव माना है,अत: व्यक्ति और समाज की स्वाधीनता भी उनकी दृष्टि में परस्पर विरोधी न होकर एक दूसरे के आश्रित हैं-- साहित्य के रूप और उसकी विषयवस्तु का बहुत गहरा सम्बन्ध है । ये एक दूसरे से एकांत भिन्न तत्व न होकर परस्पर सम्बद्ध, एक दूसरे को प्रभावित करते हैं[३] । साहित्य में विचारों की

---

१ डॉ० रामविलास शर्मा : प्रगति और परम्परा,पृ०सं० ६७ ।

२ डॉ० रामविलास शर्मा : स्वाधीनता और राष्ट्रीय साहित्य,पृ०सं० २४

३ वही,पृ०सं० ३४ ।

भूमिका को उन्होंने अत्यधिक महत्त्व प्रदान किया है तथा उसे स्थापत्य,शिल्प, चित्रकला और संगीत से उच्चकोटि का स्थान दिया है । वे मानते हैं कि जिसके पास उच्चकोटि के विचार होते हैं तथा साथ ही भावावेश होता है वह व्यक्ति बहुत श्रेष्ठ साहित्य रच सकता है, कलात्मक रूप दे सकता है-- जिसके पास उच्च-कोटि के विचार भी नहीं हैं, भावावेश नहीं है, यथार्थ का गहरा ज्ञान नहीं है, वह केवल कला को निखारने की कोशिश करके उत्कृष्ट साहित्य नहीं रच सकता । जिसके पास ये चीजें हैं,उसके पास मूलवस्तु है, प्रयत्न करने पर वह उसे कलात्मक रूप दे देगा[१] ।

रामविलास जी ने साहित्य को आर्थिक परिस्थितियों से नियमित अवश्य माना है,किन्तु उनका सीधा प्रतिबिम्ब नहीं । वे उसकी अपनी सापेक्ष स्वाधीनता स्वीकार करते हैं । मानव सम्बन्धों से परे तो वे साहित्य की कल्पना ही नहीं करते-- मनुष्य साहित्य में अपने सुख-दुख की बात ही नहीं सुनता, वह उसमें आशा का स्वर भी सुनता है । साहित्य थके हुए मनुष्य के लिए विश्रांति ही नहीं है, वह उसे आगे बढ़ने के लिए उत्साहित भी करता है[२] ।

सामाजिक मूल्यों के अतिरिक्त उन्होंने साहित्य में सौंदर्य और आनन्द की सत्ता को भी स्वीकार किया है,किन्तु इनका सम्बन्ध भी वे किसी न किसी ढंग से जनता से अवश्य जोड़ देते हैं । सौन्दर्य का स्रोत जनता है ।समाज के भीतर जो जीर्ण और मरणशील तत्त्व है, जो जीवन्त और उदीयमान तत्त्व है, इनके बाहर सुंदर असुंदर की सत्ता नहीं है । जो जीवन्त और उदीयमान हैं, उनके लिए सुंदरता सत्य में है, अज्ञान, अत्याचार और अन्याय की दुनिया को बदलने में है, सुख और शांति के उज्ज्वल भविष्य की ओर बढ़ने में है । साहित्य उस मंजिल तक पहुँचने का शक्तिशाली साधन है[३] । इस प्रकार उन्होंने सौन्दर्यद्वारा निर्मित

---

१ डॉ० रामविलास शर्मा : प्रगतिशील साहित्य की समस्याएं,पृ०सं० ८-९ ।
२ डॉ० रामविलास शर्मा : स्वाधीनता और राष्ट्रीय साहित्य,पृ०सं० ७९ ।
३ डॉ० रामविलास शर्मा : लोकजीवन और साहित्य,पृ०सं० १५ ।

मंजिल तक पहुँचने का शक्तिशाली साधन साहित्य को माना है । सौन्दर्य और उपयोगिता को भी शर्मा जी ने परस्पर सम्बद्ध कर दिया है और दोनों में से किसी एक के भी अभाव में साहित्य रचना को असम्भव माना है । यह सौंदर्य इन्द्रियबोध तक सीमित नहीं है, इसका क्षेत्र अधिक विस्तृत है । यद्यपि शर्मा जी सौंदर्य और उपयोगिता में विरोध का आभास पाते हैं,परन्तु साथ ही वह यह भी मानते हैं कि दोनों की द्वन्द्वात्मक एकता के बिना साहित्य रचना असम्भव है ।[१] उन्होंने सौन्दर्य जैसे सूक्ष्म तत्त्व को भी मानव का हित साधने के लिए माना है । सहृदय कवियों के लिए सुंदर कर्म से बाहर सौंदर्य की सत्ता वे नहीं मानते,क्योंकि उनका विश्वास है कि सहृदय कवियों का साहित्य मानव कर्म से प्रभावित होता है-- मानव कर्म को प्रभावित करता है-- जैसे वह मनुष्यों के बाहर मनुष्यता की सत्ता नहीं है वैसे ही सुंदर वस्तुओं(सुंदर भावों,विचारों) से बाहर सौंदर्य की सत्ता नहीं है । और तमाम सुंदर वस्तुएँ, तमाम सुंदर भाव-विचार मनुष्य के लिए हैं, उसकी सेवा करने के लिए , उसका हित साधने के लिए है । साहित्य भी मनुष्य के लिए है, साहित्य का सौंदर्य मनुष्य के उपयोग के लिए है, मनुष्य साहित्य के लिए नहीं है ।[२] वे सौन्दर्य की उपयोगिता की चर्चा करते हुए इस बात पर भी प्रकाश डालते हैं कि साहित्य शास्त्री सौन्दर्य की उपयोगिता से[३] जितना ही इंकार करते हैं, वे उसका उतना ही उपयोग या उपभोग भी करते हैं । सुखी जीवन के लिए भी शर्मा जी ने सौंदर्य की अनिवार्यता महसूस की है,इसीलिए वे कहते हैं कि सुखी जीवन के[३] लिए आवश्यक है कि हम जो काम करें वह सुंदर हो और उसमें हमें आनंद मिले । इस प्रकार सौंदर्य को वे साहित्य में भी सदैव मानव के साथ सम्पृक्त करके ही देखते हैं । सौंदर्य को उन्होंने मंगल की भावना के साथ ही भी सम्बद्ध किया है,क्योंकि वे मानते हैं कि जो कुछ भी सुंदर है

---

१ डॉ० रामविलास शर्मा : लोक जीवन और साहित्य,पृ०सं० ७

२ वही,पृ०सं० २

३ वही, पृ०सं० १

वह मंगल है परन्तु साथ ही वे यह भी कहते हैं कि यद्यपि प्रत्येक सुंदर मंगल हो सकता है, किन्तु जो[1] कुछ मंगल हो वह (कलात्मक दृष्टि से) सुन्दर भी हो-- यह आवश्यक नहीं है। साहित्य के कलात्मक सौंदर्य का गहरा सम्बन्ध मनुष्य के इन्द्रियबोध से है। साहित्य की सबसे बड़ी उपयोगिता भी यही है कि उसका मानव चरित्र पर जाति अथवा राष्ट्र पर बहुत प्रभाव पड़ता है-- वे सभी लेखक जो अपनी जनता और साहित्य की जातीय परम्परा को प्यार करते[2] हैं अपनी लोक-मंगलकारी वस्तु के अनुरूप सुंदर शिल्पका निर्माण भी करते हैं। साहित्य के लोक-मंगल की विशेषता (जिससे वह नीति, विज्ञान, दर्शन आदि के लोकमंगल से भिन्न ठहरता है) भी उसकी अभिव्यक्ति में भी है और उसके आंतरिक गठन में भी।

सौंदर्य के अतिरिक्त आनंद की चर्चा भी शर्मा[3] जी ने की है। वे मानते हैं कि साहित्य में हमें रस या आनन्द प्राप्त होता है तथा मनुष्य के हृदय का स्थायी भाव रस नाम ग्रहण करता है, परन्तु साहित्य से जो आनंद प्राप्त होता है, वह किस प्रकार का आनन्द होता है, उसका कर्ममय जीवन पर कैसा प्रभाव पड़ता है ये विचार भी उनके मस्तिष्क में उठते हैं। वे साहित्य से प्राप्त आनन्द में भी बहुत भिन्नता देखते हैं -- साहित्य और कला से हमें आनन्द प्राप्त होता है, परन्तु सभी प्रकार के साहित्य या कला से हमें एक ही प्रकार का आनन्द नहीं प्राप्त हो सकता। मदिरापान के वर्णन से जो आनन्द आता है, क्या वह उसी श्रेणी का है, जिस श्रेणी का भगवद्भक्ति में आए हुए एक गीत का आनन्द है[4]। आनन्द की स्थूलता एवं सूक्ष्मता दोनों पर ही शर्मा जी ने प्रकाश डाला है-- इस विषय में उनकी मदिरापान से प्राप्त आनन्द की बातें द्रष्टव्य हैं-- मदिरा संबंधी कल्पना जो अलौकिक नहीं है, उसके वर्णन से प्राप्त आनन्द का आधार होती है।

---

१ डॉ० रामविलास शर्मा : लोकजीवन और साहित्य, पृ०सं०६।

२ डॉ० रामविलास शर्मा : स्वाधीनता और राष्ट्रीय साहित्य, पृ०सं० ३५।

३ डॉ० रामविलास शर्मा : संस्कृति और साहित्य, पृ०सं० १६०।

४ वही, पृ०सं० १८७-१८८।

इस क मूल कल्पना की स्थूलता का प्रभाव उस सूक्ष्म आनन्द पर भी पड़ता है[1]। साहित्य के शास्त्रीय विवेचन पर से वे ब्रह्मानन्द सहोदर का ववह अवरण हटा देना चाहते हैं जिससे कि अधिक सचाई के दर्शन हो सकें। जीवन से प्राप्त आनंद से साहित्य से प्राप्त आनंद को वे एकदम भिन्न मानते हैं[2]। साहित्य को शुद्ध आनन्द स्वरूप न मानकर उन्होंने अपनी उसकी उपयोगिता भी स्वीकार की है तथा इस उपयोगिता के दृष्टिकोण को मुख्य रखते हुए जिन विद्वानों ने आनन्द प्रदान करने वाले साहित्य की रचना की है, उन्हें ही वे श्रेष्ठ मानते हैं[3]।

कविता के लिए शर्मा जी ने चित्रमय कल्पना भी आवश्यक मानी है[4], क्योंकि इस कल्पना के सहारे ही तो कवि तरह-तरह के रूप पाठक या श्रोता के मन में जगाने में समर्थ होता है। चूँकि कल्पना कल्पना का साहित्य में मुख्य स्थान है और इसी की बदौलत कवि अथवा लेखक सुन्दर साहित्य की सर्जना करते हैं, इसलिए साहित्य का प्रभाव दर्शन और विज्ञान से अधिक व्यापक होता है। कल्पना साहित्य में सौन्दर्य लाती है, व्यापकता लाती है, इसलिए साहित्य में उसको भी शर्मा जी ने महत्ता प्रदान की है।

डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी

द्विवेदी जी का महत्त्व साहित्य के परिवर्तमान मूल्यों के पहचानने तथा उन्हें नवीन मानवतावादी मान्यताओं से जोड़ने में है। इनके अतिरिक्त नवीन मानवतावादी विचारणाओं के संदर्भ में समाकलित करने का तथा मूल्यों को स्वयं बदलने में है।

---

१ डॉ० रामविलास शर्मा संस्कृति और साहित्य, पृ०सं० १८७।
२ वही, पृ०सं० १८७-१९०।
३ डॉ० रामविलास शर्मा : लोकजीवन और साहित्य, पृ०सं० ७।
४ डॉ० रामविलास शर्मा : स्वाधीनता और राष्ट्रीय साहित्य, पृ०सं० २९

द्विवेदी जी ने साहित्य में सर्वाधिक महत्त्व मानव मूल्यों को दिया है । वे कहते हैं कि जो वस्तु मनुष्य के हृदय को इतना संवेदनशील और सहानुभूतिशील बना दे, एक व्यक्ति को दूसरे के सुख दुख में सुखी दुखी बना सके, दूसरे के मनोभावों को समझने का प्रयत्न करे वह बड़ी चीज़ है । वही जब शब्द और अर्थ को आश्रय करके उन्हीं के माध्यम से प्रकट होती है तो साहित्य कही जाती है । इसीलिए साहित्य का प्रयोजन मनुष्य को संकीर्णता और मोह से उठा कर उदार, विवेकी और सहानुभूतिपूर्ण बनाता है[1] ।

किसी ज़माने में वाग्विलास को भी साहित्य कहा जाता रहा होगा, किन्तु इस युग में साहित्य वही कहा जा सकता है,जिससे मनुष्य का सर्वांगीण विकास हो ।

वे कहते हैं-- जो साहित्य अविस्मरणीय दृढचेता चरित्रों की सृष्टि नहीं कर सकता, जो मानव चित्त को मथित और चलित करने वाली परिस्थितियों की उद्भावना नहीं कर सकता और मनुष्य के दुख सुख को पाठक के सामने हस्तामलक नहीं बना देता, वह बड़ी सृष्टि नहीं कर सकता[2] ।

मनुष्य को जीवन के केन्द्र में प्रतिष्ठित करके ही उन्होंने समूचे साहित्य को देखने का प्रयत्न किया है । यह मनुष्य समग्र और मुक्त, एक इकाई के रूप में है-- विभिन्न वर्णों,वर्गों,धर्मों,सम्प्रदायों,जातियों, राष्ट्रों आदि की सीमाओं में बंटा और बंधा मनुष्य नहीं । उन्होंने प्रमाणों एवं उदाहरणों द्वारा बराबर यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि विभिन्न जातियों एवं देशों के बीच आदिकाल से सांस्कृतिक तत्त्वों का आदान-प्रदान होता आया है,क्योंकि सत्य एकदेशीय या एकजातीय नहीं होता । साहित्य और कला भी ऐसे ही सत्य हैं, जिनके सम्बन्ध में द्विवेदी जी कहते हैं --

---

१ डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी : विचार और वितर्क--निबंध साहित्य का प्रयोजन, लोक कल्याण,पृ०सं० ७०-७१ ।

२ डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी : विचार और वितर्क,पृ०सं० १४६-१५० ।

'मनुष्य के सभी विराट प्रयत्नों के मूल में कुछ व्यक्तिगत और समूहगत विश्वास होते हैं, परन्तु जब वे उस संस्कारजन्य प्रयोजन की सीमा का अतिक्रमण कर जाते हैं तो उसमें मनुष्य की विराट एकता और अपार जिजीविषा का ऐश्वर्य प्रकट होता है। फिर वह किसी समूह में आबद्ध न होकर मनुष्य मात्र की सम्पत्ति हो जाता है।'[1] इस कथन से स्पष्ट होता है कि वे मानवमात्र की एकता में विश्वास करते हैं और पाश्चात्य संस्कृति तथा पौर्वात्य या भारतीय संस्कृति के भेद को कृत्रिम मानते हैं। द्विवेदी जी का मानवतावाद यथार्थोन्मुख मानवतावाद है जो इतिहास और विज्ञान से मुँह मोड़कर चलने वाला नहीं है।

उनका साहित्य, संस्कृति, आलोचना उनके शोध सभी कुछ मानव के लिए हैं यह मानववादी दृष्टिकोण उनकी समस्त आलोचनात्मक कृतियों का प्राण है। अत: वे कहते हैं--

' मैं साहित्य को मनुष्य की दृष्टि से देखने का पक्षपाती हूँ,जो वाग्जाल मनुष्य को दुर्गति,हीनता और परमुखापेक्षिता से बचा न सके,उसे जो उनकी आत्मा को तेजोदीप्त न बना सके, जो उसके हृदय को परदुःखकातर और संवेदनशील न बना सके, उसे साहित्य कहने में मुझे संकोच होता है।'[2]

द्विवेदी जी ने मानवतावाद के दो लक्षण माने हैं--एक तो मनुष्य की महिमा को स्वीकार करते हुए मानवीय मूल्यों में विश्वास रखना[3] दूसरे मनुष्य को दुखशोक से बचाते हुए सुख समृद्धि से पूर्ण करना।मानवतावादी जीवनदर्शन नीति अनीति का नया अर्थापन नहीं करता। वे लिखते हैं --

'जो साहित्य हमारी वैयक्तिक क्षुद्र संकीर्णताओं से ऊपर उठा ले जाये और सामान्य मनुष्यता के साथ एक कराके अनुभव करावे, वही उपादेय है। उसके भावपक्ष के लिए किसी देश विशेष की नैतिक आचार परम्परा का मुँह

---

१ हजारीप्रसाद द्विवेदी : साहित्य का मर्म,पृ०सं० ३६।

२ हजारीप्रसाद द्विवेदी : विचार और वितर्क,पृ०सं० ४००-४०० अशोक के फूल,पृ०१७६

३ हजारीप्रसाद द्विवेदी : अशोक के फूल, पृ०सं० विचार और वितर्क,पृ०सं०१११।

जोड़ना आवश्यक नहीं है । हमें दृढ़ता से केवल एक बात पर अटल रहना चाहिए और वह यह कि जिसे काव्य,नाटक या उपन्यास साहित्य कहकर हमें दिया जा रहा है, वह हमें पशुसामान्य मनोवृत्तियों से ऊपर उठाकर समस्त जगत के सुख दुख को समझने की सहानुभूतिमयी दृष्टि देता है या नहीं । हमें उस एक ही अनुभूति में सहायता पहुँचा रहा है या नहीं जिसे व्यक्ति ने अपने अनेक स्वार्थों के बलिदान के बाद उपलब्धि योग्य बनाया है । जो भी साहित्य इसके बाहर पड़े अर्थात् हमारी पशु सामान्य वृत्तियों को बड़ा करके दिखावे-- हमें स्वार्थी और खंड विच्छिन्न बनावे, हम साहित्य नहीं कह सकते-- चाहे जितने बड़े साहित्यिक दल या सम्प्रदाय का समर्थन उसे प्राप्त हो ।[1] द्विवेदी जी का मानवतावाद आदर्शवादी मानवतावाद है ।

आचार्य शुक्ल के समान ही समाज निर्माण, लोक संग्रह, मानवहित आपके साहित्य का आदर्श है । कला के लिए कला नहीं, जीवन के लिए। साहित्य साधन है साध्य नहीं । मानव ही साहित्य का लक्ष्य है-- 'मानव हित निर्माण, मानव जीवन, को नवीन प्राण जो न दे, वह साहित्य क्या ? मनुष्य को ही उन्होंने साहित्य का लक्ष्य माना है[2] ।

आचार्य शुक्ल ने रस तत्त्व को लोकमंगल की भावना के साथ जोड़ दिया था,किन्तु उनका लोक अपरिभाषित रह गया । द्विवेदी जी ने रस तत्त्व को मानवतावाद से जोड़ा है और अपने मानवतावाद को समष्टि मनुष्य के आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक शोषण से मुक्ति की भावना के रूप में परिभाषित भी कर दिया है ।

साहित्य की नयी मान्यताएँ नामक शीर्षक निबन्ध में आधुनिक मानवतावाद की विशेषताओं पर विचार करते हुए द्विवेदी जी ने उसकी दुर्बलताओं की ओर ध्यान आकृष्ट किया है और थोड़ा आविष्ट होकर कहा है --

---

१ हजारीप्रसाद द्विवेदी : विचार और वितर्क,पृ०सं० २७७-२७८ ।

२ हजारीप्रसाद द्विवेदी : अशोक के फूल, पृ०सं० १७६-१८० ।

मानवतावाद ठीकहै । पर मुक्ति किसकी ? क्या व्यक्ति मानव की ? नहीं । सामाजिक मानवतावाद ही उत्तम समाधान है । मनुष्य को व्यक्ति मनुष्य को नहीं ,बल्कि समष्टि मनुष्य को आर्थिक, सामाजिक और राजनैतिक शोषण से मुक्त करना होगा ।[1] तात्पर्य यह कि द्विवेदी जी ने साहित्य में जिस मनुष्य को प्रतिष्ठा की है, वह आत्मकेन्द्रित या आत्मलीन मनुष्य न होकर सामाजिक मानव है । उनको दृष्टि अन्तत: जिस सामाजिक मानवतावाद पर आकर टिक गई है, उसका निर्माण उन्होंने मानवतावाद की अनेक भूमियों को टटोल कर अपने अध्ययन और अनुभव के बल पर किया है । वे मानते हैं कि सारे प्रतिकारों का सामंजस्य एक ही बात से होगा और वह है-- मानव का हित । हमारे समस्त प्रयत्नों का लक्ष्य एकमात्र वही मनुष्य है ।..... सत्य वह नहीं जो मुख से बोलते हैं,सत्य वह है जो मनुष्य के आत्यंतिक कल्याण के लिए किया जाता है ।[2]

यहाँ तक कि द्विवेदी जी साहित्य का उद्देश्य भी यही मानते हैं कि जिससे समूची मनुष्यता लाभान्वित हो, एक जाति दूसरी जाति से घृणा न करके प्रेम करे, एक समूह दूसरे समूह को दूर रखने की इच्छा न करके पास लाने का प्रयत्न करे, कोई किसी का आश्रित न हो, कोई किसी से वंचित न हो, इस महान उद्देश्य से ही हमारा साहित्य प्रणोदित होना चाहिए ।[3]

द्विवेदी जी ने साहित्य को संस्कृति की पृष्ठभूमि में रखकर उसका मूल्यांकन किया और यह सिद्ध किया कि साहित्य और संस्कृति एक दूसरे में अनुस्यूत हैं तथा मानव संस्कृति की चिरंतन विकासमान परंपरा से सम्बन्धित हैं । हिन्दी साहित्य की भूमिका के निवेदन में डॉ०द्विवेदी जी का यही निवेदन है-- हिन्दी साहित्य को सम्पूर्ण भारतीय साहित्य से विच्छिन्न करके न देखा जाये । द्विवेदी जी संस्कृति और साहित्य के क्षेत्र में एक व्यापक समन्वयवाद लिए हुए हैं

---

१ हजारीप्रसाद द्विवेदी : विचार और वितर्क,पृ०सं०११५ ।

२ हजारीप्रसाद द्विवेदी : अशोक के फूल

३ वही ।

और वास्तव में साहित्य और संस्कृति मूलत: समन्वयवादी ही होते हैं। वे इस समन्वयवाद को उस समय तक बराबर अपनाते रहते हैं जब तक कि उसकी मौलिकता नष्ट न हो। वे इस तथ्य को भली भाँति जानते हैं, इसीलिए कहते हैं-- हम व्यर्थ के इस झगड़े में न पड़ जायें कि कोई चीज़ कहाँ तक भारतीय या अभारतीय, आध्यात्मिक या अनाध्यात्मिक है। चीज़ अगर अच्छी है तो वह भारतीय हो या न हो, स्वीकार्य है, आध्यात्मिक हो या न हो ग्राह्य है[1]। वे बार-बार घोषित करते हैं कि सम्पूर्ण भारतीय साहित्य, धर्म, कला, संस्कृति का अनुशीलन सभी मनुष्य को पूर्ण बनाने का साधन मात्र है। लक्ष्य है--मनुष्यता की सिद्धि, उच्चतम मूल्यों की उपलब्धि और मंगल का विधान।

द्विवेदी जी के जीवनमूल्यों को समझने के लिए उनकी संस्कृति की व्याख्या को ठीक से जान लेना आवश्यक है। द्विवेदी जी के अनुसार मनुष्य की श्रेष्ठ साधनाएँ ही संस्कृति है। क्योंकि इन्हीं साधनाओं के माध्यम से वह अविरोधी सत्य तक पहुँच सका है। संस्कृति इसी अविरोधी सत्य का पर्याय है। संस्कृति को वे सभ्यता के चार स्तंभों(आर्थिक व्यवस्था, राजनैतिक संगठन, नैतिक परम्परा और सौंदर्यबोध) के सम्मिलन से बनी हुई मानते हैं। सभ्यता जब कि मनुष्य के बाह्य प्रयोजनों को सहजलभ्य करने का विधान है तो संस्कृति प्रयोजनातीत आंतर आनन्द की अभिव्यक्ति[2]।

सभ्यता और संस्कृति में बड़ा ही घनिष्ठ सम्बन्ध है, क्योंकि किसी भी देश की सभ्यता जितनी ही पूर्ण होगी, उसकी सभ्यता जितनी ही सहज होगी, राजनीतिक संगठन जितना ही पूर्ण होगा, नैतिक परम्परा जितनी ही विशुद्ध होगी, उस देश के वासी भी उसी परिणाम में सुसंस्कृत होंगे, इसीलिए सभ्यता और संस्कृति का सम्बन्ध घनिष्ठ है।

---

१ हजारीप्रसाद द्विवेदी : विचार और वितर्क, पृ०सं० १६४-१६५।

२ हजारीप्रसाद द्विवेदी : अशोक के फूल, पृ०सं० ८३

उन्होंने मानव मूल्यों एवं सांस्कृतिक मूल्यों के अतिरिक्त धार्मिक मूल्यों की चर्चा भी की है । कहते हैं धर्म वही नियामक है, जिसके कारण विश्व स्थित है । धर्म रहित संसार नष्ट भ्रष्ट हो जायेगा, किन्तु ऐसा होना संभव नहीं है, क्योंकि धर्म अधर्म में भी रहता है । धर्म संपूर्ण के अंश में भी विद्यमान हो सकता है, वह संसार की वस्तुओं की प्रवृत्ति में निहित है अतएव इसका अभ्युदय प्रकृति में अनुस्यूत है । धर्म ऊपर से लादा हुआ कोई विधान नहीं है । संसार की जो वस्तु जिस रूप में है, वह उन तत्त्वों की प्रवृत्ति के कारण है जिनके द्वारा उस वस्तु का निर्माण हुआ है । धर्म वस्तुत: सत्ता का प्रकाशन है, वह पूर्णतया तभी नष्ट हो सकता है, जब संसार नष्ट हो जाये । अतएव धार्मिकता के विश्वास करने का अर्थ किसी निरंकुश नियंता के सम्मुख अपनी विवशता में नहीं, अपितु तर्क पर आधारित बुद्धि ग्राह्य सिद्धांतों में विश्वास करना है । धर्म व्यष्टि और समष्टि दोनों का नियमन करता है । यह समष्टि भी अनुरूपात्मक है, जिस सिद्धान्त द्वारा व्यष्टि और समष्टि अंगांगि भाव से सम्बद्ध रहते हैं, वह भी धर्म ही है।[१]

धार्मिक मूल्यों के अतिरिक्त द्विवेदी जी ने सौंदर्यात्मक मूल्यों को भी लिया है । उन्होंने सौंदर्य तत्त्व का मार्मिक विवेचन किया है । हिन्दी में सौंदर्य तत्त्व के मौलिक विवेचन का आरम्भ यहीं से समझना चाहिए । 'ऐसा समझिए कि इस प्रकार का व्यापक मानव चित्त है, जो विश्वजनीन है । जो वस्तु इस समष्टि मानव चित्त को सुंदर लगती है, वही सुंदर है ।'[२]

संपूर्ण सौंदर्य के मंगल में पर्यवसित करने की अखंड आस्था लेकर द्विवेदी जी ने समीक्षा के क्षेत्र में प्रवेश किया है । वे सारे मानव समाज को सुंदर बनाने की साधना को साहित्य मानते हैं । यह साधना मंगल के संकल्प को लेकर ही की जा सकती है । भारतीय संस्कृति की यही देन है और इसी के प्रति निष्ठावान होकर उन्होंने साहित्य के मर्म को हृदयंगम किया है ।

---

१ हजारीप्रसाद द्विवेदी : आलोकपर्व, पृ०सं० ५६ ।

२ वही : कालिदास की लालित्य योजना, पृ०सं० ६० ।

वे सामंजस्य को ही सुंदरता कहते हैं । जिस दुनिया में छोटाई और बड़ाई में , धनी और निर्धन में, ज्ञानी और अज्ञानी में आकाश-पाताल का अन्तर हो, वह दुनिया बाध्य सामंजस्यमय नहीं कही जा सकती और इसीलिए वह सुंदर भी नहीं है । साहित्य सुंदर का उपासक है,इसलिए साहित्यिक को असामंजस्य को दूर करने का प्रयत्न पहले करना होगा । सौन्दर्य और असौंदर्य का कोई समझौता नहीं हो सकता । सत्य अपना पूरा मूल्य चाहता है । उसे पाने का सीधा और एकमात्र रास्ता उसकी कीमत चुका देना ही है[1] ।

दृष्टि की विराटता और समग्रता के कारण ही द्विवेदी जी नीति सौंदर्य,मंगल, सत्य, शास्त्रीयता, स्वच्छन्दता, प्राचीनता,नवीनता, रस उक्ति वक्रता, भौतिकता और आध्यात्मिकता आदि तत्वों में किसी प्रकार का विरोध न देखते हुए सबको यथोचित महत्त्व देते हैं ।

इनके अध्ययन की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि उन्होंने साहित्य को मनुष्य सत्य के संदर्भ में देखा है । मनुष्य को ही साहित्य का लक्ष्य स्वीकार किया है और उस सारे वाग्जाल को साहित्य मानने में संकोच प्रकट किया है,जो मनुष्य की आत्मा को तेजोदीप्त न ला सके --'साहित्य वस्तुत: मनुष्य का वह उच्छलित आनंद है जो उसके अन्तर में अटाए नहीं अट सका था[2] ।' इस आनन्द का आधार एकत्व की अनुभूति है । इस अनुभूति को ही हम मनुष्य का धर्म या मनुष्यता कह सकते हैं ।

द्विवेदी जी ने साहित्य में आनन्दात्मक मूल्यों की प्रतिष्ठा करते हुए साहित्य का उद्देश्य ही ब्रह्मानन्द उत्पन्न करना मान लिया है-- 'साहित्य का उद्देश्य मानव जीवन के गंभीरतम उद्देश्य ब्रह्मानन्द-- को सुलभ करना है। रस भी ऐसा ही आनन्द है । वह भी ब्रह्मानन्द सहोदर है,इसीलिए उसकी अनुभूति

---

१ हजारीप्रसाद द्विवेदी : अशोक के फूल,पृ०सं० १८६ ।

२ ज्ञानशिखा,संख्या १,अक्टूबर,१९५९ई० ।

के प्रकार को लेकर बहुत बहस हुई है पर उसकी अनुभूति और सच्चाई पर कभी संदेह नहीं किया गया है[1]।

आनन्दात्मक मूल्यों के अतिरिक्त वे सृजनात्मक मूल्यों में प्रतिभा तथा कल्पना की चर्चा करते हैं। साहित्य सामाजिक मंगल का विधायक है। वे मानते हैं कि यह सत्य है कि वह(साहित्य) व्यक्ति विशेष की प्रतिभा से ही रचित होता है,किन्तु और भी अधिक सत्य यह है कि प्रतिभा सामाजिक प्रगति की ही उपज है। एक ही मनोराग जब व्यक्तिगत सुख-दु:ख के लिए नियोजित होता है तो छोटा हो जाता है,परन्तु जब सामाजिक मंगल के लिए नियोजित होता है, तो महान हो जाता है,क्योंकि वह सामाजिक कल्याण का जनक होता है।साहित्य में यदि व्यक्ति की अपनी पृथक सत्ता, उसकी संकीर्ण लालसा तथा मोह ही प्रबल हो उठें तो वह साहित्य बेकार हो जाता है[2]।

कल्पना के विषय में उनका विचार है कि वह सत्य को ग्रहण करने में सहायक होती है। यह कल्पना कभी भी सत्य को आच्छादित करके स्वयं प्रमुख स्थान पर अधिकार नहीं कर लेती।

द्विवेदी जी का यह भी कहना है कि इन दिनों तीन बातें मुख्यरूप से दृष्टिगोचर हो रही हैं-- कल्पना,अनुभूति और चिन्तन। जो कि सृजनात्मक मूल्यों में आवश्यक है। वे कहते हैं कि कल्पना में कवि इस युग की परिस्थितियों से ऊबकर मनोरम जगत की सृष्टि करता है, परन्तु जब वह चिन्ता की अवस्था में पहुंचता है तो वह किसी भी चीज़ को शुद्ध मनीषी की भाँति न देखकर उसपर कल्पना का आवरण डालकर देखता है तथा कवि अपने सीमित व्यक्तित्व के भीतर जिस सुख दुख का अनुभव प्राप्त किये होता है, उसे जब वह कल्पना के साहाय्य से, छंद,उपमा आदि के संयोग से और निखिल विश्व की मर्म व्यथा की चिंता करके प्रकट करता है तो उसे हम अनुभूति की अवस्था कहते हैं। अनुभूति की

---

१ हजारीप्रसाद द्विवेदी : साहित्य सहचर,पृ०सं० १५० ।

२ वही, विचार और वितर्क,पृ०सं० २७८ ।

अवस्था में कवि के पैर इस दुनिया में ही जमे रहते हैं, जब कि कल्पना में कवि इस जगत से परे अलौकिक जगत की कल्पना करता है।[1]

द्विवेदी जी ने औचित्यपरक मूल्यों का भी वर्णन किया है। औचित्य का अभाव सर्वत्र खटकता है, परन्तु उपन्यास में तो इसका अभाव बहुत खटकने वाला होता है, क्योंकि औचित्य उपन्यास की जान है। पात्रों के चरित्र-चित्रण में उनकी बातचीत में, उनके वस्त्रालंकारों के वर्णन में, उनकी रीति-नीति के उपस्थापन में सर्वत्र औचित्य की आवश्यकता होती है।[2]

इलाचन्द्र जोशी

इलाचन्द्र जोशी बहुमुखी प्रतिभा के कलाकार हैं। जोशी जी हिन्दी के पहले साहित्यकार हैं, जिन्होंने मानव मन के आन्तरिक स्तरों में अंतर्निहित वासनाओं को शील वैचित्र्य का मूल आधार मानकर उनका चित्रण और विश्लेषण किया। उन्होंने दलितों और उपेक्षितों के प्रति खुलकर सहानुभूति दिखाई और उनको भी मानव की मर्यादा प्रदान की। जोशी जी ने प्राचीन और नवीन हिन्दी साहित्य की प्रवृत्तियों का मनोवैज्ञानिक दृष्टि से मूल्यांकन किया और आलोचना के मनोवैज्ञानिक आधार को व्यावहारिक प्रतिष्ठा दी।

आपके निबन्धों का विषय साहित्य और मनोविज्ञान है या यों कहिए कि साहित्य की मनोवैज्ञानिक व्याख्या है। साहित्य की प्रवृत्ति विशेष या कवि विशेष का मूल्यांकन करते हुए प्राय: आप मनोवैज्ञानिक विश्लेषण करने लगते हैं।

आपने जीवन और कला के प्रति एक बौद्धिक दृष्टिकोण को अपनाया है। अपने ढंग से वे मनोविज्ञान और प्रगतिवाद का नाम लेकर अन्त: और बाह्य के संतुलित सह स्वीकार के लिए प्रयत्नशील हुए हैं, यद्यपि विशेष उपेक्षित तत्त्व

---

१ हजारीप्रसाद द्विवेदी : साहित्य सहचर, पृ०सं० ५८-५६।

मानकर मनोविज्ञान पर उन्होंने अधिक ज़ोर दिया है । वस्तु तो नवीन है, किन्तु विधि पुरानी है । उनके कलात्मक उद्देश्य में एकता मिलती है । वे मानवतावाद की ओर निरन्तर अग्रसर हो रहे हैं ।

आधुनिक हिन्दी साहित्य में मनोविज्ञान के तत्त्वों पर विचार करते हुए जोशी जी ने बताया है कि उसमें उनका समावेश विविध रूपों में हुआ है । उन्होंने मनुष्य की अहंवाद की ऐकान्तिकता पर निर्मम प्रहार किया है । वे स्वयं अपनी औपन्यासिक कृतियों के संदर्भ में विचार करते हुए कहते हैं -- 'मेरे सभी उपन्यासों का प्रधान उद्देश्य व्यक्ति के अहंभाव की एकान्तिकता पर निर्मम प्रहार करने का रहा है । आधुनिक समाज में पुरुष की बौद्धिकता ज्यों-ज्यों बढ़ती चली जा रही है, त्यों-त्यों उसका अहंभाव तीव्र से तीव्रतर और व्यापक से व्यापकतर रूप ग्रहण करता चला जाता है । अपने इस कभी तृप्त न होने वाले अहंभाव की अस्वाभाविक पूर्ति की चेष्टा में जब उसे पग-पग पर स्वाभाविक असफलता मिलती है, तो वह बौखला उठता है और उस बौखलाहट की प्रतिक्रिया के फलस्वरूप वह आत्मविनाश के पहले अपने आस पास के संसार के विनाश की योजना में जुट जाता है ।.... चूँकि वर्तमान युग में अहंवाद और बुद्धिमान का संघर्ष व्यक्तियों के भीतर उसी भीषण रूप में चल रहा है जिस प्रकार बाह्य जगत में सामूहिक अहंवाद और बुद्धिवाद का अन्तर्राष्ट्रीय संघर्ष, इसलिए उपन्यासकार को अत्यन्त जटिल प्रकृत पात्रों का[1] विश्लेषण अत्यन्त गहरे स्तर की मनोवैज्ञानिकता के आधार पर करना पड़ता है ।

जोशी जी मनोविश्लेषणवाद के आलोक में सृजन और मूल्यांकन दोनों करते हैं । कला और नीति की विवेचना करते हुए उन्होंने आनंद को कला का मूल उत्स माना है । आनन्द क्यों मिलता है, इसका कोई कारण नहीं । वह केवल अनुभव किया जा सकता है, उसकी व्याख्या नहीं की जा सकती ।

---

१ इलाचन्द्र जोशी : विश्लेषण, पृ०सं० ८८-८९।

उन्होंने इस आनन्द को शुद्ध, निरपेक्ष, प्रयोजनातीत माना है। अनन्त की वेदना की अनुभूति से आनंद का अनुभव करना ही साहित्य का मूल उद्देश्य है।

वे सौन्दर्यान्वेषी भी हैं, क्योंकि काव्य का चरम लक्ष्य सौन्दर्य ही मानते हैं--

'सौन्दर्य का कोई निश्चित मापदण्ड न होने पर भी उसका झुकाव और विकास एक विशेष आदर्श की ओर होता है। वह आदर्श है आत्मा, हृदय और मस्तिष्क का संयोग, सुंदर, मंगल और सत्य का सामंजस्य।[1] इस प्रकार ज्ञात होता है कि जोशी जी सौन्दर्यान्वेषी हैं। उनकी दृष्टि से काव्य का लक्ष्य प्रयोजनातीत आनंद है। यह सौन्दर्य सृष्टि द्वारा ही सम्भव है। स्थूल नैतिकता से इसका सम्बन्ध नहीं है।[2] पर उनकी सौन्दर्य सम्बन्धी धारणा में मंगल का भी अन्तर्भाव है। जोशी जी कामायनी में इस मंगलमय भावना को ओतप्रोत मानते हैं और उसको साहित्य की श्रेष्ठता का मानदंड भी समझते हैं। वे साहित्य की चिरन्तनता इसी तत्व पर आश्रित मानते हैं। साहित्य में चिरन्तन एवंमंगलमय सौन्दर्य की सृष्टि प्रत्येक कलाकार नहीं कर सकता है।

जोशी जी ने सामंजस्य के सिद्धान्त पर बहुत जोर दिया है। सौन्दर्य और मंगल के सामंजस्य के अतिरिक्त नाशमयी और निर्माणमयी शक्तियों के समन्वय में स्वस्थ साहित्य की प्रेरणा मानी है। जोशी जी का कहना है कि इसी स्वस्थ प्रेरणा शक्ति से[3] प्रभावित होकर जो कवि लिखता है वह युग-युगान्तर में जीवित रह सकता है। वे मानते हैं कि कला पाठक के लिए भी जीवन को सहनीय बनाती है, अर्थात् उसे संघर्ष की शक्ति प्रदान करती है। कहने का तात्पर्य यह कि इन लोगों ने काव्य का बोधनी शक्ति प्रदान करना माना है। इनकी दृष्टि से यही काव्य की मौलिकता है। यह काव्य के प्रयोजन का स्वस्थ दृष्टिकोण है।

---

१ इलाचन्द्र जोशी : विश्लेषण, पृ०सं० १८५।
२ वही : विवेचना, पृ०सं०३०-५१।
३ इलाचन्द्र जोशी : विवेचना, पृ०सं० ६०।

वस्तुत: जोशी जी अवचेतन में संचित होने वाली मानव-प्रवृत्तियों को, मानव के वैयक्तिक, पारिवारिक तथा सामाजिक संगठनों की संचालिका मानते हैं। जोशी जी की विशेषता यह है कि अन्तर्मन को महत्त्व देते हुए भी सचेतन मन की अवहेलना नहीं करते। आप दोनों के समन्वय पर बल देते हैं। आप कहते हैं -- "जब तक कोई लेखक अवचेतन मन के छायास्वप्नों को सचेतन मन की निहाई पर रखकर विवेक के हथौड़े की चोटों से उनका नवनिर्माण नहीं करता, तब तक वह वास्तविक अर्थ में साहित्य निर्माता हो नहीं सकता और न उसका कच्ची अवस्था में दिया हुआ साहित्य पदार्थ और मांगलिक ही हो सकता है।[1]" उन्होंने साहित्य को मांगलिक तभी माना है जब कि वह विवेक से पूर्ण हो। विचार और अनुभूति का सहज समन्वय आपके 'भिन्न रुचिर्हिलोक:' निबन्ध में देखा जा सकता है। वह आपकी सहज मनोवैज्ञानिक दृष्टि का निदर्शन कराने वाला सफल निबन्ध है। आपके निबन्ध प्राचीन एवं नवीन भारतीय तथा हिन्दी साहित्य की मनोवैज्ञानिक व्याख्या प्रस्तुत करते हैं तथा समाज और व्यक्ति की संघर्षशील प्रवृत्तियों के बीच सामंजस्य स्थापित करने की चेष्टा करते हैं। ये स्थूल नैतिकता और चारित्रिकता के स्थान पर सौन्दर्य और मंगल के सामंजस्य पर जोर देते हैं। साहित्य में प्राण शक्ति खोजते हैं, उपदेश या विलासिता नहीं। इस दृष्टि से ये सौष्ठववादी समन्वय के समर्थक हैं।

साहित्य की व्याख्या करते हुए जोशी जी ने साहित्यिक रस का उपयोग सामूहिक मानवहित के उद्देश्य से करना माना है एवं उसमें प्रतिभा का स्पर्श भी आवश्यक बताया है। वे लिखते हैं -- "साहित्य का अर्थ ही वह कला है जो जीवन के सहित अर्थात् साथ हो। इसीलिए आज के अभाव के युग में यदि सच्चे साहित्य का प्रतिष्ठापन करना हो तो उन सब उपकरणों को बटोरना होगा जो यथार्थ जीवन की प्रगति के साथ हैं। जनता की भूख प्यास और आर्थिक संकट की समस्याओं को अपनाकर उन्हें प्रतिभा के रासायनिक स्पर्श से साहित्यिक रस में परिणत करना होगा और फिर साहित्यिक रस का उपभोग सामूहिक मानवहित के उद्देश्य से करना होगा।[2]" मानवहित को मुख्य उद्देश्य साहित्य का माना है। प्रतिभा

---

१ इलाचन्द्र जोशी : विवेचना, पृ०सं०२२।

२ आलोचना, वर्ष १, अंक १, पृ०सं० ५२।

के विषय में उनका कहना है कि --' व्यक्तिगत जीवन के घेरे में बद्ध प्रतिभा का आज कोई मूल्य नहीं है । जो प्रतिभा जन जीवन में सांस्कृतिक और सामाजिक चेतना जगाकर युग के बाह्य और अंतर जीवन से सम्बन्धित महत्त्वपूर्ण समस्याओं के समाधान में सहायक सिद्ध न हो सके वह निष्फला और वन्ध्या है ।'[१] इस प्रकार उनके मत से प्रतिभा को जनजीवन में सामाजिक चेतना जगाने वाली होना चाहिए ।

जोशी जी की सबसे बड़ी विशेषता उपेक्षितों के प्रति उनकी व्यापक सहानुभूति है । मनोविज्ञान का यह शिव पक्ष है । मनोविज्ञान ने पददलितों के प्रति घृणा का भाव दूर करके उन्हें अपनाने की चेतना देकर मानवता का कल्याण किया है । जोशी जी ने उसके इस पक्ष को पूरी निष्ठा के साथ स्वीकार किया है । जीवन जहां कहीं भी मुझे मिलता है, उसी को मैं अपना लेता हूँ ।

डॉ० नगेन्द्र

आधुनिक हिन्दी साहित्य के मूल्यांकन के लिए जिस व्यापक और संश्लिष्ट दृष्टि की आवश्यकता है, नगेन्द्र जी ने उसका विकास विभिन्न प्रेरणा सूत्रों के संग्रथन तथा व्यापक अध्ययन से उपलब्ध मूल्य निर्धारक उपादानों के संयोजन के माध्यम से कर लिया है ।

डॉ० नगेन्द्र ने आलोचक की आस्था निबन्ध संग्रह में प्रथम तीन निबन्धों के अन्तर्गत अपनी साहित्यिक मान्यताओं को स्पष्ट किया है। इस सन्दर्भ में उन्होंने साहित्य सम्बन्धी कई मूलभूत प्रश्नों का समाधान करने की चेष्टा की है । साहित्य का स्वरूप, उसका प्रयोजन, उसमें अन्तर्निहित मूल्य, उसके तत्व और उपादान, अनुभूति और अभिव्यक्ति का सम्बन्ध, उसमें निहित सत्य की युग बद्धता एवं युग मुक्तता आदि प्रश्नों का समाधान नगेन्द्र जी ने अत्यन्त स्पष्ट

---

१ इलाचन्द्र जोशी : विश्लेषण, पृष्ठ० १२१ ।

और सुलझे हुए रूप में किया है । आप साहित्य अथवा सम्पूर्ण वाङ्मय को मूलत: आत्माभिव्यक्ति मानते हैं[1] । आत्म से आपका तात्पर्य कृतिकार के रागात्मक जीवन और उसके आधार पर निर्मित उसके जीवन दर्शन से है । आपने जो कुछ भी लिखा है वह विषय के साथ आपकी साहित्यिक चेतना के जीवन्त सम्पर्क का ही परिणाम है,जिसमें निमित्त कारण अथवा नैमित्तिक परिस्थिति का लवलेश भी नहीं रहा ।

नगेन्द्र जी ने साहित्य में मूल्यों की चर्चा तो की है, किन्तु उसकी उन्हें बहुत चिन्ता नहीं रही है,क्योंकि मानदण्ड और मूल्य आदि शब्दों को वे साहित्य के शब्द नहीं मानते --

'मानदण्ड और मूल्य आदि शब्द मूलत: साहित्य के शब्द नहीं हैं । पाश्चात्य आलोचनाशास्त्र में भी इनका समावेश अर्थशास्त्र अथवा वाणिज्य शास्त्र में किया गया है । जीवन में भौतिक आर्थिक प्रभाव की वृद्धि होने से आर्थिक शब्दावली का भी प्रयोग अन्य क्षेत्रों में होने लगा, तथ्यपरक विषयों के अतिरिक्त सूक्ष्म तत्व परक विषयों के भी मूल्य और मानदंड या मापदंड होने लगे[2] ।' उनके मत से काव्यानंद में ही सभी मूल्य पर्यवसित हो जाते हैं । काव्य के तीन तत्वों-- भाव,कल्पना और बुद्धि में नगेन्द्र भाव को ही प्रमुख मानते हैं । कल्पनागम्य शुद्ध अथवा निर्वैयक्तिक भाव का आस्वाद ही शास्त्र की मर्यादा में रस कहा गया है, इसलिए काव्य के आस्वाद का आनंद रसानुभूति का ही आनंद है । यही काव्य का प्रयोजन भी है । इसी के साथ मूल्य का प्रश्न भी जुड़ा हुआ है । स्वयं नगेन्द्र जी के शब्दों में --' काव्य मूल्य का अर्थ है वह गुण या गुण समवाय, जिसके द्वारा काव्य की सिद्धि का निर्धारण किया जाता है । इस दृष्टि से मूल्य का आधार अन्तत: प्रयोजन ही सिद्ध होता है । काव्य का प्रयोजन जब रस या आस्वाद है तो उसका मूल्य हुआ आस्वाद्यत्व । जिस काव्य में रागात्मक आस्वाद[3] प्रदान करने की क्षमता जितनी अधिक होगी, उतना ही उसका मूल्य होगा ।'

---

१ डॉ० नगेन्द्र : आलोचक की आस्था, पृ०सं० १

२ डॉ० नगेन्द्र : विचार और विश्लेषण,पृ०सं० १० ।

काव्य के संदर्भ में नैतिक और सांस्कृतिक मूल्यों का प्रश्न भी उठाया जाता है । डॉ० नगेन्द्र इनका महत्त्व तो स्वीकार करते हैं,किन्तु इन्हें मौलिक या आत्यंतिक नहीं मानते । अतिनैतिक दृष्टिकोण के प्रति उनका झुकाव शायद इसलिए नहीं है,क्योंकि ये आनंदवादी मूल्यों के विश्वासी हैं । इनके संस्कार जड़भूत नैतिक आदर्शवाद की अपेक्षा सहज मानव मूल्यों के अधिक अनुकूल हैं,किन्तु इससे यह नहीं समझना चाहिए कि इन्होंने नैतिकता की नितांत अवहेलना की है । मेरी समझ से यह कहना उचित होगा कि इन्होंने नैतिकता को मानवता के बाद स्थान दिया है, कारण, इनका निर्भ्रान्त मत है कि मानवता का महत्त्व नीति संहिता से अधिक है और जीवन मूल्यों की सार्थकता नैतिक होने में नहीं,मानवीय होने में है । इनकी प्रारम्भिक कृतियों में तो निश्चय ही नैतिक मूल्यों के प्रति निविड़ अनुरक्ति का कोई संकेत नहीं मिलता है । इधर आकर ये नैतिक मूल्यों के प्रति कुछ उदार होते जा रहे हैं,क्योंकि इनका अतिप्रिय रससिद्धान्त भी तो अन्ततोगत्वा नीतिशास्त्र की दार्शनिक आनंदवादी धारणा के ही अन्तर्गत आता है --

'नैतिक मूल्य अपने उदात्त रूप में अन्तर्भूत हैं,क्योंकि रस सिद्धान्त नीतिविरोधी नहीं है । नीतिविरोधी तत्वों को रसाभास रूप में अभिशंसित कर वह जीवन के स्वस्थ नैतिक दृष्टिकोण का पोषण करता है ।'[1]

डॉ० नगेन्द्र ने अपने परवर्ती साहित्य में रसाश्रित औचित्य की दृष्टि से औचित्य सिद्धान्त के प्रति थोड़ी अनुकूल धारणा व्यक्त की है । रसाश्रित औचित्य इसलिए कि इनकी दृष्टि में औचित्य सिद्धान्त रससिद्धान्त से ही निकला है । अत: औचित्य नगेन्द्र के अनुसार एक प्रकार से रस का अंग है और रस की परिधि में ही औचित्य की सत्ता या सार्थकता है । डॉ० नगेन्द्र ने साहित्य में आत्माभिव्यक्ति के संदर्भ में नैतिक और सामाजिक मूल्यों पर भी विचार किया है । उनके विचार से आत्माभिव्यक्ति का तो महत्त्व है ही, इन मूल्यों का भी

---

1 डॉ० नगेन्द्र : विचार और विश्लेषण,पृ०सं० ३ ।

स्वतन्त्र महत्त्व है । वे नैतिक एवं सामाजिक मूल्य का निषेध नहीं करते । जीवन में नीति और समाज की सत्ता अनिवार्य मानते हैं । मनुष्य सामाजिक प्राणी है, सामूहिक हित उनके व्यक्तिगत हितों से निश्चय ही अधिक महत्त्वपूर्ण है, समाज की संघ शक्ति व्यक्ति की अपनी शक्ति की अपेक्षा निश्चय ही अधिक प्रबल है । समाज के संगठन और हितों की रक्षा करने वाले नियमों का संकलन ही नीति है । समाज के प्रत्येक व्यक्ति को उसकी अपेक्षा करनी होगी । लेखक मनुष्य रूप में समाज का अविभाज्य अंग है । साधारण व्यक्ति की अपेक्षा उसमें प्रतिभा अधिक है,अतएव उसी अनुपात से उनका दायित्व भी अधिक है । जिस समाज ने उसे जीवन के उपकरण दिये, बौद्धिक और भावगत परम्पराएँ दीं उसका ऋण शोध करना उसका धर्म है, इससे स्वार्थ साधना की संकुचित भूमि से उठकर उसके अहं का उन्नयन और विस्तार होता है और इस प्रकार उसको अभ्युदय और निःश्रेयस दोनों की ही सिद्धि होती है ।[1] इस प्रकार उन्होंने यह बताने की चेष्टा की है कि लेखक को समाज के प्रति भी गंभीर दायित्व केवल निश्छल आत्माभिव्यक्ति ही है,क्योंकि इसी के कारण कोई व्यक्ति साहित्यकार बन पाता है । व्यक्तित्व की महत्ता को भी वे सामाजिक मूल्यों से निरपेक्ष नहीं मानते -- 'व्यक्तित्व की महत्ता अर्थात् उसका विस्तार और गांभीर्य जीवन के महत्तर मूल्यों के साथ तादात्म्य करने से प्राप्त होते हैं, और ये महत्तर मूल्य अन्त में बहुत कुछ समष्टिगत मूल्य ही होंगे ।'[2] मानवीय और सामाजिक मूल्यों में पारिभाषिक दृष्टि से कोई मौलिक अंतर या विरोध नहीं है, पर यदि विरोध हो भी जाये तो मानवीय मूल्य ही अधिक विश्वसनीय होंगे --'इन दोनों में साधारणतः कोई विरोध नहीं है, वास्तव में मानवीय मूल्यों में सामाजिक,नैतिक मूल्यों का अन्तर्भाव हो जाता है, परन्तु विशेष परिस्थितियों में यदि विरोध हो भी जाय तो मानवीय मूल्य ही अधिक विश्वसनीय माने जायेंगे ।'[3]

---

१ डॉ० नगेन्द्र : विचार और विश्लेषण,पृ०सं० ५२

२ डॉ० नगेन्द्र : विचार और विवेचन,पृ०सं० ५६ ।

३ वही,पृ०सं० ५६ ।

नगेन्द्र में सत्य और सौन्दर्य को पूर्णता से आँकने की क्षमता है और अपनी समीक्षा कृतियों में वे साहित्य का कलात्मक मूल्य आँकने का प्रयास भी करते हैं। नगेन्द्र अपनी अन्तर्दृष्टि से न केवल साहित्य के शाश्वत और कलात्मक मूल्यों का ए उद्घाटन करने में सफल होते हैं वरन् वे साहित्य की श्लाघ्य परम्पराओं की स्थापना कर आलोचक के स्तर को ऊँचा उठाने के महत् कार्य का भी सम्पादन करते हैं। वे साहित्य में सत्य के अनन्य आराधक हैं तथा कलाकार के लिए सर्वप्रथम यही मानते हैं कि वह सत्य का निरूपण करे। उनकी सौन्दर्य-चेतना इतनी विकसित है कि वह बौद्धिकता को सौन्दर्य स्थलों पर थमने के लिए बाध्य करती है।

डॉ० नगेन्द्र ने साहित्य में सौन्दर्यपरक मूल्यों की चर्चा भी यहाँ वहाँ की है। उनका कहना है कि 'सौन्दर्य कोई निरपेक्ष वस्तु नहीं है। उसका निर्माण भी तो कलाकार की अपनी भावनाओं और धारणाओं के आधार पर ही होता है।[1]' चूँकि आत्माभिव्यक्ति का सूक्ष्म और उत्कृष्ट रूप सौंदर्य सृष्टि है। सौन्दर्य तत्वत: चेतना का पुण्य है, प्रकृति का नहीं। वस्तुत: कला रचना के दो प्रमुख सिद्धान्त हैं-- एक आत्माभिव्यक्ति का सिद्धान्त और दूसरा निर्मिति या सौन्दर्य सृष्टि का सिद्धान्त। आत्माभिव्यक्ति का सिद्धांत आत्मतत्त्व की प्रब प्रधानता और वस्तुतत्त्व की गौणता स्वीकार करता है। निर्मिति का सिद्धान्त वस्तुतत्त्व को प्रमुखता देता है और आत्मतत्त्व को गौण मानता है। स्वयं डॉ० नगेन्द्र की दृष्टि में दोनों में तात्त्विक भेद नहीं है। सौन्दर्य की सृष्टि करना ही वे साहित्य का धर्म मानते हैं। वास्तव में अपने व्यापक अर्थ में रस सौन्दर्य का ही पर्याय है, सौन्दर्य अपने तत्त्वरूप में रमणीय अर्थबोध का नाम है और रमणीय वह है जिसमें सहृदय का चित्त रमण करे अर्थात् जो उसकी आनन्दचेतना का विषय हो। इस प्रकार सौन्दर्य की कल्पना इसके बिना नहीं हो सकती। सुन्दर और सत्य में भेद नहीं किया जा सकता। इतना ही नहीं रस वह व्यापक तत्त्व है, जिसमें काव्यगत संपूर्ण भावसम्पदा का अन्तर्भाव

सौन्दर्यपरक मूल्यों के अतिरिक्त नगेन्द्र ने काव्य में,साहित्य में आनन्दपरक मूल्यों की स्थापना बड़े विश्वास के साथ की है । काव्य के प्रयोजन के सम्बन्ध में उनका निर्भ्रान्त मत है कि इसका प्रयोजन आनन्द है । निष्प्रयोजन कर्म तो वही होगा जो निरर्थक होगा ।प्रयोजन की स्थूलता और सूक्ष्मता की बात अवश्य उठती है ।धन,यश,प्रचार ये सब स्थूल प्रयोजन हैं । डॉ० नगेन्द्र काव्य के संदर्भ में इन्हें महत्त्व नहीं देते । वे आनन्द को ही काव्य का आत्यंतिक प्रयोजन स्वीकार करते हैं ।आनंद के समानान्तर वे लोककल्याण और चेतना के संस्कार इन दो प्रयोजनों को भी विचारणीय मानते हैं । आपकी दृष्टि में ये दोनों भी आत्यन्तिक प्रयोजन नहीं हो सकते । लोकहित को प्रयोजन मानकर चलने वाला साहित्यकार लोक में अपने स्व का विस्तार करके आनन्द लाभ ही करता है । वह आत्मन: कामाय लोककल्याण में अनुरक्त होता है । इसी प्रकार चेतना के परिष्कार की परिणति भी आनन्द की अनुभूति में ही होती है । इसीलिए लोककल्याण और चेतना का परिष्कार आनन्द की उपलब्धि में बाधक नहीं होते । इन्हें प्रयोजन के रूप में स्वीकार किया जा सकता है, किन्तु आत्यन्तिक प्रयोजन का अंतिम परिणति के रूप में ग्रहण नहीं किया जा सकता । नगेन्द्र मानते हैं कि आनन्द की उपेक्षा करके कला जीवित नहीं रह सकती । स्थूल से स्थूल रूप में भी उसकी सार्थकता `कान्तासम्मिततयोपदेशयुजे` में ही है ।अतएव काव्य की कसौटी है,उसकी आनन्ददायिनी शक्ति, जिसे अपने शास्त्रकारों ने रस कहा है । नगेन्द्र कहते हैं--`रस का अर्थ है आनंद और आनंद केवल मनोरंजन नहीं है, उसका अभिप्राय है अन्तर्वृत्तियों का सामंजस्य ।`[1] भारतीय दर्शन और काव्यशास्त्र में आनन्द के जिस रूप की कल्पना की गई है वह मानव चेतना के परिपूर्ण विकास का पर्याय है-- मानव व्यक्तित्व के सर्वांग उत्कर्ष का भावात्मक रूप या आस्वाद ही आनन्द है । यह विषय,भोग,सुख,मनोरंजन,प्लेज़र या तज्जन्य का पर्याय नहीं है । आनन्द की इसी सर्वांगपूर्ण कल्पना पर आधृत होने के कारण रस की परिधि में

---

१ नगेन्द्र : विचार और अनुभूति,पृष्ठ० १४ ।

मानव चेतना की मधुर और कटु, सुखमय और दुखमय सभी प्रकार की वृत्तियों का सहज रूप में अन्तर्भाव कर लिया गया है । उसमें आनन्द की सिद्धावस्था ही नहीं, साधनावस्था की भी पूर्ण स्वीकृति है । डॉ० नगेन्द्र मानते हैं कि आदिकाल से ही मानव-मन अनेक जीवन दर्शनों का आविष्कार करता रहा है,परन्तु उसके सभी प्रयत्नों का ध्येय रहा है केवल अब आनन्द की प्राप्ति । साहित्य भी आनन्द प्राप्ति का एक प्रयत्न है, किन्तु यह प्रयत्न स्थूल और प्रत्यक्ष नहीं है । सुख के लिए किए गए मानव प्रयत्नों में साहित्य अत्यन्त सूक्ष्म, परिष्कृत और मधुर प्रयत्न है-- आध्यात्मिक चिन्तन इससे भी सूक्ष्म है, पर वह इतना मधुर नहीं ।साहित्य की साधना और सिद्धि दोनों में ही आनन्द है ।[1] अतएव आनन्द को छोड़कर और कोई कसौटी नगेन्द्र नहीं मानते । वे कहते हैं कि साहित्य की कसौटी जो अब तक चली आ रही है,वही ठीक है अर्थात् आनन्द । साहित्य की क्रिया जहाँ स्वयं साहित्यकार को आनन्द देती है,वहाँ उसके व्यक्त रूप मन ग्रहण,पाठक या श्रोता को आनन्द देता है । इसलिए नगेन्द्र भी कहते हैं कि " हमें जो साहित्य जितना ही गहरा और स्थायी आनन्द दे सकेगा, उतना ही वह महान होगा, चाहे उसमें किसी सिद्धान्त का समाजवाद, गांधीवाद, मानववाद, पूँजीवाद किसी भी वाद का समर्थन हो या विरोध ।[2] इस प्रकार उपर्युक्त कथनों एवं मान्यताओं से डॉ० नगेन्द्र की आनन्द के प्रति अत्यधिक निष्ठा का ज्ञान होता है,क्योंकि आनन्द के अभाव में वे साहित्य का सफल होना ही असम्भव मानते हैं ।

शिव अर्थात् कल्याण को भी नगेन्द्र ने महत्त्व दिया है, किन्तु आनन्द एवं कल्याण में सापेक्षिक मूल्य आनन्द का ही अधिक मानते हैं, क्योंकि आनन्द की व्यापक परिधि में हित की भावना भी अन्तर्भुक्त है और हित की परिणति ही आनन्द है । वास्तव में हित वहां संवेतन बुद्धि का साध्य है

---

१ नगेन्द्र : विचार और अनुभूति,पृ०सं० ६४ ।

२ वही,पृ०सं० ६५-६६ ।

वहाँ आनन्द अखंड चेतना का साध्य है । इसी कारण इसको अखंड भी माना गया है । हो सकता है कि नगेन्द्र जी के आनंदवाद पर अव्यक्त रूप से प्रसाद के आनन्दवाद का प्रभाव पड़ा हो । आनंदवाद ही उनकी दृष्टि में चरम उपयोगिता है ।साहित्य के क्षेत्र में प्रविष्ट होने पर उन्होंने यह अनुभव किया था कि वे प्रसाद जी के आनन्द लोक में आ गये हैं --

'भगवती सरस्वती की प्रेरणा से एक दिन ही में जैसे मोटे खनिज तैल और रासायनिक खाद की उस दुनिया से कामायनी के इस आनंदलोक में आ गया हूँ।'[1]

इस प्रकार छायावाद काव्य में अंतिम दर्शन आनन्दवाद में नगेन्द्र जी का रागविह्वल मन रम गया । अन्त में अर्थात् अपनी परवर्ती रचनाओं में डॉ० नगेन्द्र जी ने यह भी अनुभव किया है कि आनन्द और मंगल दोनों अविरोधी हैं । भारतीय रसशास्त्र का व्यापक सिद्धान्त आनन्द और मंगल के सुदृढ़ स्तम्भों पर अवस्थित है । अतः पीछे उनके दृष्टिकोण में इन दोनों का समन्वय स्थापित हो गया --

'पहले मुझे नैतिक मूल्यों के प्रति एक प्रकार की विरक्ति थी,क्योंकि मुझे वे आनन्दवादी मूल्यों के प्रतिकूल लगते थे ।किन्तु आज ऐसा नहीं है । आनन्द और मंगल में न केवल विरोध ही नहीं है,वरन् अभिन्न सम्बन्ध भी है ।'[2]

नगेन्द्र जी ने साहित्य और जीवन के शाश्वत मूल्यों का समर्थन करते हुए अशाश्वतवादी को ललकारा,क्योंकि वे मानते हैं कि --
'समय के अनुसार उसका बाह्य सदैव बदलता रहा है-- जीने की विधि बदलती है, परन्तु जीना (आनन्दप्राप्ति के लिए प्रयत्न करना) तो निश्चय ही एक शाश्वत सत्य है-- इसको घोर से घोर अशाश्वतवादी अस्वीकृत नहीं कर सकता ।'[3]

---

1 नगेन्द्र : विचार और विश्लेषण,पृ०सं० १११ ।
2 साप्ताहिक हिन्दुस्तान,२६-८-६२,पृ०सं० २४ डॉ० रांग्रा का लेख

इसी प्रकार जीवन के मूल्य चिरन्तन ही मानने पड़ेंगे, क्योंकि जीवन चिरन्तन है, जीवन की मौलिक वृत्तियाँ चिरन्तन हैं-- कम से कम मानव सृष्टि के आरम्भ से अब तक तो चिरन्तन ही चली आई है। ऐसा नगेन्द्र मानते हैं एवं उन्होंने अपनी 'विचार और अनुभूति' नामक पुस्तक में इसकी चर्चा भी की है।

मानववाद के विकास के फलस्वरूप पश्चिम के काव्यशास्त्र और उसके प्रभाव से हमारे काव्यशास्त्र में भी मानव मूल्यों का समावेश हुआ। मानवमूल्यों को नगेन्द्र ने जीवन के चरम मूल्य माना है एवं कहते हैं कि मानवता से अधिक मानव जीवन का मानदंड क्या हो सकता है। वे सदैव मानव मूल्यों का पक्ष समर्थन करते हैं --

'आप भी नैतिक आदर्शवाद में मेरी विशेष अवस्था नहीं है।.... नैतिक मूल्यों की अपेक्षा मानव मूल्य ही जो मूलतः प्रकृति जात हैं-- अधिक श्रेयस्कर लगते हैं।'[1]

सृजनात्मक मूल्यों के अन्तस् में निहित कल्पना एवं प्रतिभा को भी नगेन्द्र ने विवेचित किया है। वे कहते हैं कि --'कल्पना का एक मुख्य कार्य है रिक्त स्थानों का भरना अर्थात् विषमताओं को एक सार करना। अनजाने में भी हमारी कल्पना यह कार्य करती रहती है।'[2]

कल्पना का प्रयोग प्रतीक सृजन और अलंकारों के विधान में होता है। कल्पना को नगेन्द्र कवि के लिए ही नहीं, अपितु पाठक के लिए भी आवश्यक मानते हैं तथा कलाकार की मानसिक अवस्था का अनुभव करने की क्षमता को ही वे कल्पना कहते हैं। इस प्रकार कल्पना का तिरस्कार न करके नगेन्द्र ने उसका होना आवश्यक बताया है।

चेतना को ही वे प्रतिभा कहते हैं जो कि व्यक्ति की अनुभूति, चिन्तन, विचार, संकल्प, कल्पना आदि क्रियाएँ करती हैं। चेतना की

---

१ पद्मसिंह शर्मा : 'मैं इनसे मिला' (भाग२), पृ०सं० १४०-१४१।

२ नगेन्द्र : विचार और अनुभूति, पृ०सं० २३।

प्रखरता,गहनता, सूक्ष्मता आदि को ही नगेन्द्र ने प्रतिभा का नाम दिया है। इस प्रकार साहित्य में जहाँ नगेन्द्र जी ने विविध मूल्यों की स्थापना की है, वहाँ वे यह भी कहते हैं कि --' जीवन के सभी स्थायी मूल्य-- श्रद्धा,विनय, सत्याचरण, त्याग,निष्ठा, परहित आदि गुणों की कोई सार्थकता नहीं रही। एक विचित्र प्रकार का निषेधात्मक दृष्टिकोण जीवन के प्रति विकसित हो रहा है जो व्यर्थता का पर्याय बन गया है।'[1] इसका उपचार करने के लिए वे धार्मिक, नैतिक शिक्षा को आवश्यक मानते हैं तथा इसका प्रचार प्रसार व्यापक आधार पर असामुदायिक रूप में होना मांगते हैं। धर्म का अर्थ 'मानव धर्म' मानते हैं।

'धर्म का अर्थ होना चाहिए : मानव धर्म : जिससे मानव का ऐहिक और आत्मिक उत्कर्ष हो वहीं तो धर्म है, और इसी अर्थ में उसे ग्रहण भी करना चाहिए।'[2] इस प्रकार धर्म को भी उन्होंने मानव-धर्म के रूप में ही स्वीकार किया है।

अज्ञेय

अज्ञेय वैज्ञानिक,मनोवैज्ञानिक, दार्शनिक एवं कलात्मक सभी मूल्यों के प्रति जिज्ञासु हैं और सभी को मुक्त हृदय से स्वीकार करना चाहते हैं,क्योंकि सभी के मूल में मनुष्य का विवेक प्रधान है। अज्ञेय की सर्वाधिक महत्वपूर्ण स्थापना भी यही है कि मानव मूल्यों का स्रोत उसका विवेक है, सौन्दर्य-बोध मूलत: बुद्धि का व्यापार है। वे तो यह भी मानते हैं कि समालोचना को कहीं न कहीं मूल्यों का विचार भी करना ही पड़ता है-- कृति का मूल्यांकन वह न भी करे तो भी स्वयं उसके रसास्वादन की प्रक्रिया में उसके स्वीकृत मूल्यों या प्रतिमानों का महत्त्व होता है। मूल्य किसे कहते हैं ? व्यापक प्रश्न को

---

१ नगेन्द्र : समस्या और समाधान,पृ०सं० २७।

२ वही,पृ०सं० २७।

छोड़ भी दें तो भी प्रश्न रहता है, समालोचना के क्षेत्र में मूल्य क्या है ? प्रतिमान क्या होते हैं ? मैं मानता हूँ कि सब प्रतिमानों का सब मूल्यों का स्रोत मानव का विवेक है । मैं यह कहना चाहता हूँ कि सौन्दर्यबोध मूलतः बुद्धि का व्यापार है ।[1] बुद्धि कार्य-कारण ज्ञान की विकासशील चेतना है । इसलिए गोचर अनुभव का कार्य कारण-ज्ञान के सहारे (बुद्धि द्वारा) प्राप्त किया हुआ निचोड़ ही हमारे सौन्दर्य-बोध का आधार है ।[2] कला की श्रेष्ठता के उच्चतम और जटिलतम प्रतिमान भी अनुभव के महासागर को बुद्धि की मथानी से मथकर ही प्राप्त किए गए हैं । मानव निरन्तर अपने अनुभवों को समृद्ध करता रहता है । इसी अनुपात में उसकी बुद्धि और उसका विवेक भी विकसित होता रहता है । जीवन की मर्यादाएँ नए संस्कार प्राप्त करती रहती हैं । नैतिक मान बदलते रहते हैं । सौन्दर्यबोध का यह बौद्धिक आधार निरन्तर गतिशील होने के कारण मानवीय जीवनदृष्टि का परिष्कार करता रहता है । इसलिए अनुभव सम्भूत विवेक-निष्ठ गतिशील बौद्धिक दृष्टि ही मानवीय मूल्यों की परख का आधार बन सकती है । साहित्य के प्रति अज्ञेय की निष्ठा एक सच्चे मानववादी की निष्ठा है । उनकी जीवनदृष्टि बौद्धिक और निष्ठा मानववादी है । वे प्रातिभ हैं । वर्तमान हिन्दी साहित्य उनकी प्रतिभा से आलोकित है । उनसे मतभेद तो हो सकता है, किन्तु उनके महत्त्व को अस्वीकार भी नहीं किया जा सकता ।

अज्ञेय जी ने अपने निबन्धों में आधुनिक साहित्य की विधाओं का सतही विश्लेषण नहीं किया है, अपितु उनमें मूल्यों का गहरा विश्लेषण है, हिन्दी साहित्य की सम्भावनाओं का मन्थन है और साहित्य को संस्कृति के व्यापक सन्दर्भ से जोड़ने की कोशिश भी है । अज्ञेय जी मानते हैं कि मूल्य शाश्वत भले ही न हों, लेकिन वे स्थायी अवश्य होते हैं एवं उनमें जो

---

१ अज्ञेय : समालोचना और नैतिक मान, पृ०सं० १२६ ।

२ अज्ञेय : हिन्दी साहित्य : एक आधुनिक परिदृश्य, पृ०सं० ११ ।

परिष्कार होता है,वह बहुत शीघ्र नहीं हो जाता,अपितु उसमें भी सदियाँ और युग लग जाते हैं --

'कला मुल्य उतने ही शाश्वत हैं जितना कि बुद्धि सम्पन्न मानव शाश्वत है-- यों वह बंदर का या बंदर के किसी सजातीय का वंशज है। यह ठीक है कि दूसरे भी मुल्य हैं-- सामाजिक मुल्य जो सामाजिक परिवर्तनों के साथ अपेक्षा तेजी के साथ बदलते हैं।[1]'

लोक जीवन और विशेषरूप से सहज लोकजीवन के लिए उनके मन में बड़ा कोमल भाव है और नागर जीवन की कृत्रिमता तथा घोक्ट भरी गंध से बहुत विरक्ति भी। इसीलिए पश्चिम के समृद्ध जन में वो एक ऐसी तृष्णा देखते हैं,जो विवश चलाती है,इसलिए कुछ करने नहीं देती। साहित्य चिन्तन में अज्ञेय सहृदय की प्रतिष्ठा आवश्यक मानते हैं और इसके साथ ही आवश्यक मानते हैं प्रतिभा का संस्कार। 'हरी घास पर क्षण भर' में लोक कल्याण का विभावन विकसित होता है। कवि को सम्बोधित करके कहा गया है कि... भावनाएँ तभी फलती हैं कि उनसे लोककल्याण का अंकुर कहीं फुटे।

अज्ञेय ने आनन्द को जीवन की अभिव्यक्ति माना है। वे आसक्ति को जीवनाभिव्यक्ति नहीं मानते, पर तब भी वे समझे जाते हैं पश्चिम की ओर अभिमुख। परन्तु पश्चिम का प्रभाव भी अज्ञेय को अधिकाधिक भारतीय बनाने में है और यही उनके जीवन का वास्तविक अन्तर्विरोध भी है। अज्ञेय के आनन्द की परिकल्पना रेखा के पत्र द्वारा स्पष्ट होती है,जो कि रेखा गौरा को लिखती है--

'आनन्द अनुभूति में नहीं है : किसी भी अनुभूति में नहीं, आनंद मन की एक प्रवृत्ति है, जो सभी अनुभूतियों के बीच में भी बनी रह सकती है।[2]' अज्ञेय के आनन्द की परिकल्पना अधिक उन्मुक्त और धर्म निरपेक्ष है,

---

1 समालोचना और नैतिक मान (आलोचना पत्रिका से उद्धृत)

2 अज्ञेय : नदी के द्वीप।

उसी तरह जैसे श्रद्धा की तुलना में रेखा के व्यक्तित्व का संदर्भ दार्शनिक कम और बौद्धिक अधिक है ।

अज्ञेय अनुभव और अनुभूति में भी अन्तर करते हैं । उनके अनुसार अनुभव तो घटित का होता है, पर अनुभूति संवेदना और कल्पना के सहारे उस सत्य को आत्मसात् कर लेता है जो वास्तव में कृतिकार के साथ घटित नहीं हुआ है । जो आँखों के सामने नहीं आया है,जो घटित के अनुभव में नहीं आया, वही आत्मा के सामने ज्वलन्त प्रकाश में आ जाता है, तब वह अनुभूति प्रत्यक्ष हो जाता है । तात्पर्य यह कि काव्यगत भाव घटित अनुभव न होकर अनुभूति प्रत्यक्ष होता है । और इसी अर्थ में वह वैयक्तिक या इम्परसनल होता है । 'साहित्य सृष्टि की मूल प्रेरणा साहित्यकार की एक आंतरिक विवशता होती है' अज्ञेय की यह मान्यता विवाद से परे है ।

जीवनानंद अज्ञेय के उत्तरकालीन कृतित्व का मुख्य तत्त्व है । आस्तिकता का भाव लेखक को जीवन के प्रति अर्पित और नमित बनाता है और एक प्रकार के नूतन रहस्यवाद की ओर ले जाता है, जिसका अनेक प्रमुख वैज्ञानिकों के विचारों में भी पुट है । जीवनानंद या जीवन के प्रति समर्पण का भाव मुख्य तत्त्व है और इससे प्रसूत रहस्यवाद में जीवन की ऊर्जा है, न कि छायावादी दया और दैन्य की भावना । अज्ञेय कहते हैं कि 'मेरे निकट जीवन के प्रति यह प्रेम एक निःसंग विस्मय का ही भाव है.... हम अपने भीतर पूरी तरह यह स्वीकार कर लें कि कभी भी यह(जीवन) समाप्त हो जा सकता है-- यानी निस्संग हो जावे -- और उतनी ही सम्पूर्णता से यह भी अनुभव करें कि वह समाप्त नहीं हुआ है, चल रहा है-- यानी विस्मय में डूब जायें, मेरे निकट जीवनानंद का यही नुस्खा है ।'[1] यहां ध्यान देने की बात है कि लेखक के साहित्य-

---

1 अज्ञेय : आत्मनेपद,पृ०सं० ४४ ।

मूल्यों और जीवन मूल्यों के प्रसंग में निस्संगता , निर्वैयक्तिकता,तटस्थता की चर्चा बार-बार आती है । यह एक प्रकार से छायावादी भावुकतापूर्ण मूल्यों से अलगाव की स्थिति है, हिन्दी में और रोमाण्टिक कला सृजन की शुरुआत है ।

लोककल्याणकारी तथा आनंदवादी मूल्यों के अतिरिक्त अज्ञेय जी ने स्वतंत्रता को जीवन का सबसे बड़ा मूल्य माना है --

स्वतंत्रता की भावना मानव अस्तित्व का तात्त्विक आधार है । सारे नैतिक मूल्य मनुष्य की जैविक परम्परा से ही उद्भूत है, इसलिए उनकी स्वीकृति और समर्पण के लिए किसी मानवेतर सत्ता की आवश्यकता नहीं है । नैतिक होने के लिए मानवीय होना भी पर्याप्त है । इस विचार-पद्धति[1] को अज्ञेय भी स्वीकार करते हैं । वे स्वातन्त्र्य को चरम उपलब्धि मानते हैं । शान्ति और स्वतन्त्रता दोनों में से एक को वरण करना हो तो अज्ञेय स्वतंत्रता को वरण करना चाहेंगे । आपकी दृष्टि में--' संस्कृति के विकास के लिए मानसिक स्वातन्त्र्य अनिवार्य है : अलग सोचने की, भिन्न प्रकार से सोचने की, प्रयोग करने, भूल करके शिक्षा पाने, लीक छोड़कर भटकने, शोध करने, असहमत होने, अपने क्षेत्र को प्रसृत या संकुचित करने, गहराई या ऊँचाई देने, बोलने और न बोलने की स्वाधीनता के बिना सांस्कृतिक विकास नहीं है[2] ।' इसी मान्यता के अनुरूप स्वातन्त्र्य को चरम मूल्य मानते हुए भी अज्ञेय कहते हैं -- 'अभिव्यक्ति में एक ग्राहक या पाठक या श्रोता मैं अनिवार्य मानता हूँ और इसके परिणामस्वरूप जो दायित्व[3] लेखक या कवि या कलाकार पर आता है, उससे कोई निस्तार मुझे नहीं दीखता ।'

स्वातन्त्र्य और दायित्व को इस प्रकार अविच्छिन्न

---

१ अज्ञेय : आत्मनेपद,पृ०सं० २५५ ।

२ वही,पृ०सं० ६७ ।

३ वही,पृ०सं० ३७ ।

मानने पर ही दृष्टि को सम्पृक्त और सार्थक बनाया जा सकता है । वस्तुत: दायित्व का भाव ही स्वातन्त्र्य की अपेक्षा रखता है । उनकी दृष्टि में सारे संसार का पुंजित अनुभव रचना में लगने पर उससे जो आनन्दमयी सृष्टि होती है वही संस्कृति है । अगर वह सृष्टि नहीं है तो संस्कृति नहीं है और अगर आनंदमयी नहीं है तो भी वह संस्कृति नहीं है । और अगर उसका आधार पूरे समाज का अनुभव, समाज व्यापी सत्य-- नहीं है तो भी वह संस्कृति नहीं है .... संस्कृति का आधार समाज है, उसका सत्य व्यापक सत्य है और उसकी दृष्टि भी तदनुकूल है । पर कला का क्षेत्र विशिष्ट का क्षेत्र है : उसका सत्य विशिष्ट, अद्वितीय और मौलिक सत्य है और उसकी दृष्टि भी वैसी ही एक और अद्वितीय।[1] इस प्रकार संस्कृति का केन्द्रीय क्षेत्र कलाओं में विशिष्टतम साहित्य ही ठहरता है । अज्ञेय ने आनन्दमयी सृष्टि को ही संस्कृति माना है । इसप्रकार संस्कृति को भी उन्होंने तभी पूर्ण माना है, जब कि वह आनन्द एवं समाजव्यापी सत्य से परिपूर्ण हो । अत: ज्ञात होता है कि वे आनन्दवादी मूल्यों को अत्यधिक महत्त्व प्रदान करते हैं ।

नीति तत्त्व का समीक्षात्मक विचारधारा में अज्ञेय जी ने बहुत अधिक महत्त्व बताया है । प्रत्येक शुद्ध कला चेष्टा में वे अनिवार्य रूप से एक नैतिक उद्देश्य निहित मानते हैं । अज्ञेय जी कहते हैं--

'प्रत्येक सच्ची कलावस्तु एक नैतिक मूल्य रखती है । हाँ यह ध्यान दिला देना आवश्यक होगा[2] कि हम श्रेष्ठ नीति की बात कह रहे हैं निरी नैतिकता(मौरैलिटी) की नहीं ।'

मानवी संवेदना तो सबसे बड़ा मूल्य है ही ।कलाकृति में नैतिक मूल्यों का विचार न होता हो ऐसा भी नहीं है ।उनके विचार से सामान्य

---

१ अज्ञेय : आत्मनेपद, पृ०सं० २५७ ।

२ अज्ञेय : त्रिशंकु,पृ०सं० ३८ ।

लोक जिसे नैतिक ह्रास कहते हैं, यथार्थ में वह नैतिक बोध की परिपक्वता है। उनके विचार से " नैतिक मूल्य यानी शिवत्व, के मूल्य और सौन्दर्य के मूल्य, हैं तो अलग-अलग और अलग विचार माँगते हैं। विशुद्ध तर्क के क्षेत्र में मानना होगा कि ऐसा हो सकता है कि कोई कलाकृति सुंदर हो और अशिव हो या कम से कम शिव न हो। यह मानकर भी मैं पहली बात कैसे मान सका, उसका कारण यही है कि उच्चकोटि का नैतिक बोध और उच्चकोटि का सौन्दर्यबोध, कम से कम कृतिकार में प्राय: साथ चलते हैं। क्यों? इसलिए कि दोनों बोध, मूलत: बुद्धि के व्यापार हैं, मानव का विवेक ही दोनों के मूल्यों का स्रोत है और दोनों के प्रतिमानों या मानदंडों का आधार। विवेकशील मानव की विशेषकर उस विवेकशील मानव की, जिसमें सृजनात्मक शक्ति या प्रतिभा भी है ग्राहकता दोनों को ही पहचानती है।" इस प्रकार अज्ञेय जी मानते हैं कि उच्च कोटि के नैतिक बोध तथा सौन्दर्य बोध दोनों साथ साथ ही कृतिकार में चलते हैं, इसलिए परस्पर अलग-अलग होते हुए भी इनको अलग नहीं किया जा सकता। अज्ञेय जी सच्चा कलाकार उसी को मानते हैं, जिसकी विशाल आत्मा समाज के अन्तर्गत समूचे भौतिक जगत को खींच सकती है।

प्रकृति के एकांत सौन्दर्य के प्रति प्रबल आकर्षण और स्वतंत्र चिन्तन की प्रवृत्ति आपका संस्कार बन चुकी है। बौद्धिक परिष्कार और सांस्कृतिक सौन्दर्यचेतना आपके व्यक्तित्व संघटन के प्रमुख उपादान हैं।

ड गजानन माधव मुक्तिबोध

मुक्तिबोध का चिन्तन प्राय: कलात्मक साहित्य के प्रति ही है तथा उनके चिन्तन की प्रकृति भी कलात्मक है। कविता में प्रेरणामयी मानवतावादी दृष्टि को आवश्यक मानने वाले मुक्तिबोध ने मानवतावाद एवं

जनवाद का सर्वाधिक चर्चा करते हुए जीवनमूल्यों पर प्रकाश डाला है । जीवनमूल्यों के अन्तर्गत उन्होंने उन सभी मूल्यों को सम्मिलित कर लिया है,जो मानव के विभिन्न पदों का दिशानिर्देशन करते हैं-- इनमें श्रम कार्य तथा प्रेम इत्यादि से सम्बन्धित मूल्यों को भी वे ले लेते हैं । मुक्तिबोध ने किसी भी कला की सार्थकता भी इसी में मानी है कि वह हमारे जीवन के वास्तविक पदों का उद्घाटन करने में सफल हो,क्योंकि भावों को उत्तेजित तो कला कर ही सकती है,परन्तु उसे जीवन के लिए मूल्यवान होना चाहिए तभी उसकी कुछ सार्थकता है,सफलता है-- कला-कौशल की दृष्टि से किसी काव्य का मनोरंजक हो जाना एक बात है--बिलकुल भिन्न बात है उसका जीवनमूल्यों के रूप में हमारे सामने आना । मात्र भावोत्तेजित करने वाली कला हमारे वास्तविक जीवन पथ के लिए मूल्यवान भी हो, यह आवश्यक नहीं है । हमारे लिए मूल्यवान कला वह है,जिसमें मार्मिक जीवन[1] विवेक , सूक्ष्म दृष्टियाँ तथा जीवन के वास्तविक पदों का उद्घाटन हो । अतः कला का मूल्यवान होना या न होना भी उन्होंने जीवन के साथ सम्बन्धित कर दिया है ।

जनता के जीवनमूल्यों एवं जीवनादर्शों को ध्यान में रखकर लिखे जाने वाले साहित्य को मुक्तिबोध श्रेष्ठ साहित्य मानते हैं,परन्तु उसमें अनिवार्यता इस बात को मानते हैं कि वह जनता को मुक्तिपथ पर अग्रसर करता हो। जनता के साहित्य से उनका तात्पर्य यह नहीं है कि जो जनता को तुरन्त समझ में आ जाये वही जनता का साहित्य है, अपितु इससे तात्पर्य वह यह मानते हैं कि जो जनता के लिए हो वह साहित्य जनता का साहित्य है । इस साहित्य के अन्तर्गत अनेक प्रकार का साहित्य सृजन होता है । उसका वर्णन करते हुए मुक्तिबोध कहते हैं-- जनता के मानसिक परिष्कार, उसके आदर्श मनोरंजन से लाकर तो क्रांतिपथ पर मोड़ने वाला साहित्य मानवीय भावनाओं का उदात्त वातावरण उपस्थित करने वाला साहित्य,जनता का जीवन चित्रण करने वाला साहित्य,मन को मानवीय और

जन को जन-जन करने वाला साहित्य शोषण और सत्ता के घमंड को चूर करने वाले स्वातन्त्र्य और मुक्ति के गीतों वाला साहित्य-- प्राकृतिक शोभा और स्नेह के सुकुमार दृश्यों वाला साहित्य-- सभी प्रकार का साहित्य सम्मिलित है--बशर्ते कि वह मन को मानवीय, जन को जन-जन बना सके और जनता को मुक्तिपथ पर अग्रसर कर सके[1]। मुक्तिबोध ने जनता के साहित्य को व्यापक क्षेत्र प्रदान किया है एवं उसे जनता का कल्याण करने का एक साधन माना है।

मुक्तिबोध की संपूर्ण चेतना जनकल्याण की भावना से प्रभावित थी,अत: उन्होंने योग्यता का सार्थक व निरर्थक होना भी जनकल्याण के द्वारा निश्चित किया है। वही योग्यता उनकी दृष्टि में सार्थक है,जिसमें जन-कल्याण करने की भावना निहित हो।

सच तो यह है कि ऐसी योग्यता जिसमें महान प्रेरणा न हो, जिसमें लोक कल्याण के लिए त्याग की भावना न हो, जिसमें जन जीवन की अन्तर्धाराओं को देखने की दृष्टि न हो-- ऐसी योग्यता निरर्थक है[2]। कोई भी लेखक या कलाकार जब तक समाज के उस पक्ष से जिसे हम जनता का पक्ष कहते हैं अपने को तदाकार नहीं कर लेता तब तक सही जीवन मूल्यों का भावात्मक, हार्दिक अन्त:करणमूलक समस्त[3] व्यक्तिगत उत्सर्गशील ग्रहण सम्भव नहीं होता ऐसा भी मुक्तिबोध का विचार है, क्योंकि जीवन मूल्य कलाकार के वास्तविक जीवन से तथा उनके आधार पर बनी हुई भावदृष्टि से सम्बद्ध हैं। जीवनमूल्य हमारी अभिरुचि,संस्कार,शिष्टता की मर्यादाएँ तो बनाते ही हैं,साथ ही वे वस्तु या व्यक्ति के प्रति हमारे दृष्टिकोण का भी निर्माण करते हैं[4]।

---

१ मुक्तिबोध : नये साहित्य का सौन्दर्यशास्त्र,पृ०सं० ७६।

२ वही,पृ०सं० १००।

३ वही,पृ०सं० १३५।

४ वही,पृ०सं० १८७।

मुक्तिबोध ने जीवनमूल्यों के साथ उदात्त की भावना को भी जोड़ दिया है-- जैसे जीवन मूल्यों का विकास होता है,उन्हीं के अनुरूप उदात्ती-करण होता है अर्थात् जैसे जिन अनुभूतियों का मनोवेगों का जैसा उदात्तीकरण होगा उन्हीं के अनुरूप उनका सौन्दर्य भी कम या अधिक होगा[१]। जीवन मूल्यों के क साथ जुड़ी हुई उदात्त भावना के साथ सौन्दर्य को सब भी सम्पृक्त हो गया है,क्योंकि उदात्तीकरण के अनुरूप ही उन्होंने सौन्दर्य की मात्रा में ब अन्तर माना है-- वास्तविक जीवन के आधार के बिना काल्पनिक रीति से किया गया जीवन मूल्यों का सम्मिश्रण रिक्त सौन्दर्य को जन्म देगा अथवा उसमें सौन्दर्य ही नहीं होगा[२]।

किसी भी कलाकृति के लिए मुक्तिबोध ने सौन्दर्य का होना आवश्यक माना है तथा सौन्दर्यशास्त्र थे को मूल्यशास्त्र तक कहा है[३]। वे प्राचीन साहित्य के भी उसी सौन्दर्य को ग्रहण करने की बात करते हैं जो हमारे नवीन जीवनमूल्यों के विकास में सक्रिय सहयोग दे[४]।

मुक्तिबोध ने सौन्दर्य की चर्चा करते हुए कहा है कि सौंदर्य-सौंदर्य में भी अन्तर होता है,क्योंकि जिसे हम सौन्दर्य कहते हैं वह किसी और की दृष्टि में अपूर्ण हो सकता है। साधारणत: आत्मोन्मुख साहित्य धारा में सौन्दर्य का जो अर्थ हो सकता है,वह अर्थ बहिस्तर समग्र जीवनोन्मुख साहित्यधारा में परिवर्तित हो जाता है। अत: जिसे हम सौन्दर्य कहते हैं उसमें कुछ लोग अपूर्णता या एकांगिता तथा बाधाग्रस्तता देखते हैं और वे जिसे सौन्दर्य कहते हैं उसमें हमें खोखलेपन की बू आती है[५]।

सौन्दर्य को उन्होंने आन्तरिक माना है तथा इस आंतरिकता की उत्पत्ति मानव सम्बन्धों, विश्वदृष्टि तथा जीवन मूल्यों से मानी है किन्तु इन मानव सम्बन्धों, विश्वदृष्टि एवं जीवन मूल्यों के बदलते ही सौन्दर्य के मान क भी

---

१ मुक्तिबोध : नये साहित्य का सौन्दर्यशास्त्र,पृ०सं० १३५ ।

२ वही,पृ०सं० १३५ ।

३ वही,पृ०सं० १०५ ।

४ वही,पृ०सं० १३३ ।

बदल जाते हैं ऐसा उनका विचार है-- साहित्य के, सौंदर्य के मान नित्य काल सापेक्ष्य रहे हैं, किन्तु इसका अर्थ केवल यही है कि हमारे यहाँ पहले साहित्य तथा सौंदर्य की जो कल्पनाएँ थीं, उनके हमारे लिए जो मूल्यवान अंग थे उनको ही अपने में समाहित किया[1]।

कला की स्वतंत्रता तथा कलाकार की स्वतन्त्रता पर भी मुक्तिबोध ने प्रकाश डाला है । कला की स्वतंत्रता को वे जीवन सापेक्ष तथा व्यक्ति सापेक्ष मानते हैं एवं कलाकार की स्वतंत्रता को समाज सापेक्ष्य । वे कहते हैं कि -- कलाकार को तो केवल यह देखना है कि वह सर्वोच्च मानव मूल्यों की मानव मुक्तिके लक्ष्य की स्थिति कहाँ पाता है और कहाँ नहीं पाता है अर्थात् किस प्रकार की भावदृष्टियों में वह अपनी अनुकूलता पाता है, और किस प्रकार की भावदृष्टियों में नहीं[2]।इस प्रकार कलाकार की स्वतंत्रता को भी उन्होंने मानव मूल्यों के साथ सम्पृक्त कर दिया है ।

मनुष्य जीवन के किसी भी[3] अंग को मुक्तिबोध ऐसा नहीं समझते जिससे कि साहित्याभिव्यक्ति न हो सके । किन्तु यह साहित्याभिव्यक्ति लेखक अपनी मूल्यभावना के अनुसार करता हैं क्योंकि उसके अन्त:करण में एक मूल्य भावना बनी होती है, जिसके अनुरूप रूप पाकर ही वह भावों को प्रकट करने को तत्पर होता है, इसलिए यह आवश्यक नहीं है कि लेखक जो समझता है वही अभिव्यक्ति के माध्यम से प्रकट करता हो अथवा जो प्रकट करता है वही उसके मन में हो । अपितु मूल्यभावना के निर्माण के कारण वह अभिव्यक्त करता है[4]।

मुक्तिबोध ने नैतिक मूल्यों में निहित औचित्य की भावना को भी साहित्य में आवश्यक माना है, क्योंकि कलाकार अपने औचित्य की स्थापना के लिए ही अपना अन्त: संगम दार्शनिक भावधाराओं से करता है । जब कलाकार ही

---

१ मुक्तिबोध : नये साहित्य का सौन्दर्यशास्त्र, पृ०सं० १२५ ।

२ वही, पृ०सं० २०-२३ ।

३ मुक्तिबोध : नयी कविता का आत्मसंघर्ष तथा अन्य निबंध ,पृ०सं० ६ ।

अपने औचित्य को स्थापित करना चाहता है, तब साहित्य में अपने आप ही नैतिक मूल्यों का आगमन हो जाता है । कलाकार अपने औचित्य की स्थापना के लिए, ~~आत्म विस्तार के लिए~~,आत्मविस्तार के लिए अपने को उच्चतर स्थिति में उद्बुद्ध करने के लिए अपना अन्त:संगम दार्शनिक भावधाराओं से करता है । उसके पास एक विचार-धारा होती है,जिसके आधार पर वह जीवन-चित्र प्रस्तुत करता है[१]।

मुक्तिबोध ने समस्त रचना-प्रक्रिया को सृजन की मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया माना है तथा कविस्वभाव, दृष्टि एवं विषयवस्तु के अनुरूप उसे बनती-बदलती दिखलाया है । सृजन करने वाली, प्रतिभा को भी उन्होंने आवश्यक माना है-- यह सही है कि साहित्य-रचना में महान प्रतिभा का बहुत बड़ा स्थान होता है[२]। यह प्रतिभा रचनाकाल में होनी भी अवश्य चाहिए किन्तु उसमें अभ्यास की भी आवश्यकता है । निरन्तर अभ्यास के द्वारा ही प्रतिभा और अधिक निखरती है । इसीलिए वे कहते हैं-- अभिव्यक्ति का अभ्यास कलाकार का मुख्य कर्तव्य है,क्योंकि सुचित दिशा में चलने के लिए अनवरत अभ्यास की आवश्यकता है[३]।

लेखक जो कि अपनी संवेदनात्मक क्षमता से साहित्य -सृजन करता है,वह भी बिना कल्पना के अपने अनुभवों को साकार चित्र नहीं प्रदान कर सकता । मुक्तिबोध ने भी इस बात को स्वीकार किया है कि कल्पना ही लेखक के अनुभवों से अभिव्यक्ति के रूप में परिणत करने में सफल होती है । लेखक में वर्तमान कल्पना ही संवेदनात्मक उद्देश्यों के अनुसार अनुभवों के साकार चित्र प्रस्तुत करती है अत: जिस संवेदनात्मक क्षमता से लेखक साहित्य -सृजन करता है,वह भी कल्पना के उत्तेजित होने पर ही अभिव्यक्ति करती है ।-- लेखक जो कि संवेदनात्मक क्षमता से साहित्य-सृजन करता है,वह संवेदनात्मक उद्देश्यों के अनुसार परिचालित होता है । वह अपनी अभिव्यक्ति का पैटर्न भी संवेदनात्मक उद्देश्यों के अनुसार बनाता है... ...

---

१ मुक्ति बोध : नये साहित्य का सौन्दर्य शास्त्र,पृ०सं० १६ ।

२ वही, पृ० सं० १०० ।

३ वही, पृ०सं० १२ ।

४

जाग्रत अन्तश्चेतना में अर्थात् इस प्रक्रिया में कल्पना उत्तेजित होकर संवेदनात्मक उद्देश्यों के अनुसार अनुभवों के साकार चित्र प्रस्तुत करती जाती है[1]।

निष्कर्षत:,मुक्तिबोध ने अपने सम्पूर्ण चिन्तन में विशेषतया जीवन मूल्यों की ही चर्चा की है तथा मनोमय जीवन और उसके अनुभव से ही आह्लाद की प्राप्ति मानी है-- मनोमय जीवन और उसका अनुभव, वस्तुत: कलात्मक है।उसी से हमें आह्लाद की प्राप्ति होती है, जिसमें एक ओर ज्ञान का प्रकाश है तो दूसरी ओर जीवन का आनन्द है[2]।

अन्यान्य साहित्यचिन्तक

आधुनिक हिन्दी साहित्य-चिन्तन के विकास में प्रस्तुत साहित्य चिन्तकों के अतिरिक्त शिवदान सिंह चौहान,डॉ०भारती,डॉ०नामवर सिंह, डॉ० रघुवंश, लक्ष्मीकान्त वर्मा, डॉ० रामस्वरूप चतुर्वेदी, विजयदेवनारायण साही, नेमिचन्द्र जैन, देवीशंकर अवस्थी, डॉ० जगदीश गुप्त ने भी साहित्य मूल्य एवं साहित्य सृजन के विषय में अपने विचार व्यक्त किए हैं। दिशानिर्देशन के लिए इन चिन्तकों की चर्चा करना ही यहाँ अपेक्षित है।

साहित्य के मूल्य स्थायी हैं अथवा परिवर्तनशील ? इन मूल्यों का जीवन मूल्यों से सम्बन्ध है या नहीं ? अगर है तो क्या संबंध है ? साहित्यकार किसके प्रति उत्तरदायी है ? आदि अनेक प्रश्न इन चिन्तकों के सम्मुख प्रस्तुत हुए हैं,जिनका समाधान करने का प्रयत्न इन विद्वान चिन्तकों ने किया है। इन नवीन चेतना के ,चिन्तकों के मूल्यों का आधार नव मानवतावाद और उसी से सम्बद्ध प्रगतिवाद है तथा उनकी मानवतावादी दृष्टि लौकिकता और यथार्थता पर टिकी हुई है। मानवता को शाश्वत होते हुए भी चिरगति शील है। उसे वे चिन्तक परिवर्तनशील नहीं कहना चाहते।

---

१ मुक्तिबोध : नये साहित्य का सौन्दर्यशास्त्र,पृ०सं० ६३।

नका मानवतावादी दृष्टि प्रकाश में उस समय आई जब बा भारत में प्राचीन मुल्यों का विघटन हो रहा था तथा परम्परागत मूल्यों के प्रति वह आस्था नहीं रह गई जो स्वतन्त्रता के पूर्व थी । धर्म, नैतिकता तथा आध्यात्मिकता के प्रति पुरानी निष्ठा लगभग समाप्त हो चली थी-- मूल्यों के इस विघटन को इन्होंने नवीन चेतना प्रदान की, साथ ही उस मानव को महत्त्व दिया जिसकी उपेक्षा द्वितीय महायुद्ध के उपरान्त ही होनी शुरू हो गई थी । द्वितीय महायुद्ध के फलस्वरूप मंहगाई,बेकारी तथा अनैतिकता दिन प्रति दिन बढ़ती जा रही थी । उसका यथार्थ चित्रण करने अथवा विघटन के जीवन कोअभिव्यक्ति देने की सामर्थ्य तत्कालीन साहित्य-चिन्तकों में न थी । प्रगतिवादी और प्रयोगवादी लेखकों ने इस क्षेत्र में प्रयत्न किये,किन्तु पूर्ण सफलता नवीन चिन्तकों को ही मिली ,क्योंकि उनके सम्पूर्ण साहित्य-चिन्तन में जनवादी परम्परा एवं समाज का सापेक्षता वाले व्यक्ति के स्वातन्त्र्य की ही चेतनाएँ हैं ।

नवीन चेतना के जिस मानव के व्यक्तित्व को महत्त्व दिया गया है, वह रोमांसवादियों का महामानव या मार्क्सवाद का संकल्पहीन मानव नहीं है । अपितु वह अपनी संकल्पशक्ति एवं विवेक के कारण अपने इतिहास का स्वयं नियामक है । वह मानव मुल्यों में अपनी आस्था को बनाए हुए है । मानव के विवेक एवं अपनी नियति के नियामक होने में पूर्ण विश्वास पैदा करने से ही मानव में मानव संरक्षा सम्भव है । नवमानवतावाद का उद्देश्य भी इसी मानव को संरक्षित रखते हुए, महत्व प्रदान करता है। इसी से समाज में व्यक्ति एवं मुल्यों की प्रतिष्ठा होती है । धर्मवीर भारती ने तो मानव को इतना अधिक महत्त्व दिया है कि जहाँ वे साहित्य की मर्यादा प्रगति मानते हैं, वहीं प्रगति की कसौटी मानव को कहते हैं[१] । मानव के आंतरिक दायित्व को जगाते हुए उसकी पूर्ण मुक्ति ही आज साहित्य का साध्य है । भारती ने पीड़ा को इस आंतरिकता

---

१ आलोचना,अंक १०।

को जगाने में समर्थ माना है । वे व्यक्ति और समाज के मूल्यों तथा विघटन की निवृत्ति के समन्वय को भी सम्भव मानते हैं-- जो आंतरिकता इस विघटन का परिहार कर ऐसी नई भावभूमि का सृजन कर सके, जिसमें व्यक्ति और समाज के कृत्रिम विरोध का परिशमन हो[1] ।

इस मानवतावादी दृष्टि के साथ नैतिकता, सौन्दर्यबोध के प्रत्यय भी जुड़े हुए हैं । नैतिकता का कोई रूढ़ मानदंड इन चिन्तकों को मान्य नहीं है ।वे इसका नियामक जीवन के यथार्थ एवं मानवीय संवेदना को ही मानते हैं । नैतिक मूल्य समाज निरपेक्ष न होकरसमाज सापेक्ष ही हैं,इसी प्रकार समाज और जीवन के परिवेश में ही व्यक्ति मूल्यों को स्वीकृति मिली है । वास्तव में नवीन चेतना का चिन्तक परिवेश के साथ बदलने वाले सामाजिक मूल्यों को खोज नहीं करता वह तो गहरे मानवीय मूल्यों का अन्वेषक है । वह मानता है कि ये नैतिक मूल्य उतने ही शाश्वत हैं,जितना बुद्धि सम्पता का मानव[2] ।

इनका सौन्दर्य-बोध भी यथार्थ पर आधारित है । वे यथार्थ की संवेदना में, अन्तर्विरोधों के अस्तित्व में सौन्दर्य देखते हैं । इस सौन्दर्य का नैतिकता से विरोध नहीं मानते । इस प्रकार सौन्दर्य मूल्यों और नैतिक मूल्यों में अन्तर्विरोध न मानने वाले इन चिन्तकों को सौन्दर्य-बोध और नैतिक बोध का मानवीय स्तर पर सामंजस्य ही अभीप्सित है ।

नवीन चिन्तन में कवि की सृजनात्मकता पर भी बहुत अधिक बल दिया गया है । इनके अनुसार अन्त:प्रेरणा ही एक ऐसा सबल एवं सशक्त माध्यम है जो मानवीय स्तर पर जगकर, सृजन में परिणत होने के लिए विवश हो उठती है एवम् कला का निर्माण करती है । क्षण को महत्त्व देने के कारण ये विद्वान यह भी मानते हैं कि सृजन का वह क्षण इतना प्रबल होता है कि कला सृष्टि अपने आप हो जाती है[3] । यह सृजन कलाकार के अहं की [illegible] पुष्टि

---

१ धर्मवीर भारती : मानव मूल्य और साहित्य,पृ०सं० १७६ ।

२ आलोचना,अंक६,पृ०सं० १३० ।

३ धर्मवीर भारती : मानव मूल्य और साहित्य,पृ०सं० १६१ ।

नहीं है, अपितु युग और समाज के परिप्रेक्ष्य में रहने वाले मानव के व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति है ।

धर्मवीर भारती ने अपनी समीक्षा में गंभीर अध्ययन का उपयोग करते हुए अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में व्यापक मानववादी दृष्टिकोण प्रस्तुत किया है । उन्होंने मार्क्स और फ्रायड दोनों की परीक्षा करते हुए मानव-विवेक और संकल्प के आधार पर अपना मूल्यवादी दृष्टिकोण विकसित किया तथा यथार्थ और परिवेश के प्रति सचेतना को रचना और रचनाकार की कसौटी के रूप में ग्रहण करते हुए वर्तमान लेखकों को हाथीदाँत की भारतीय मीनारों से बाहर आने को कहा है[1] । भारती जी ने मानव की अन्तरात्मा आंतरिकता, आत्मान्वेषण तथा आत्मोपलब्धि पर भी बहुत जोर दिया है। अस्तित्ववाद का प्रभाव भी उनपर पड़ा है, इसी प्रभावस्वरूप उनको ईश्वर, धर्म आदि से सम्बन्धित सभी परम्परागत धारणाएँ अस्वीकार्य हैं । वे अनास्थामूलक दृष्टिकोण को स्वीकार करते हुए ईश्वर को वंचक तक कह गये हैं ।

शिवदान सिंह चौहान और नामवर सिंह प्रगतिवादी समीक्षक कहलाते हैं । उद्देश्यप्रधान समाजशास्त्रीयदृष्टिकोण इस समीक्षा की प्रमुख विशेषता है । ये साहित्य को सामाजिक वर्ग चेतना की अभिव्यक्ति मानते हैं । इनके अनुसार साहित्य का लक्ष्य समाज हित है, वही साहित्य श्रेष्ठ है, जिसमें शोषित वर्ग का समर्थन हुआ है तथा जो एक वर्गहीन समाज के निर्माण के लिए आधार तैयार करता है । उन्होंने साहित्य का सोद्देश्य होना अनिवार्य माना है ।

शिवदान सिंह चौहान ने मार्क्सवाद को उदारवादी स्वरूप प्रदान करते हुए सामाजिकता और लोकमंगल की भावना का ही विकास

---

१ धर्मवीर भारती : मानव मूल्य और साहित्य, पृ०सं० ७८ ।

किया है।जनता में उनकी अमिट आस्था है और उनकी सेवा करना ही वे अपना परम धर्म मानते हैं[1]। समाज और व्यक्ति की उन्नति के लिए जिस प्रकार उनको कला और साहित्य की उन्नति की आवश्यकता है, उनका नवनिर्माण प्रयोजनीय है उसी प्रकार। चौहान जी हर युग में उसके व्यापक मानव मूल्यों का निर्धारण भी उतना ही प्रयोजनीय मानते हैं[2]। अत: जनवादी शक्तियों को अपना समर्थन और सहयोग देते हुए उन्होंने साहित्य में मानव मूल्यों की प्रतिष्ठा पर अधिक बल दिया है। शोषण मुक्त आर्थिक सम्बन्धों का उद्देश्य उन्होंने केवल मात्र क्षुधा काम की वृत्तियों को सन्तुष्ट करना ही नहीं माना है,अपितु समाज को मानवीय बनाना चाहा है तथा व्यक्ति की आत्मा को रचनात्मक प्रेरणा प्रदान करनी चाही है। वे कहते हैं कि वैज्ञानिक सौन्दर्यमूलक सामाजिक दृष्टिकोण की अवधारणा कला और साहित्य में प्रतिबिम्बित जीवन सत्य द्वारा निरूपित मानव मूल्यों से ही हो सकेगी[3]। इस प्रकार उन्होंने मानवमूल्यों को ही साहित्य चिन्तन के क्षेत्र में सर्वाधिक महत्व दिया है।

नामवर सिंह जी की मूल्य दृष्टि मानवतावादी है,क्योंकि वे मानते हैं कि जिसका मानवतावाद जितना ही अस्पष्ट और उलझा हुआ होगा उसके साहित्य का रूपविधान भी उतना ही अस्पष्ट और उलझनपूर्ण होगा।इसके विपरीत जिसका मानवतावाद जितना ही स्पष्ट और मूर्त होगा, उनके चित्रों और पात्रों में भी उतनी ही सजीवता होगी तथा उसकी भाषा भी उतनी ही सहज स्वाभाविक, संवेद्य और ओजस्विनी होगी[4]। उनके इस कथन से स्पष्ट होता है कि मानवतावाद को वे कितना अधिक महत्व देते हैं तथा उसके अभाव में साहित्य में सजीवता और भाषा की उत्कृष्टता को भी असंभव मानते हैं।

---

१ नई चेतना,अंक ४,पृ०सं० ६ ।

२ शिवदान सिंह चौहान : साहित्यानुशीलन,पृ०सं० २ ।

३ वही,पृ०सं० ३ ।

साहित्य में उन्होंने प्रतिभा को आवश्यक तो माना है परन्तु उनके साथ ही साधना की आवश्यकता पर भी बल दिया है । वे मानते हैं कि अगर प्रतिभा जन्मजात है तो उसे हमेशा ही सृजनशील होना चाहिए,परन्तु ऐसा प्राय: देखने में नहीं आता, इसका मतलब है कि केवल मात्र प्रतिभा से ही श्रेष्ठ साहित्य की रचना नहीं होती, अपितु उसके लिए साधना की भी आवश्यकता है-- साहित्य के सामान्य धरातल से सहसा कोई महान साहित्यकार ऊपर उठता दिखाई पड़ता है तो इसका अर्थ यह नहीं हैकि वह जन्म से ईश्वर प्रदत्त प्रतिभा लेकर आया था । किसी विशेष व्यक्तित्व का सहसा ऊपर उठना वस्तुत: आकस्मिक नहीं है । हम तो उसकी कृति को ही सहसा देखते हैं, उस कृति के पीछे लगी हुई साधना से हम प्राय: अपरिचित रहते हैं[1] ।

अनुभूति को भी उन्होंने रचनात्मक प्रतिभा माना है, जिसके बिना साहित्य रचना असम्भव है । साहित्य से समाज का घनिष्ठ संबंध मानते हुए उन्होंने जनशक्ति को प्रमुखता प्रदान की है तथा जनता के प्रति अत्यधिक आस्था के भाव को मानवतावाद[2] कहा है ।

रघुवंश जी की दृष्टि अत्यन्त संतुलित है और उनकी शैली विश्लेषणात्मक है । वे बिना किसी पूर्वाग्रह के तर्क के माध्यम से तथ्य तक पहुँचते हैं । उनके निष्कर्ष भी नई चेतना के अनुरूप हैं । रघुवंश जी ने दायित्व और स्वातन्त्र्य को अविच्छिन्न मूल्य माना है-- दायित्व और स्वातन्त्र्य एक ही प्रक्रिया की (अथवा मूल्य की) दो स्थितियाँ मात्र हैं ।.... वे एक दूसरे से अविच्छिन्न मूल्य हैं[3] । उन्होंने समाज को संगठन न मानकर मानव मूल्यों का वाहक माना है[4] तथा व्यक्ति की उन्नति,प्रगति इसी में मानी है कि वह सामाजिक समष्टि को गतिशील कर सके एवं सामाजिक कल्याण में योगदान दे सके ।क्योंकि

---

१ नामवर सिंह : इतिहास और आलोचना,पृ०सं० ४८ ।

२ वही,पृ०सं० ८८ ।

३ डॉ० रघुवंश : साहित्य का नया परिप्रेक्ष्य,पृ०सं० ४१ ।

समाज उससे अविच्छिन्न है और वह समाज की पूर्णता है[1]। इस प्रकार वे समाज और व्यक्ति का परस्पर बहुत निकट का सम्पर्क मानते हैं। साहचर्य,प्रेम,सहानुभूति अथवा सौन्दर्य जो व्यक्ति की किसी अपेक्षा की अपने आप में सार्थक प्रक्रिया है-- को भी वे मूल्य ही मानते हैं[2]।

लक्ष्मीकान्त वर्मा जी मानते हैं कि करुणा और आनंद की भावस्थितियों में ही कलाकार मूल्यों का निर्माण करता है। प्रज्ञा,दृष्टि, विवेक और सत्य के तत्त्वों को मानव सापेक्ष, जीवन सापेक्ष और यथार्थ सापेक्ष संदर्भ में ग्रहण करने में ही कलाकार की मौलिकता है,कला पांडित्य नहीं है, इसलिए कला को प्रज्ञा,दृष्टि या विवेक निरपेक्ष मूल्य सम्भव नहीं है[3]। मानवीय मूल्यों की चर्चा करते समय उसके केन्द्र मानव से उनका तात्पर्य न तो सहज मानव से है[4] और[5] न जनमानस से[6],अपितु विशिष्ट मानव को ही वे उसका केन्द्र मानते हैं। सत्य,शिव और सौन्दर्य को सत्य और[7] सौंदर्य पर अधिक बल देते हुए वर्मा जी ने शिव तत्त्व को भी स्वीकार किया है।सौन्दर्य और आनन्द[8] दोनों को ही उन्होंने बौद्धिक प्रक्रिया की समरसता का परिणति माना है। वर्मा जी ने कल्पना की भी चर्चा की है,किन्तु उसे उन्होंने पूर्ण तभी माना है, जब कि उसकी प्रामाणिकता मुक्त सत्य पर आधारित होती है-- परन्तु उसे वे निरी कल्पना ही न मानकर व्यक्ति[9] के मार्मिक क्षणों की मुक्त अनुभूति से उपजी हुई धारणा भी कहते हैं।

---

१ डॉ० रघुवंश : साहित्य का नया परिप्रेक्ष्य,पृ०सं० ३८।

२ वही,पृ०सं० ३६।

३ लक्ष्मीकांत वर्मा : नये प्रतिमान पुराने निकष,पृ०सं० २७४-७५।

४ वही,पृ०सं० ११४।

५ वही,पृ०सं० ७८।

६ वही,पृ०सं० २०७।

७ वही,पृ०सं० ७१

८ वही,पृ०सं० २६४।

रामस्वरूप चतुर्वेदी जी ने पाश्चात्य साहित्य चिन्तन के आलोक में नवीन चेतनन की प्रवृत्तियों का विश्लेषण किया है ।वे मानते हैं कि साहित्य का सृजन शून्य में नहीं होता, उसका एक ऐतिहासिक परिवेश होता है, जो तत्कालीन विचारकों तथा कलाकारों की रचनात्मक प्रक्रिया से घनिष्ठरूप से सम्बद्ध रहता है[1] । चतुर्वेदी जी ने भी साहित्य चिन्तन में मानव मूल्यों की ही प्रतिष्ठा की है तथा उसके साथ बौद्धिक दृष्टिकोण का विकसित होना दिखाया है[2] ।

हमारा आज का साहित्य-चिन्तन उपर्युक्त विश्लेषित मूल्यों की दिशा में ही प्रवहमान है । उसका भावी स्वरूप इन्हीं का विकसित रूप होगा, जिसके द्वारा और महान साहित्य का निर्माण हो सकेगा ।

-0-

---

१ रामस्वरूप चतुर्वेदी : हिन्दी नवलेखन, पृ०सं० ३४ ।

२ वही, पृ०सं० २१ ।

उपसंहार

उपसंहार

पाश्चात्य साहित्य-चिन्तन एवं भारतीय साहित्य-चिन्तन दोनों ही चिन्तनपरम्पराओं में अपने-अपने ढंग से कला और काव्य के उद्देश्य तथा प्रयोजन आदि प्रश्नों पर विचार करते हुए संतोषप्रद समाधान ढूंढने का प्रयास किया गया है । कला और काव्य के प्रयोजन तथा उद्देश्य से सम्बन्धित मूल्य-दृष्टियों पर भी इन चिन्तनों में विस्तार से विचार हुआ है, परन्तु इनके सांस्कृतिक एवं ऐतिहासिक सन्दर्भ भिन्न होने से चिन्तन क्रम में निर्मित होने वाली मूल्यदृष्टियों में भी भिन्नता सहज स्वाभाविक है । पाश्चात्य साहित्य-चिन्तन में कला का मूल तत्व सौन्दर्य है तथा भारतीय काव्यशास्त्र में रस ।

हमारे आधुनिक हिन्दी साहित्य-चिन्तन ने चूंकि उपर्युक्त दोनों चिन्तन परम्पराओं से प्रभाव ग्रहण किया है,इसलिए इसमें कला का उद्देश्य सौन्दर्य या आनन्द दोनों को ही माना जाता है । इन दोनों प्रयोजनों के अतिरिक्त नैतिक शिक्षा देना, समाज को उन्नत करना तथा मानव के कल्याण की चेष्टा करना भी साहित्य के अन्य प्रयोजन हैं । आधुनिक हिन्दी साहित्य चिन्तन में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के आगमन से कुछ स्थिरता आई या कह सकते हैं कि आधुनिक हिन्दी साहित्य चिन्तन भारतेन्दु के आगमन से ही प्रारम्भ हुआ, जिसका विकास आज तक निरन्तर होता चला जा रहा है । आज का अति आधुनिक साहित्य भारतेन्दुकाल के चिन्तन की अपेक्षा बहुत अधिक विकसित हो चुका है, उसमें अनेक नवीन क्षेत्रों का विकास हुआ है । वह स्थूलता से सूक्ष्मता की ओर बढ़ रहा है ।

भारतेन्दु युग के साहित्य-चिन्तन में जनवादी,धार्मिक तथा सामाजिक आदि मूल्य पाये जाने लगे । द्विवेदी युग की सुधारवादिता

तथा नैतिकता ने साहित्य चिन्तन को प्रौढ़ तथा विकसित करते हुए उसमें आनन्द,सौन्दर्य तथा नैतिक मूल्यों का समावेश किया अर्थात् चिन्तकों को दृष्टि भारतेन्दु युगीन चिन्तन से अधिक विकसित हो गई । रामचन्द्र शुक्ल युग में तो साहित्य चिन्तन अपनी बहुत ही विकसित अवस्था को पहुँच गया, उसमें अनेक विद्वान साहित्य चिन्तक हुए,जिनके साहित्य-चिन्तन में अनेक सूक्ष्म एवं स्थूल मूल्यों का अन्तर्भाव हुआ । इस युग के छायावादी कलाकारों ने साहित्य को अलंकृत किया । शुक्ल युग के बाद से तो साहित्य चिन्तन निरन्तर प्रौढ़ एवं परिष्कृत ही होता चला जा रहा है । आधुनिककाल के इन सभी युगों के साहित्य चिन्तन में स्थूल मूल्यों से सूक्ष्म मूल्यों की ओर अग्रसर होने की प्रवृत्ति दिखायी देती है,परन्तु आश्चर्य की बात तो यह है कि सम्पूर्ण आधुनिक हिन्दी साहित्य चिन्तन में कोई भी ऐसा प्रसिद्ध चिन्तक नहीं दिखाई देता, जिसके चिन्तन में केवल कलात्मक मूल्यों का ही अन्तर्भाव हुआ हो ।

हिन्दी साहित्य चिन्तन का विकास युग और जीवन के क्रियाशील एवं विकासमान तत्त्वों के अनिवार्य तकाज़े से हुआ है । वह संस्कृत तथा विदेशी भाषाओं की विशाल परम्परा को समेटकर आगे बढ़ा है,इसलिए आज के विकासयुग में भी उसकी निरन्तर उन्नति ही होनी चाहिए,उसमें किसी प्रकार का अवरोध न आ जाये,इससे साहित्यचिन्तकों को सतर्क रहना चाहिए ।

-0-

सहायक-ग्रन्थ-सूची

सहायक-ग्रन्थ-सूची

(क)

हिन्दी के ग्रन्थ

१- अमृतराय -- नई समीक्षा, हिन्दुस्तानी पब्लिशिंग हाउस, बनारस, संवत् २००० वि० ।

२- आनन्दप्रकाश दीक्षित -- रससिद्धान्त : स्वरूप और विश्लेषण, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, १९६० ।

३- आप्टे वामन शिवराम -- संस्कृत हिन्दी कोष

४- इलाचन्द्र जोशी -- विश्लेषण, शारदा प्रकाशन, भागलपुर, प्रथम संस्करण, १९५४ ।
विवेचना-- हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, प्रथम संस्करण, संवत् २००५ वि० ।
देखा परखा -- राजपाल एण्ड संस, दिल्ली ।
साहित्य चिन्तन, अजन्ताप्रेस, पटना, १९५५ई० ।

५- ईश्वरचन्द्र शर्मा -- पश्चिमीय आचार विज्ञान का आलोचनात्मक अध्ययन, राजपाल एण्ड संस दिल्ली, १९६१ई० ।

६- कन्हैयालाल पोद्दार -- अलंकार मंजरी, संवत् १९९३वि० ।

७- कृष्णवल्लभ जोशी -- पाश्चात्य साहित्यशास्त्र : सिद्धांत और संप्रदाय, स्मृति प्रकाशन, इलाहाबाद, १९७१ई० ।

८- केसरीनारायण शुक्ल --भारतेन्दु के निबन्ध, सरस्वती मंदिर, काशी, सं०२००७वि०

९- गंगाप्रसाद पाण्डेय(सम्पा०)--महादेवी का विवेचनात्मक गद्य, इंडियन प्रेस, इलाहाबाद, १९४४ई० ।

१०- गजानन माधव मुक्तिबोध --कामायनी एक पुनर्विचार,साहित्यभारती,
दिल्ली १९७३ ।
नयी कविता का आत्मसंघर्ष तथा अन्य निबंध,
विश्वभारती प्रकाशन, नागपुर,१९६४ ।
नये साहित्य का सौंदर्यशास्त्र,राधाकृष्ण प्रकाशन,
दिल्ली१९७१ई० ।

११- गुलाबराय -- सिद्धान्त और अध्ययन,आत्माराम एण्ड संस,दिल्ली,१९७०
अध्ययन और आस्वाद, ,, ,, संवत् २०१४वि०
काव्य के रूप, प्रतिमा प्रकाशन, दिल्ली,सं०२०१४ वि०

१२- जगदीशचन्द्र जैन -- पाश्चात्य समीक्षा दर्शन, हिन्दी प्रचारक संस्थान,
वाराणसी,१९६६ई० ।

१३-जगदीश गुप्त(सम्पा०)-- बिहारी संग्रह, हिन्दी परिषद् प्रकाशन, प्रयाग
विश्वविद्यालय,चतुर्थ संस्करण ।

१४- जयशंकर प्रसाद -- काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध,भारती भंडार,
लीडर प्रेस,प्रयाग,संवत् २०२६ वि० ।

१५- जैनेन्द्रकुमार -- मन्थन, पूर्वोदय प्रकाशन,दिल्ली१९५३ ।
साहित्य का श्रेय और प्रेय,पूर्वोदय प्रकाशन,नई दिल्ली।
जड़ की बात, हिन्दी साहित्य मंदिर,प्रयाग,१९४६।
इतस्ततः ।
पूर्वोदय, पूर्वोदय प्रकाशन,दिल्ली१९५० ।
प्रस्तुत प्रश्न,हिन्दी ग्रन्थ रत्नाकर कार्यालय,बम्बई,१९३९।
प्रश्न और प्रश्न,पूर्वोदय प्रकाशन,दिल्ली,१९६६।

१६- तुलसीदास -- रामचरितमानस ,सम्पादक माताप्रसाद गुप्त,हिन्दुस्तानी
एकेडमी,इलाहाबाद ।
कवितावली,संपादक रामचन्द्र शुक्ल आदि,काशी नागरी
प्रचारिणी सभा ।

१७- दास -- काव्यनिर्णय ।

१६- देवराज -- संस्कृति का दार्शनिक विवेचन,प्रकाशन ब्यूरो,सूचनाविभाग, उत्तरप्रदेश,१६५७ ।

२०- देवराज उपाध्याय -- रोमांटिक साहित्यशास्त्र,आत्माराम एण्ड संस, दिल्ली,१६५१ ।

२१- धर्मवीर भारती -- मानव मूल्य और साहित्य, भारतीय ज्ञानपीठ,काशी, १६६० ।

२२- नगेन्द्र -- आस्था के चरण,नेशनल पब्लिशिंगहाउस, दिल्ली,१६६८ ।

आलोचना की आस्था, ,, ,,१६६६ ।

विचार और विश्लेषण,, ,,

महादेवी की आलोचक दृष्टि ।

विचार और विवेचन,गौतम बुक डिपो,दिल्ली१६४६ ।

विचार और अनुभूति, प्रदीप कार्यालय,मुरादाबाद,संवत्१६६१वि०

समस्या और समाधान, नेशनल पब्लिशिंग हाउस,१६७१ ।

रस सिद्धान्त , ,, ,, १६६४ ।

काव्यचिन्तन, नवभारती प्रकाशन,मेरठ,१६५१६०।

भारतीय काव्यशास्त्र की भूमिका,ओरिएण्टल बुक डिपो, दिल्ली,१६५५ ।

भारतीय काव्यशास्त्र की परम्परा,नेशनल पब्लिशिंगहाउस, दिल्ली,१६५६ ।

अरस्तू का काव्यशास्त्र,(सम्पादित एवं अनुवादित)भारती भंडार,इलाहाबाद ।

काव्य में उदात्त तत्त्व(सम्पादित),राजपाल एंडसंस दिल्ली, प्रथम संस्करण।

पाश्चात्य काव्यशास्त्र : मार्क्सवादी परम्परा(संपादित) दिल्ली विश्वविद्यालय ।

२३-नेमिचन्द्र जैन -- बदलते परिप्रेक्ष्य,राजकमल प्रकाशन,प्रा०लिमिटेड,दिल्ली,

काव्य में उदात्त तत्त्व(सम्पादित) राजपाल एण्ड संस,दिल्ली,
प्रथम संस्करण ।
२४- नामवर सिंह -- इतिहास और आलोचना,नया साहित्य प्रकाशन,इलाहाबाद
सन १९६२ई० ।
२५- निर्मला जैन -- उदात्त के विषय में, ऋषभचरण जैन एवं संतति,
दिल्ली,१९७०ई० ।
प्लेटो के काव्यसिद्धान्त,नेशनल पब्लिशिंगहाउस,दिल्ली,
१९६५ई० ।
२६- नन्ददुलारे वाजपेयी-- नया साहित्य : नए प्रश्न, विद्यामंदिर,बनारस,१९५५।
हिन्दी साहित्य : बीसवीं शताब्दी,लोकभारती प्रकाशन,
इलाहाबाद,१९७०ई० ।
आधुनिक साहित्य,भारती भंडार,प्रयाग,संवत् २००७वि० ।
जयशंकर प्रसाद,भारती भंडार,प्रयाग ,१९९७वि० ।
२७- पद्मसिंह शर्मा 'कमलेश' -- मैं इनसे मिला(भाग२)आत्माराम एंड सन्स,दिल्ली,
१९५२ई० ।
२८- पारसनाथ तिवारी-- कबीर ग्रन्थावली,हिन्दी परिषद्,प्रयाग विश्वविद्यालय
१९६१ई० ।
कबीर संग्रह,(सम्पादित)हिन्दी परिषद् प्रकाशन,प्रयाग
विश्वविद्यालय,चतुर्थ संस्करण ।
२९- प्रेमचन्द -- कुछ विचार,सरस्वती प्रेस,बनारस ।
विविध प्रसंग, संकलन और रूपान्तर,अमृतराय द्वारा
हंस प्रकाशन,इलाहाबाद १९६२ ।
चिट्ठी पत्री,हंस प्रकाशन, इलाहाबाद१९६२।
साहित्य के उद्देश्य, हंस प्रकाशन, प्रयाग,१९५४ ।
महाजनी सभ्यता, हंस प्रकाशन,प्रथम संस्करण,स्मृति अंक ।

३१- बालकृष्ण भट्ट -- भट्ट निबंधावली (सं०देवीदत्त शुक्ल)हिन्दी साहित्य सम्मेलन प्रयाग ।

भट्ट निबंधमाला, नागरी प्रचारिणी सभा,काशी,सं०२००४वि०।

३२- बलदेव उपाध्याय -- भारतीय साहित्यशास्त्र(भाग१)नंदकिशोर एण्ड संस, वाराणसी,१९६३।

भारतीय साहित्यशास्त्र(भाग२)नंदकिशोर एंड संस, वाराणसी,तृतीय संस्करण।

३३- बलभद्र तिवारी -- आधुनिक साहित्य की व्यक्तिवादी भूमिका,नंदकिशोर एंड संस,वाराणसी,१९६२ ।

३४- बिहारी -- बिहारी सतसई,सम्पादित द्वारा नवलकिशोर प्रेस,लखनऊ ।

३५- भगीरथ मिश्र -- हिन्दी काव्यशास्त्र का इतिहास,१९५७ ।

३६- मक्खनलाल शर्मा -- पाश्चात्य काव्यशास्त्र; मार्क्सवादी परम्परा(भूमिका) हिन्दी विभाग,दिल्ली विश्वविद्यालय,दिल्ली ।

३७- महावीर प्रसाद द्विवेदी-- संचयन(सं०प्रभात शास्त्री)साहित्य संघ,प्रयाग,संवत् २००६वि० ।

रसज्ञ रंजन,साहित्य रत्न भंडार,आगरा।

आलोचनांजलि, इण्डियन प्रेस,१९२८ई० ।

कालिदास की आलोचना,झांसी,१९०१ई० ।

३८- महावीर दधीच -- आधुनिकता और भारतीय परम्परा,शब्द लेखा प्रकाशन, बीकानेर,१९६८ई० ।

३९- महादेवी वर्मा -- संकल्पिता,सेतु प्रकाशन,झांसी संवत२०२५वि०।

क्षणदा,भारती भवन,प्रयाग,संवत् २०१३वि० ।

दीपशिखा ,किताबिस्तान,प्रयाग१९४२ई०।

यामा, किताबिस्तान,इलाहाबाद,१९३९ई० ।

आधुनिक कवि(भाग१),हिन्दी साहित्य सम्मेलन,प्रयाग।

४०- मोहन अवस्थी -- सम्पादक सूर संग्रह,हिन्दी परिषद प्रकाशन,प्रथम संस्करण,प्रयाग

४१- योगेन्द्रप्रताप सिंह -- हिन्दी वैष्णव भक्ति काव्य में निहित काव्यादर्श एवं काव्यशास्त्रीय सिद्धान्त ।

४२- रघुवंश -- साहित्य का नया परिप्रेक्ष्य,भारतीय ज्ञानपीठ, काशी,प्रथम संस्करण,१९६३ई० ।

४३- रणवीर रांगा -- डॉ० नगेन्द्र: व्यक्तित्व और कृतित्व,भारतीय साहित्य मंदिर,दिल्ली,१९६५ई० ।

४४- रमेशकुन्तल मेघ -- सौन्दर्य मूल्य और मूल्यांकन,गुरु नानक यूनिवर्सिटी अमृतसर,१९७५ई० ।

४५- राजेन्द्रप्रताप सिंह -- सौन्दर्यशास्त्र की पाश्चात्य परम्परा,नया साहित्य प्रकाशन,इलाहाबाद,१९६९ई० ।

४६-डॉ० रामकुमार वर्मा-- आधुनिक कवि(भाग३),हिन्दी साहित्य सम्मेलन,प्रयाग
साहित्यशास्त्र,साकेत प्रकाशन,प्रयाग१९५५ई०।
साहित्य समालोचना,साहित्य मंदिर,प्रयाग,प्रथम संस्करण,संवत् १९८७वि० ।

४७- रामदहिन मिश्र -- काव्यदर्पण,ग्रन्थमाला कार्यालय,पटना,१९५१ई० ।
काव्यविमर्श,ग्रन्थमाला कार्यालय,पटना,१९५१ई० ।

४८- रामचन्द्र शुक्ल -- चिन्तामणि(भाग१),इण्डियन प्रेस लिमिटेड,१९४९ई०।
चिन्तामणि(भाग२)सरस्वतीमंदिर,काशी,सं०२०१०वि०।
गोस्वामी तुलसीदास,काशी नागरीप्रचारिणीसभा, काशी,प्रथम संस्करण,संवत् २००८वि० ।
रसमीमांसा,नागरी प्रचारिणीसभा,काशी,प्रथम संस्करण संवत् २००६वि० ।
त्रिवेणी(सं०कृष्णानन्द)नागरी प्रचारिणीसभा,काशी, प्रथम संस्करणसंवत् १९९५वि० ।
शेष स्मृतियाँ(डॉ० रघुवीर सिंह कृत)की भूमिका, १९३९ई० ।

५०- रामविलास शर्मा -- भारतेन्दु हरिश्चन्द्र,राजकमल प्रकाशन,प्रा०लि०,दिल्ली,
१९६६ई० ।
प्रगतिशील साहित्य की समस्याएँ,विनोद पुस्तक मंदिर,
आगरा,प्रथम संस्करण,१९५४ई०।
लोकजीवन और साहित्य,विनोद पुस्तक मंदिर,आगरा,
१९५५ई० ।
संस्कृति और साहित्य,किताब महल,इलाहाबाद,१९५२ई०।
प्रगति और परम्परा, ,, ,, १९४९ई०।
स्वाधीनता और राष्ट्रीय साहित्य,हिन्दी प्रचारक
पुस्तकालयकाशी,१९५६ई० ।

५१- रामशंकर शुक्ल रसाल -- अलंकार पीयूष(दो भाग),रामनारायणलाल
पब्लिशर,प्रयाग,१९२९,१९३०ई० ।

५२- रामस्वरूप चतुर्वेदी -- हिन्दी नवलेखन,भारतीय ज्ञानपीठ,काशी,प्रथम
संस्करण,१९६०ई० ।

५३- रायकृष्णदास -- महादेवीवर्मा कृत नीरजा की भूमिका,इण्डियनप्रेस,प्रयाग
१९३६ई० ।

५४- लक्ष्मीकांत वर्मा -- नये प्रतिमान : पुराने निकष,भारतीय ज्ञानपीठ,प्रकाशन,
काशी,१९६६ई० ।

५५- आचार्य विश्वेश्वर(व्याख्याकार)--हिन्दी वक्रोक्ति जीवित,आत्माराम एंडसंस
दिल्ली१९५५ई० ।

५६- विश्वनाथप्रसादमिश्र -- हिन्दी का सामयिक साहित्य,वाणी वितान प्रकाशन,
वाराणसी,संवत् २०२१वि० ।

५७- श्यामसुन्दरदास--साहित्यालोचन,साहित्य रत्नमालाकार्यालय,काशी।
कबीर ग्रन्थावली(सम्पादन)।

५८- शिवदान सिंह चौहान-- साहित्यानुशीलन,आत्माराम एंड संस,दिल्ली,
१९५५ई० ।

५६- शान्ति जोशी -- सुमित्रानंदन पंत : जीवन और साहित्य,राजकमलप्रकाशन,
दिल्ली,१६७०ई० ।

६०- शान्तिस्वरूप गुप्त -- पाश्चात्य काव्यशास्त्र के सिद्धान्त,अशोक प्रकाशन,
दिल्ली,१६७०ई० ।

६१-सच्चिदानन्द हीरानन्द -- आत्मनेपद ,भारतीय ज्ञानपीठ,काशी,१६६०ई०।
वात्स्यायन अज्ञेय
त्रिशंकु,सरस्वती प्रेस,बनारस,१६४५ई० ।
शेखर एक जीवनी(पहला भाग)सरस्वती प्रेस,तृतीय
संस्करण,१६४६ई० ।
तार सप्तक(सम्पादित)भारतीय ज्ञानपीठकाशी,
१६६६ई० ।
आधुनिक हिन्दी साहित्य--राजपाल एंड संस,१६७६ई०।
नदी के द्वीप,प्रगति प्रकाशन,दिल्ली।
हिन्दी साहित्य:एक आधुनिक परिदृश्य,१६६७ई०।

६२- सत्यदेव चौधरी -- भारतीय तथा पाश्चात्य काव्यशास्त्र का संक्षिप्त विवेचन,
अशोक प्रकाशन,दिल्ली,१६७१ई० ।

६३-सावित्री सिन्हा(सम्पा०)-- पाश्चात्य काव्यशास्त्र की परम्परा,हिन्दी विभाग
दिल्ली विश्वविद्यालय,दिल्ली ।

६४- सुमित्रानन्दन पंत -- आधुनिक कवि(भाग२)हिन्दी साहित्य सम्मेलनप्रयाग
२००३वि० ।
उत्तरा,भारती भंडार,प्रयाग,२००६वि० ।
पल्लव ।
शिल्प और दर्शन,रामनाथ बेनीप्रसाद,प्रयाग,१६६१ई०।
कला और संस्कृति,किताब महल,इलाहाबाद१६६५ई० ।
छायावाद पुनर्मूल्यांकन,लोकभारती प्रकाशन,इलाहाबाद,
१६६५ई० ।
शिल्प और सौन्दर्य ।

६५-सुरेन्द्रनाथ दास गुप्त-- सौन्दर्य तत्त्व,अनुवादक आनंदप्रकाश दीक्षित,भारती भंडार,लीडर प्रेस,इलाहाबाद,संवत् १०१७वि० ।

६६-सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला-- गीतिका,भारतीभण्डार,लीडर प्रेस,इलाहाबाद २००५वि० ।

परिमल ,गंगा पुस्तक कार्यालय,लखनऊ सं०१९८६वि०।

प्रबन्ध पद्म,गंगा पुस्तकमाला कार्यालय,लखनऊ

प्रबन्ध प्रतिमा,भारती भंडार,प्रयाग संवत्१९९७वि० ।

६७- सूरदास -- सूरसागर,सम्पादित,नंददुलारे वाजपेयी द्वारा ।

६८- हजारीप्रसाद द्विवेदी -- विचार और वितर्क,साहित्य भवन प्रा०लि०इलाहाबाद १९६६ई०।

साहित्य सहचर,नैवेद्य निकेतन,वाराणसी,१९६५ई०।

कालिदास की लालित्य योजना,नैवेद्यनिकेतन,वाराणसी १९६५ई०।

आलोक पर्व,राजकमल प्रकाशन, दिल्ली,१९७२ई० ।

विचार प्रवाह,हिन्दी ग्रन्थ रत्नाकरकार्यालय,बम्बई, १९५९ई० ।

अशोक के फूल,सस्ता साहित्य मंडल,नई दिल्ली,१९४८ई०।

साहित्य का मर्म,विश्वविद्यालय,लखनऊ,१९५२ई०।

कल्पलता,बनारस ज्ञानमंडल,१९५२ई० ।

हिन्दी साहित्य की भूमिका,हिन्दी ग्रन्थरत्नाकर, बम्बई,१९५४ई० ।

काव्यशास्त्र(सम्पादक),भारती साहित्यमंदिर,दिल्ली

६९-डॉ० कामिल बुल्के -- अंग्रेजी हिन्दी कोश,द्वितीय संस्करण,१९७१ई० ।

प्रेमघन सर्वस्व(प्रथमभाग),१९३९ई०।

हिन्दी पत्र-पत्रिकाएँ

आनन्द कादम्बिनी, आलोचना (त्रैमासिक), इन्दु (मासिक),
ज्ञानशिखा, नई चेतना (मासिक), प्रतीक (त्रैमासिक),
ब्राह्मण, साप्ताहिक हिन्दुस्तान (साप्ताहिक), साहित्य संदेश (मासिक),
सुधा, हिन्दी प्रदीप, हंस (मासिक) ।

(ख) संस्कृत के काव्यशास्त्रीय ग्रन्थ(कालक्रमानुसार)

भरतमुनि -- नाट्यशास्त्र, निर्णयसागर प्रेस तथा चौखम्बा संस्कृत सिरीज़ बनारस ।

भामह -- काव्यालंकार, चौखम्बा संस्कृत सिरिज़,बनारस,१६२८ ।

दण्डी -- काव्यादर्श, ओरिएण्टल बुक सप्लाइंग एजेंसी, पूना,१६२४ ।

वामन -- काव्यालंकार-सूत्र, आत्माराम एण्ड संस, दिल्ली ।

रुद्रट --काव्यालंकार, निर्णय सागर प्रेस, बम्बई, १६२८ ।

आनन्दवर्धन --ध्वन्यालोक, गौतम बुक डिपो, दिल्ली ।

अभिनवगुप्त --अभिनव भारती,गायकवाड़ ओरिएण्टल सिरीज़,बड़ौदा ।

राजशेखर --काव्यमीमांसा ।

कुन्तक --वक्रोक्तिजीवितम्,आचार्य विश्वेश्वर कृत हिन्दी अनुवाद, आत्माराम एण्ड संस, दिल्ली,१६५५ ।

भोजदेव --सरस्वती कण्ठाभरणम्,निर्णयासगर प्रेस,१६३४ ।

क्षेमेन्द्र --औचित्य विचार चर्चा, चौखम्बा संस्कृत सिरीज़,बनारस, १६३३ तथा भारत प्रकाशन मंदिर,अलीगढ़ ।

मम्मट --काव्य प्रकाश ।

वाग्भट --वाग्भटालंकार

जयदेव --चन्द्रालोक

विश्वनाथ --साहित्य दर्पण,नवलकिशोर प्रेस,लखनऊ,१६६१ वि० ।

पंडितराज जगन्नाथ-- रसगंगाधर, निर्णयसागर प्रेस,१६४७ ।

(ग) अंग्रेज़ी पुस्तकें

१- अर्बन -- फंडामेंटल्स ऑफ एथिक्स

वैल्युएशन इट्स नेचर एण्ड लौज,मैकमिलन,१९०९ई० ।

२- अरस्तू -- पोलटिक्स,एवरीमैन्स लाइब्रेरी,१९३४ई० ।

अनुवादक नगेन्द्र और महेन्द्र चतुर्वेदी,भारती भंडार,इलाहाबाद, १९५७ ।

रहैटोरिक, एवरीमैन्स लाइब्रेरी ।

३- आर्नल्ड मैथ्यू -- कल्चर एण्ड एनार्की,१९३५ ।

एसेज़ इन क्रिटिसिज्म,१९३८,मैकमिलन एंड कंपनी,लंदन

४- इलियट -- पोयट्री एण्ड ड्रामा,फेबर एण्ड फेबर,लंदन ।

सिलेक्टेड एसेज,फेबर एण्ड फेबर ,लंदन,१९५१ ।

५- क्रोचे -- एस्थेटिक,अनुवादक आइन्स्लो,लंदन १९०९

दि डिफेन्स ऑफ पोएट्री,१९३३ ।

६- चर्निशेव्स्की -- दर्शन,साहित्य और आलोचना,अनुवादक नरोत्तम नागर।

एस्थेटिक रिलेशन्स आफ आर्ट टू रियलिटी।

७- जॉनसन एच०एम० -- सोशियोलॉजी: ए सिस्टैमैटिक इण्ट्रोडक्शन,लंदन,१९६१

८- ड्राइडन --- एसे ऑन ड्रामैटिक पोएट्री।

डिफेन्स आफ दि एसे।

९- टॉलस्टाय --- ऑन आर्ट।

व्हॉट इज़ आर्ट,ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी,१९२४।

१०-नार्थ्रोप एफ०एस०सी०-- दी मीटिंग ऑफ ईस्ट एण्ड वेस्ट,मैकमिलन कम्पनी, न्यूयार्क,१९५०ई० ।

११- पैरि --- जनरल थियरी ऑफ वेल्यू,हार्वर्ड,१९५४ ।

१२- ब पोप एलेग्जेंडर -- एन एसे ऑन क्रिटिसिज्म।

१३- फ्रायड --- सिविलाइजेशन एण्ड इट्स डिस्कान्टेंट्स।

१४- फिन्डले जे०एन० -- वैल्यूज एण्ड इण्टेन्शन्स ,लेविस द्वारा सम्पादित,

१५- फ्रोन्डिज़ी -- व्हॉट इज़ वैल्यु,अनुवादक सालोमन लिप,ओपनकोर्ट,१९६३

१६- ब्राइटमैन ई०एम०-- ए फिलॉसफी आॅफ रिलीजन,स्कैफिन्गटन एण्ड संस लिमिटेड,लन्दन ।

१७- मार्क केस्टर -- एथिकल रिलेटिविटी,कीगनपाल,लंदन,१९३२ ।

१८- मैकाइवर -- सोशल काज़ेशन,गिन एण्ड कंपनी,बोस्टन,१९४२ ।

१९- मैकेन्जी जे०एस०-- नीति प्रवेशिका अनुवादक गोवर्द्धन भट्टादि,प्रथम संस्करण १९६४

२०- रिचर्ड्स आई०ए०-- प्रिन्सीपुल्स आॅफ लिटरेरी क्रिटिसिज्म,कीगनपाल, लंदन,१९३८ई०।

२१- लेयर्ड जॉन --- दि आइडिया आॅफ वैल्यू

२२- लैमिंग -- लाकून अनुवादक सर राबर्ट फिलिमोर,१९१० ।

२३- वर्ड्सवर्थ विलियम -- पोयट्री एण्ड पोएटिक डिक्शन। लिरिकल बैलेड्स ।

२४- शर्मा आई०सी० -- एथिकल फिलॉसफी आॅफ इण्डिया,संशोधित संस्करण १९६५ ।

२५- स्टेस डब्ल्यू०टी०-- रिलीजन एण्ड द माडर्न माइण्ड,मैकमिलन,लंदन,१९४३।

२६- सारमन्स एर्नेस्टजे० -- कण्टीन्युइटी एण्ड चेंज इन रशियन एण्ड सोवियत थॉट १९५५ई०।

२७- स्पिनोजा-- एथिक्स,एवरीमैन्स

२८- सिडनी सर फिलिप -- रेपॉलोजी फॉर पोयट्री

२९- हार्टमान निकोलाई -- एथिक्स,३जि०,१९३२ ।

३०- हुमायूँ कबीर --- आवर हेरिटेज,द नेशनल इन्फार्मेशन एण्ड पब्लिकेशन्स लि० बम्बई,१९४७ ।

३१- होरेस -- काव्य कला रूपान्तर कार रांगेय राघव,हिन्दी विभाग दिल्ली विश्वविद्यालय ।

कलेक्टेड वर्क्स आॅफ कार्ल मार्क्स ।